# चरक चिकित्सा

'सरोज' हिन्दी व्याख्या

वैद्य जयन्त यशवन्त देवपुजारी

॥ श्रीः ॥

चौखम्भा संस्कृत भवन ग्रन्थमाला
५२
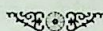
# चरक चिकित्सा

## 'सरोज' हिन्दी व्याख्या

**चरक संहिता मे वर्णित चिकित्सासूत्रों का विश्लेषणात्मक विवेचन**

लेखक :
**वैद्य जयन्त यशवन्त देवपुजारी**
आयुर्वेदाचार्य, विद्यावाचस्पति

**चौखम्भा संस्कृत भवन**
**वाराणसी**

प्रकाशक

© चौखम्भा संस्कृत भवन

पोस्ट बाक्स नं० ११६०
चौक, (बैंक ऑफ बड़ौदा बिल्डिंग)
वाराणसी - २२१ ००१ (भारत)
फोन : ०५४२-२४२०४१४

ISBN : 81-86937-72-2



संस्करण : प्रथम, वि.सं. २०६१
मूल्य : १५५.००

प्रधान कार्यालय :

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पोस्ट बाक्स नं. ११३९
के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन (गोलघर, समीप मैदागिन)
वाराणसी - २२१ ००१ (भारत)
फोन : ०५४२-२३३३४४५, फैक्स : ०५४२-२३३३४४५
E-mail : cssansthan@yahoo.com

सहयोगी प्रतिष्ठान :

चौखम्भा पब्लिकेशन्स

४२६२/३ अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली - ११०००२
फोन : ०११-२३२६८६३९, २३२५९०५०
फैक्स : ०११-२३२६८६३९
E-mail : chaukhambha@mantraonline.com

मुद्रक : चारू प्रिन्टर्स, वाराणसी • कम्पोजिंग : जौहरी प्रोसेस, वाराणसी

THE
CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN SERIES
52
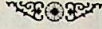
# CARAKA CHIKITSA

With 'SAROJ' Hindi Commentary

CRITICAL DISCUSSION ON
CHIKITSASUTRAS OF CARAKA SAMHITA

Author
**Vaidya Jayant Yeshwant Deopujari**
B.A.M.S., F.I.I.M., Ph. D. (Kayachikitsa)

**CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN**
**VARANASI**

# समर्पण

*मातोश्री श्रीमती सरोज यशवन्त देवपुजारी*
*मातृचरणों में समर्पित*

वैद्य जयन्त यशवन्त देवपुजारी

# भूमिका

**कल्याणाद्भुतगात्राय कामितार्थप्रदायिने ।**
**श्रीमद्वेंकटनाथाय श्रीनिवासायतेनमः ।।**

हमारी प्राचीन परंपरा के अनुसार ग्रंथ की शुरुवात मंगलाचरण से होती है । हमारे मनीषियों ने किसी भी लेखनकार्य के या ग्रंथ के चार अनुबन्ध माने हैं । एक विषय, दूसरा प्रयोजन, तीसरा संगति व चौथा अधिकारी ।

आर्ष ग्रंथों का अवगाहन हमेशा आनन्दमयी होता है । चरकसंहिता भी इसके लिए अपवाद नहीं है । आज उपलब्ध आयुर्वेद संहिताओं में चरक संहिता चिकित्सा विषय में सर्वश्रेष्ठ है । चिकित्सा के मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लेख इस संहिता में यत्र तत्र सर्वत्र मिलता है । आयुर्वेद चिकित्सा में पथप्रदर्शक यह सिद्धान्त चरकाचार्य ने सूत्र रूप में कहे हैं जिन्हें हम चिकित्सासूत्र के नाम से जानते हैं । इन चिकित्सासूत्रों का वर्गीकरण करके इसकी पुर्नरचना करने का प्रयास इस लघुकाय ग्रंथ में किया गया है । वैसे ही यह सूत्र रूप में होने के कारण इसका विशेषार्थ समझने के लिए जहां आवश्यक वहां उनका विस्तृत विवेचन भी किया है जो इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय और प्रयोजन भी है ।

आयुर्वेद को शाश्वत कहा गया है । आयुर्वेद का यह प्रवाह अनादिकाल से बहता आ रहा है । चरकाचार्य के इन सूत्रों को सुश्रुताचार्य, वाग्भटाचार्य, चरक संहिता के टिकाकारों ने न जाने कितन्नी बार परखा है और उसपर विचार किया है । इस संगति को कायम रखने के लिए जहां जहां आवश्यक हो वहां वहां उनके मतों का आधार विवेचन में लिया गया है ।

आयुर्वेद के विद्यार्थी, शिक्षक तथा चिकित्सक व संशोधक इस ग्रंथ को पढ़ने के अधिकारी है । हमारी संस्कृति में ज्ञान की मौखिक परंपरा का बड़ा ही महत्व है । हमारे वेद कंठस्थ होने के कारण आज भी अल्पांश में क्यों न हो, जीवित है । आयुर्वेद के ग्रंथ भी मुखोद्गत करने की हमारी परंपरा रही है । इस ग्रंथ का उद्देश्य यह भी है कि महत्वपूर्ण चिकित्सासूत्र संकलित रूप में उपलब्ध होने के कारण उन्हें कंठस्थ करने में सुलभता हो ।

इस ग्रंथ की कुछ मर्यादाएं भी है । जैसा कि ऊपर कहा है, आयुर्वेद का प्रवाह अनादिकाल से बहता आ रहा है । आयुर्वेद चिकित्सा में समय व आवश्यकतानुसार औषधी कल्पों में वृद्धि होती गई, लेकिन मूलभूत सिद्धान्त कायम रहे । इसलिये इस ग्रंथ में भी चरकसंहिता में जिन जिन सूत्रों में औषधियों के साथ चिकित्सा का वर्णन

है उस भाग को नहीं लिया गया है । इस कारण कुछ स्थान पर विवेचन अधूरा लगने की भी संभावना है । कुछ सूत्रों में औषधियों का वर्णन आया है लेकिन उसे टालना संभव नहीं था इसलिये आया है ।

इस ग्रंथ मे कुल छह सौ अठ्ठानबे सूत्रों का उन्निस अध्यायों में वर्गीकरण किया है । इसकी पुर्नरचना व विवेचन पाठकों के पसंद पर खरी उतरेगी ऐसी आशा है । यह ग्रंथ मेरे मातृचरणों में समर्पित है इसलिये इसे 'सरोज व्याख्या' कहा गया है ।

कोई कार्य अकेले से संपन्न नहीं होता । कई लोगों का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष सहयोग उसके लिए कारणीभूत होता है । ऐसे सभी महानुभावों का मैं हृदय से आभारी हूँ । हमारे प्रकाशक "चौखम्बा" का आयुर्वेद साहित्य के प्रकाशन में अतुलनीय योगदान है । इस ग्रंथ के प्रकाशन के लिए मैं उनका भी आभारी हूँ ।

**वैद्य जयंत यशवंत देवपुजारी**
पीएच. डी. (कायचिकित्सा)
१९९, शंकर नगर
नागपुर - ४४००१०

●

# अनुक्रम

पृष्ठ क्र.



•

ॐ

# प्रथमोऽध्यायः

# दोषोपक्रम

## १. वात के गुण और चिकित्सासूत्र–

**रुक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः ।**
**विपरीत गुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति ।।** च. सू. १/५९

रुक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद तथा खर यह वायु के गुण है । इन गुणों के विपरीत गुणवाले द्रव्यों से वायु का शमन होता है ।

यह वातदोष के शमन चिकित्सा का सामान्य चिकित्सासूत्र है । चरक के सूत्र स्थान में आगे वातोपक्रम विस्तार से वर्णित है जिसका और आगे विस्तार दोषोपक्रमणीय अध्याय में अष्टांग हृदय तथा अष्टांग संग्रह में मिलता है । लेकिन सुश्रुताचार्य ने दोषोपक्रम बड़े ही संक्षेप में कहे है ।

इस सूत्र में वायु के रुक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद तथा खर इन सात गुणों का ही उल्लेख है । लेकिन आगे सूत्र स्थान के ही बारहवे अध्याय में दारुण यह भी वायु का एक गुण बताया गया है । चक्रपाणी ने दारुण को चल या कठिन बताया है । वे कहते है, "दारुणत्वं चलत्वं चलत्वात् एवं दीर्घञ्जीवितीयोक्तं चलत्वमुक्तं भवति; यदि वा, दारुणत्वं शोषणत्वात् काठिन्यं करोति" । स्निग्धत्व या जलीयांश के शोषण के पश्चात रुक्षत्व निर्माण होता है । लेकिन इसके साथ साथ उसकी मृदुता नष्ट होकर उसमें काठिन्यता का निर्माण होता है । शायद 'शोषणत्वात् काठिन्य करत्वं' का मतलब यही होना चाहिये ।

वायु के गुण वर्णन में रुक्ष गुण का उल्लेख सर्वप्रथम आता है । यह वायु का सबसे महत्वपूर्ण गुण है । स्नेह के उपयोग से इसका प्रतिकार होता है । जैसे तैल के सभी गुण वायु के गुणों के विपरीत नहीं है । लेकिन अपने स्निग्ध गुण के कारण वात शमन में वह सर्वोत्तम माना गया है । तत्पश्चात वायु के शीत गुण का उल्लेख है । उष्ण गुण इसका विपरीत गुण है । शीत गुण से वायु का प्रकोप होता है और उष्ण गुणसे शमन यह सर्वविदित है । लेकिन इसके साथ साथ चरकाचार्य ने चिकित्सास्थान के तीसरे अध्याय में (ज्वराध्याय में) वात पित्तज और वातकफज ज्वर का वर्णन करते हुए वायु को योगवाही कहा है ।

**योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् ।**
**दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् ।।** च. चि. ३/३८

अर्थात्, वायु उत्तम योगवाही है, इसलिये संयोग से वह दोनोकार्य (शीत तथा उष्ण) करने वाला है । वह तेज से युक्त होकर दाह तथा सोम से युक्त होकर शीतत्व उत्पन्न करता है । चिकित्सा की दृष्टि से यह दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है । शायद इसी योगवाही गुण के कारण वैशेषिको ने इसे अनुष्णशीत माना है । अनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवनो मतः । (इति भाषा परिच्छेदः)

इस सूत्र में विपरीत गुणों से वात का शमन होता है ऐसा कहा है । लेकिन इस पर टीका लिखते समय चक्रपाणीदत्तजी ने, "गुणशब्देन चेह धर्मवाचिना रसवीर्य विपाकप्रभावाः सर्व एव गृह्यन्ते", अर्थात् जो द्रव्य रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव से वात के विपरीत होगा वह भी वातशामक हो सकता है, ऐसा कहा है । लेकिन चरकाचार्य ने रस और दोष तथा वीर्य और दोषों का संबंध स्वतंत्र रूप से वर्णन किया है । इसलिये यहां रस, वीर्य, विपाकादी का उल्लेख अप्रस्तुत लगता है । सुश्रुतने महाभूतों के गुणों का स्वतंत्र रूप से वर्णन करके 'भूतेजोवारिजैर्द्रव्यैः शमंयातिसमीरणः । अर्थात् पृथ्वी, अग्नि और जलीय द्रव्यों से वायु शान्त होती है ऐसा कहा है । सु.सू. ४२/११

## २. वातदोष की चिकित्सा–

**तं मधुराम्ललवणस्निग्धोष्णैरुपक्रमैरुपक्रमेत, स्नेहस्वेदास्थापनानुवासननस्तः कर्म भोजनाभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकादिभिर्वातहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य; तत्रास्थापनानुवासनं तु खलु सर्वत्रोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः; तद्धयादित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति; तत्रावजितेऽपि वाते शरीरान्तर्गता वातविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखाप्ररोह कुसुमफलपलाशदीनां नियतो विनाशस्तद्वद् ।** च. सू. २०/१३

मधुर, अम्ल, लवण रस तथा स्निग्ध एवं उष्ण गुणयुक्त द्रव्यों से वायु की चिकित्सा करें । इसके साथ साथ इन्हीं रसों व गुणों से युक्त स्नेह, स्वेद, आस्थापन बस्ति, अनुवासन बस्ति, नस्यकर्म, भोजन, अभ्यङ्ग, उत्सादन, परिषेक आदि उपक्रमो द्वारा योग्य मात्रा तथा काल का विचार कर चिकित्सा करें । इन सभी उपक्रमों में आस्थापन तथा अनुवासन बस्तिको वैद्यलोग वायु को जीतने के लिये सर्वोत्कृष्ट, या प्रधान मानते है । यह बस्ती पक्वाशय में प्रवेश कर, विकार उत्पन्न करने वाले वायु को नष्ट कर देती है । इसके फलस्वरूप जैसे वनस्पति का मूल काट देने पर उसकी शाखा, फल, फूल, पत्र इत्यादि नष्ट होते है वैसे ही शरीरस्थ वातविकार भी शान्त होते है ।

आगे विमानस्थान के छठे अध्याय में चरकाचार्य ने इस विषय का थोड़ा विस्तार करते हुए वातप्रधान पुरुषों की चिकित्सा में और भी उपक्रमो का वर्णन किया है जिसका यथास्थान वर्णन किया जाएगा ।

इस सूत्र में वातदोषोपक्रमों का विस्तार वर्णन किया है और इसके साथ साथ बस्ति का वात चिकित्सा में महत्व भी वर्णन किया गया है। स्नेहन, स्वेदन, आस्थापन, अनुवासन, नस्य, भोजन, अभ्यङ्ग, उत्सादन (उबटन लगाना) और परिषेक ऐसे नौ उपक्रमों का वर्णन किया है। आगे विमानस्थान के छठवे अध्याय में कुल सत्रह उपक्रमों का वर्णन है। सुश्रुताचार्य ने, "तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः क्रिया विशेषैः प्रकुर्वीत (सु.सू. ५/२२) इतना मात्र कहकर विषय को छोड़ दिया है। लेकिन अष्टाङ्ग संग्रह व अष्टाङ्गहृदयकार ने दोषपक्रमणीय अध्याय में इस विषय का विस्तार से वर्णन किया है। अरुणदत्तजी ने इस पर आगे टिप्पणी भी की है।

अष्टांग संग्रहकार ने स्नेहन, स्वेदन, स्निग्ध तथा उष्ण गुणयुक्त मधुर, अम्ल और लवण रस युक्त द्रव्यों के प्रयोग से वमन तथा विरेचन, इन्हीं गुण तथा रस युक्त आहार, अभ्यङ्गपूर्वक उपनाह स्वेद, उपवेष्टन, उन्मर्दन, परिषेचन, अवगाहन, संवाहन, पीडन, वित्रासन, विस्मापन, विध्मापन, विस्मारण, विविध प्रकार से स्नेहपान, आस्थापन, अनुवासन बस्तियों का विधिपूर्वक सेवन, विश्राम तथा मैथुन के अतिरिक्त हेमंत ऋतुचर्या सेवन इस प्रकार करीबन २१ प्रकार के उपक्रम वातशमन के लिये बतलाये है। अष्टांग हृदयकार ने भी स्नेहन, स्वेदन, मृदु संशोधन, मधुर, अम्ल लवण रसयुक्त उष्ण भोजन, अभ्यङ्ग, मर्दन, वेष्टन, त्रासन, सेक, पैष्टिक या गौडी मद्य, दोनों प्रकार की बस्ती और मेदस्वी मांस का मांसरस ऐसे करीबन १२ वातशामक उपक्रम बताये है। इन सभी उपक्रमों का आवश्यकतानुसार वातप्रकोप की विभिन्न अवस्थाओं में प्रयोग करना अपेक्षित है। लेकिन इसमें बस्ति उपक्रम प्रधान है यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिये। अग्र्यसंग्रह में भी चरकाचार्य ने बस्तिर्वातहराणाम् (श्रेष्ठः) ऐसा कहा है।

## ३. वायु के प्रकोप तथा प्रशमन की प्रक्रिया–

**वातप्रकोपणानि खलु रुक्ष, लघु, शीतदारुण खर विषदसुषिरकराणि शरीराणां, तथाविधेषु शरीरेषु वायुराश्रयं गत्वाऽऽप्यायमानः प्रकोपमापद्यते; वातप्रशमनानि पुनः स्निग्धगुरुष्णश्लक्ष्णमृदुपिच्छिलधनकराणि शरीराणां तथाविधेषु शरीरेषु वायुरसज्यमानश्चरन् प्रशान्तिमापद्यते।** च. सू. १२/७

वातप्रकोपक द्रव्यों के सेवन से शरीर में रुक्षता, लघुता, शीतलता, दारुण याने कठोरपन, खुरदरापन, विशदता तथा सुषिरता उत्पन्न होती है। इस गुणसमुदाय

से युक्त शरीर में (स्वाभाविक रूप से) वायु अपना आश्रय बनाकर प्रकुपित होता है। इसी प्रकार वातशामक द्रव्यों के सेवन से (तथा वातशामक कर्मों से) शरीर में स्निग्धता, गुरुता, उष्णता, श्लक्ष्णता, मृदुता, पिच्छिलता तथा स्थूलता उत्पन्न होती है। इन गुणों से युक्त शरीर में वायु रुक नहीं सकती और चलायमान होकर वह शान्त हो जाती है।

वातशामक द्रव्य कैसे कार्य करते है तथा वायु के प्रकोप तथा प्रशमन की क्रीया किस प्रकार होती है इसका संक्षिप्त लेकिन सटीक वर्णन इस सूत्र में किया गया है। प्रथम सूत्र में (च. सू. १/५९) वायु के रुक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विषद तथा खर इन सात गुणों का वर्णन है लेकिन इस सूत्र में सूक्ष्म और चल इन दो गुणों के जगह दारुण और सुषीर इन दो गुणों का उल्लेख है। चिकित्सा की दृष्टि से हमे सभी आठ गुणों का विचार करना चाहिये। इसी सूत्र के प्रारम्भ में धामार्गव बडिश ने वायु को असंघातवान् और अनवस्थित कहा है। इसी को योगेन्द्रनाथजी ने सूक्ष्मत्व और चलत्व कहा है। वे कहते है, **''असंघातमनवस्थितमितिप्रश्नवाचने असंघातमित्येन सूक्ष्मत्वस्य अनवस्थितमित्येनेन च चलत्वस्य प्राग्रेव संग्रहात् तयोरिह अनभिधानम्''**। लेकिन सूक्ष्म गुण की व्याख्या 'यस्य विवरणे शक्ति:' ऐसी की है। और जो द्रव्य सूक्ष्मस्रोतागामी होने की क्षमता रखता है वह सूक्ष्म गुण से युक्त है ऐसा माना जाता है। इसलिये 'असंघात' से इससे भिन्न माना जाना चाहिये। वैसे भी योगिन्द्रनाथ जी ने 'असंघातं अवयवसंघात रहितं। अमूर्तमित्यर्थ:' ऐसा कहा है।

इस सूत्र में दूसरा महत्वपूर्ण शब्द 'आश्रय' है। आश्रय को चक्रपाणिदत्त शरीर का समानगुणधर्मी भाग या स्थान या अवयव मानते है। आश्रयमिति समानगुणस्थानम्। इसका आगे स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं, ''एतेनैतदुक्तं भवति यद्यपि वायूना वातकारणानां वातशमनानां वा तथा संबन्धो नास्ति, तथापि शरीर सम्बद्धैस्तैर्वातस्य शरीरचारिण: संबन्धो भवति, ततश्च वातस्य समान गुण योगाद् वृद्धिर्विपरीत गुणयोगाच्च ह्रास उपपन्न एवेति।'' अर्थात्, वातकारक तथा वातशामक पदार्थों का वायु से प्रत्यक्ष संबंध नहीं आता। यह संबंध शरीरावयवों के माध्यम से आता है। इसलिये शरीरावयव वायु के समान गुणों से युक्त हो तो वातवृद्धि और विरुद्धगुणयुक्त हो तो वायु का ह्रास या शमन होता है।

गंगाधरजी ने आश्रय को अवकाश कहा है। उनका ऐसा मानना है कि वायु के चल स्वभाव के कारण जहां उसे अवकाश मिलता है वहां उसका प्रकोप होता है। अवकाश न मिलने पर वह स्थिर होकर शान्त हो जाता है। लेकिन इस मत से

भी चक्रपाणिदत्त का मत ज्यादा तर्कसंगत लगता है। क्योंकि विरुद्ध गुण के संयोग से वात का शमन होगा इस विधान की पुष्टि भी चक्रपाणिदत्त के तर्क से होती है। विरुद्ध गुणों के कारण अवकाश कैसे कम होगा ? इस प्रश्न का उत्तर गंगाधरजी कीं टीका में नहीं है। योगीन्द्रनाथजी का मत भी गंगाधर जैसा ही है।

## ४. वातप्रधान पुरुष के रोग और चिकित्सा–

**तत्र वातलस्य वातप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ; स तस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय। तस्यावजयनं-स्नेहस्वेदौ विधियुक्तौ, मृदूनि च संशोधनानि स्नेहोष्णमधुराम्लयुक्तानि, तद्वदभ्यवहार्याणि, अभ्यङ्गोपनाहनोद्वेष्टनोन्मर्दनपरिषेकावगाहनसंवाहना-वपीडन वित्रासनविस्मापनविस्मारणानि, सुरासवविधानं, स्नेहाश्चाने-कयोनयो दीपनीय पाचनीय वातहरविरोचनीयोपहितास्तथा शतपाकाः सहस्रपाकाः सर्वशश्चप्रयोगार्थाः, वस्तयः, वस्तिनियमः सुखशीलता चेति।** च. वि. ६/१६

जब वातप्रकृति पुरुष वातप्रकोपक कारणों का सेवन करता है तब वायु शीघ्र ही कुपित हो जाता है। जितनी शीघ्रता से वात कुपित होता है उतनी शीघ्रता से अन्य दोष कुपित नहीं होते। यह कुपित वायु, वातजन्य विभिन्न रोगों से शरीर में ताप (दुःख) उत्पन्न करता है और उस व्यक्ति के बल, वर्ण, सुख और आयु का नाश करता है। उस वात को जीतने के लिये (निम्न उपाय है) (१) विधियुक्त स्नेहन-स्वेदन (२) स्निग्ध, उष्ण गुणयुक्त तथा मधुर अम्ल लवण रसयुक्त द्रव्यों से मृदु संशोधन (३) इन्हीं गुणों से युक्त आहार (४) इन्हीं गुणयुक्त द्रव्यों से सिद्ध तैल से अभ्यङ्ग (५) उपनाह (६) उद्वेष्टन (७) उन्मर्दन (८) परिषेक (९) अवगाह (१०) संवाहन (११) अवपीडन (१२) वित्रासन (१३) विस्मापन (१४) विस्मारण (१५) सुरासव सेवन (१६) अनेक प्रकार के स्नेहो को दीपन, पाचन, वातशामक और विरेचक द्रव्यों से शतपाकी या सहस्रपाकी सिद्ध कर उसका प्रयोग करना और (१७) बस्ति प्रयोग करना चाहिये। बस्ति देते समय नियमों का पालन और रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिये।

सूत्रस्थान २०/१३ में कुल नौ उपक्रमों का वर्णन है। वहां आस्थापन और अनुवासन बस्ति को अलग गिनाया है और नस्य का भी उल्लेख है जो यहां नहीं है। अष्टांग संग्रहकार ने विध्मापन (धमकाना) यह भी एक उपक्रम बताया है जिसका उल्लेख यहां नहीं है। अष्टांग संग्रहकार तथा चरकाचार्य ने सुरा एवं आसव का

विधान बतलाया है लेकिन अष्टांग हृदयकार ने विशेष रूप से गौडी तथा पैष्टिक मदिरा बतायी है।

## ५. पित्त के गुण और चिकित्सासूत्र–

**सस्नेहमुष्णंतीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।**
**विपरीत गुणैः पित्तं द्रव्यैराशुप्रशाम्यति।।** च. सू. १/६०

पित्त (ईषत्) स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव और सर गुण से युक्त तथा अम्ल और कटुरसात्मक होता है। इनके विपरीत गुण वाले द्रव्यों के प्रयोग से पित्त का शीघ्र ही शमन होता है।

यहां गुणों के साथ साथ रसों का भी उल्लेख है। जैसे विरुद्ध गुण से दोषों का शमन होता है वैसे ही विशिष्ट रसों से विशिष्ट दोषों का शमन होता है। पूर्ण स्निग्ध, शीत, मृदु, सान्द्र एवं स्थिर गुण क्रमशः पित्त के ईषत् स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव और सर गुण के विरुद्ध है और मधुर, तिक्त तथा कषाय रस को पित्तशामक माना गया है। आगे सूत्रस्थान के बीसवे अध्याय में पित्त के आत्मरूप का वर्णन करते समय पित्त के स्वरूप को और भी स्पष्ट किया है। औष्ण्यं, तैक्ष्ण्यं द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुण वर्णो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ सरत्वं च पित्तस्यात्मरुपाणि, अर्थात् उष्णता, तीक्ष्णता, द्रवत्व, ईषत्स्निग्धता, सफेद और अरुण वर्ण को छोड़कर अन्य वर्ण वाला, विस्रगंधी, कटु और अम्ल रस वाला तथा सर गुणयुक्त ऐसा पित्त का स्वरूप है। यहां गुण और रस के साथ साथ गंध तथा वर्ण का भी उल्लेख आया है जो निदान और चिकित्सा मे ज्यादा उपयोगी प्रतीत होता है। यह मुख्यतः शमन चिकित्सा का सूत्र प्रतीत होता है। क्योंकि पित्त के सर गुण के विपरीत स्थिर गुण होता है जो सामान्यतः संशोधन चिकित्सा में उपयोगी नहीं है। संशोधन चिकित्सा में दोषों का निर्हरण अपेक्षित होता है जो सर गुण के कारण ही संभव है।

सुश्रुताचार्य ने पित्त को तीक्ष्ण, द्रव तथा उष्ण गुणयुक्त, पूतिगंधी, नील तथा पीत वर्ण और कटु रसात्मक माना है। विदग्धावस्था में ही पित्त अम्लरस को प्राप्त होता है ऐसा वे मानते है।

**पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च।**
**उष्णं कटुरसश्चैव विदग्धं चाम्लमेव च।।** सु. सू. २१/११

आगे सूत्रस्थान के ४२वे अध्याय में महाभूतों के गुणों का वर्णन कर, भूम्यम्बुवायुजैः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम्। अर्थात् पृथ्वी, जल और वायु महाभूत प्रधान द्रव्यों से पित्त शीघ्र ही शान्त होता है ऐसा कहा है।

चक्रपाणिदत्त के अनुसार सुश्रुत द्वारा पित्त को सिर्फ अग्निमहाभूतप्रधान मानने से यह अंतर आया है। पित्त को जल तथा अग्निमहाभूतोत्पन्न मानने पर उसका ईषत् स्निग्धत्व तथा अम्लत्व स्पष्ट होता है। एतञ्च स्निग्धत्वमम्लत्वं च जलानलारब्धत्वात् पित्तस्योपपन्नमेव, सुश्रुते तु तेजोरुपपित्ताभिप्रायेणैवतन्निरस्तं भवति। चक्रपाणि

योगीन्द्रनाथजी ने पित्त के वर्ण पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि नीलवर्ण पित्त की सामावस्था में तथा पीतवर्ण निरामावस्थामें होता है। नीलं सामावस्थायां। पीतं निरामावस्थायाम्। अष्टांगहृदयकारने,

**शीतेनयुक्तास्तीक्ष्णाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वते।**
**उष्णेन कोपं मन्दाद्याः शमं शीतोप संहिताः।**

ऐसा कहा है। अर्थात् तीक्ष्णादि पित्त के गुणों का शीत गुण के साथ संयोग होने पर पित्त का संचय और उष्णगुण के साथ संयोग होने पर प्रकोप होता है। मंदादि गुण शीतयुक्त होने पर पित्त का शमन होता है।

## ६. पित्तदोष की चिकित्सा–

**(तं) मधुरतिक्तकषायशीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्नेहविरेकप्रदेहपरिषेकाभ्यङ्गादिभिःहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य; विरेचनं तु सर्वोप्रक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति, तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाऽग्नौ व्यषोढे केवलमग्निगृहं शीतीभवति तद्वत्।** च.सू.२०/१६

मधुरतिक्तकषाय रसयुक्त, शीतवीर्यवाले स्नेह, विरेचन, प्रदेह, परिषेक, अभ्यङ्ग, अवगाह आदि पित्तनाशक उपयों द्वारा मात्रा और काल का विचार कर पित्तजन्य विकारों की चिकित्सा करनी चाहिये। विरेचन द्वारा चिकित्सा सभी पित्तनाशक उपक्रमों में उत्तम या प्रधान चिकित्सा है ऐसा वैद्यलोग मानते हैं। यह विरेचन सर्वप्रथम आमाशय में जाकर वैकारिक पित्त का नाश कर देता है। वहां (आमाशय में) वैकारिक पित्त को जीतने पर शरीर के विभिन्न अंगों में होने वाले पित्तजन्य रोग स्वयं शान्त होते है। जिस प्रकार अग्नि से तप्त गृह में अग्नि को बुझा देने पर वह संपूर्ण गृह स्वयं शीतल हो जाता है, ठीक उसी प्रकार यह पित्तशमन का कार्य होता है।

इस सूत्र में स्नेह, विरेचन, प्रदेह, परिषेक, अभ्यङ्ग और अवगाह इन छह उपक्रमों का उल्लेख है। इसमें प्रयुक्त द्रव्य मधुर तिक्त कषाय रसात्मक और शीतवीर्य होने चाहिये। यहां स्नेह से मुख्यतः घृत का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि चतुर्विध स्नेहोमे घृत श्रेष्ठपित्तशामक है। इन सभी उपक्रमों में विरेचन को प्रधान माना गया

है जो अनुभूत भी है। लेकिन पित्तप्रकोप की विविध अवस्थाओं में अन्य कर्मों का भी यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये। आगे विमानस्थान में अन्य कई उपक्रमों का वर्णन आया है जिसका यथास्थान वर्णन किया जायेगा। इन्हीं उपक्रमों को अष्टांग हृदय और संग्रहकार ने दोषोपक्रमणीय अध्याय में दोहराया है। पित्त शामक उपक्रमों में औषधी युक्त उपक्रमों से पित्तशामक विहार का विस्तार से वर्णन किया है। लेकिन स्नेह के प्रयोग में सामान्य रूप से स्नेह न लिखकर घृतपान विशेष रूप से लिखा है। इसके साथ साथ सभी सौम्य भाव वाले पदार्थ, दूध, घी और विरेचन यह पित्त के विशेष उपचार बताये है।

अष्टांग संग्रह में पित्तशामक उपक्रमों की सूची काफी लंबी है। इच्छुक उसे मूल से पढ़ सकते है। संक्षेप में घृत एवं मक्खन का प्रयोग, मधुर एवं शीतवीर्य द्रव्यों से विरेचन, मधुर, तिक्त कषाय रस प्रधान भोजन एवं औषधी सेवन, मनोहर गंधों का सेवन, विभिन्न पित्तशामक रत्नोपरत्नो के मालाओं का धारण, शीतल लेप, चांदनी रात, शीतल घर एवं वायु तथा मनोहर संगीत का सेवन, शिशुओं, नारियों एवं मित्रों के साथ वार्तालाप से मन बहलाना, नदियों एवं अन्य जलाशयों के तट पर निवास एवं भ्रमण, हिमालय जैसी स्थानों की सैर एवं दर्शन, दूध जैसे शीतल पदार्थों का सेवन आदि सौम्य भाव पित्तशामक होते है।

## ७. पित्तप्रकृतिवाले पुरुष की चिकित्सा–

**तस्यावजयनं-सर्पिष्पानं, सर्पिषा च स्नेहनम्, अधश्च दोषहरणं, मधुरतिक्तकषायशीतानां चौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगः, मृदुमधुरसुरभिशीतहृद्यानां गन्धानं चोपसेवा, मुक्तामणिहारावलीनां च परमशिशिरवारिसंस्थितानां धारण-मुरसा, क्षणे क्षणेऽग्र्यचन्दनप्रियङ्गुकालीयमृणालशीत वातवारिभिरुत्पल-कुमुदकोकनदसौगन्धिकपद्मानुगतैश्च वारिभिरभिप्रोक्षणं; श्रुतिसुखमृदु मधुर मनोऽनुगानां च गीतवादित्राणां श्रवणं, श्रवणं चाभ्युदयानां, सुहृद्भिः संयोगः, संयोगश्चेष्टाभिः स्त्रीभिः शीतोपहितांशुकस्त्रग्धारिणीभिः, निशाकरांशुशीतल-प्रवातहर्म्यवासः, शैलान्तरपुलिन शिशिरसदनवसनव्यजनपवनसेवनं, रम्याणां चोपवनानां सुखशिशिरसुरभिमारुतोपहितानामुपसेचनं, सेवनं च पद्मोत्पल-नलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रहस्तानां, सौम्यानां च सर्वभावानामिति।**
च. वि. ६/१७

उसको (उस कुपित पित्त को) जीतने के उपाय। घृतपान, घृत से स्नेहन, अधोभाग से (विरेचन द्वारा) दोषों को निकालना, मधुर तिक्त कषाय रस युक्त एवं शीतल औषधी एवं खाद्य पदार्थों को उपयोग में लाना, मृदु, मधुर, सुगन्धित, शीतल

और हृदय के लिये आनंददायक गंधो का सेवन करना, अत्यन्त शीतल जल में रखे मुक्ता, मणि इत्यादि के हारों को उर:प्रदेश पर धारण करना, क्षण क्षण में चन्दन, प्रियङ्गु, कालीयक (पीतचंदन), मृणाल, शीत वायु और जल से उत्पन्न उत्पल, कुमुद, कोकनद (रक्तकमल), सौगन्धिक (सुगन्धी कमल), पद्म (छोट कमल) को सुवासित कर उसी जल को शरीर पर छिड़कना, कान को सुख देनेवाले मृदु मधुर मन के अनुकूल गायन वादन को सुनना, उन्नति करनेवाले वचनों को सुनना, मित्रों से मिलना, शीतल द्रव्यों से युक्त वस्त्र और माला धारण करनेवाली प्रिय स्त्री का संयोग, ऐसे खुले घरों में वास जहां चंद्रमा के किरणों से शीतल पूर्व दिशा से बहनेवाली हवा निराबाध लगती हो, पर्वत की गुफा, पुलिन, शीतल घर, शीतल वस्त्र तथा शीतल पंखे से उत्पन्न वायु का सेवन, सुखदायक, शीतल एवं सुगन्धित वायु से युक्त सुन्दर बगीचे का भ्रमण तथा नीलकमल, कमल, नलिन, सुगन्धित कमल, श्वेतकमल एवं गुलाब के फूलों के गुलदस्तों की महक और सभी प्रकार के सौम्य भावों का सेवन पित्तविकारों को शान्त करता है।

इस सूत्र में पित्तोपक्रमों को बड़े ही विस्तार से कहा गया है। यह मुख्यत: विहार से संबंधित उपक्रम है। आज भी कई वैद्य पाद दाह में जिन पर ओस पड़ी हो ऐसे दूर्वांकुरो पर चलने की सलाह देते है और रुग्ण को भी उससे उचित लाभ दिखाई देता है। 'श्रवणं चाभ्युदयानां' अर्थात् उन्नति करनेवाले वचनों को सुनना यह उपक्रम आज के परिप्रेक्ष्य में बहुत महत्वपूर्ण है। उन्नतिकारक वचनों को सुनने से सकारात्मक विचार मन में उत्पन्न होते हैं। नकारात्मक विचार से या चिंता से पित्तवृद्धि कई रुग्णों में देखी जाती है। ऐसी अवस्था में औषध योजना के साथ साथ इन मानस भावों की भी उचित चिकित्सा अपेक्षित है।

## ८. कफ के गुण और चिकित्सासूत्र–

**गुरुशीतमृदुस्निग्ध मधुर स्थिर पिच्छिला: ।**
**श्लेष्मण: प्रशमं यान्ति विपरीत गुणैर्गुणा: ।।** च. सू. १/६१

गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, स्थिर तथा पिच्छिल यह कफ के गुण है। उसका रस मधुर है। इन गुणों के विपरीत गुण वाले द्रव्यों से कफ के गुणों का शमन होता है।

चरक सूत्रस्थान अध्याय २० में कफ के आत्मरूप इस प्रकार बतलाए है, स्नेह, शैत्य, शौक्ल्य गौरव माधुर्य स्थैर्य पैच्छिल्यमात्स्नर्यानि श्लेष्मण आत्मरुपाणि, अर्थात् स्निग्धता, शीतता, श्वेतवर्ण, गुरुता, मधुर रस, स्थिरता, पिच्छिलता, मसृणता यह श्लेष्मा का अपना स्वरूप है।

सुश्रुताचार्य ने भी;

**श्लेष्माश्वेतो गुरुस्निग्धः पिच्छिलः शीतएव च**
**मधुरस्त्वविदग्धः स्याद्विदग्धो लवणः स्मृतः** ।। सु. सू. २१

ऐसा कहा है । यहां पर अविदग्ध कफ मधुर तथा विदग्ध कफ लवणरसात्मक रहता है ऐसा कहा गया है । आगे सूत्रस्थान ८२ वे अध्याय में आकाश, तेज और वायु महाभूतप्रधान द्रव्यों से कफ शान्त होता है ऐसा कहा गया है ।

विपरीत गुणों से अर्थात् लघु, उष्ण, कठिन, रुक्ष, चल, विषद तथा कटु रस वाले द्रव्यों से प्रकुपित कफ के गुण शान्त होते है । अन्य दो दोषों के तत्सम्बंधित श्लोकों में चरकाचार्य ने वात और पित्त का प्रशमन होता है ऐसा लिखा है । देखिये च. सू. १/५९-६० । इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी कहते है, गुणप्रशमने च गुणिप्रशमो गुणवृद्धया च गुणिवृद्धिभर्वतीति सूचनार्थम् । अर्थात् गुण प्रशमन से गुणी का भी प्रशमन होता है और गुण की वृद्धि होने पर गुणी की भी वृद्धि होती है । गंगाधर और योगीन्द्रनाथ भी इसी का समर्थन करते हैं । लेकिन थोड़ा आगे जाकर गंगाधरजी गुणी को गुण का समुदाय ही मानते है । मिलितयथास्वगुणसमुदायो हि, द्रव्यमुच्यते नातिरिक्तम् । लेकिन यह उचित प्रतीत नहीं होता । आश्रय और आश्रयी भिन्न होते है । कफ को मधुर रसात्मक माना है । लेकिन गंगाधर ने, 'श्लेष्मणो यन् माधुर्यमुक्तं तन् मधुरप्रधानलवणत्वं....अर्थात् । कफ को मधुररसप्रधान और लवण अनुरस माना है । यह मत सुश्रुत मत से भिन्न है । अष्टांग संग्रहकार ने महर्षी कपिल का संदर्भ देते हुए कफ को मधुर, अम्ल, लवण युक्त माना है । असं. सू. २०/२२ । यह देखा जा सकता है या प्रमाणित किया जा सकता है ऐसा भी उन्होंने कहा है ।

## ९. कफ दोष की चिकित्सा–

**तं कटुतिक्तकषायतीक्ष्णोष्णरुक्षैरुपक्रमैरुपक्रमेत, स्वेदवमनशिरोविरेचनव्यायामादिभिः श्लेष्महरैर्मात्राकालं च प्रमाणीकृत्य, वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादितं एवामाशयमनुप्रविश्योरोगतं केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमूर्ध्वमूर्ध्वमुत्क्षिपति, तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्द्यमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति** । च. सू. २०/१९ ।

कटुतिक्तकषाय रसयुक्त तथा तीक्ष्ण, उष्ण, रुक्ष गुणयुक्त द्रव्यों से कफ की चिकित्सा करें । इसके साथसाथ इन्हीं गुणों से युक्त स्वेदन, वमन, शिरोविरेचन इत्यादि कर्मो से तथा व्यायामादि कर्मों से मात्रा और काल का विचार कर श्लेष्मा का निंहरण करे अर्थात चिकित्सा करे । इन सभी उपक्रमों में वैद्य लोग वमन को श्लेष्मनिंहरण में सर्वोत्कृष्ट या प्रधान उपक्रम मानते हैं । वह वमन (वामक द्रव्य)

आमाशय में प्रवेश कर उरोगत होकर केवल विकार उत्पन्न करनेवाले कफ को उपर की दिशा में फेंकते है (वमन द्वारा बाहर निकालते है)। यहां कफ के मूल स्थान में कफ को जीतने पर शरीर के विभिन्न भागों में होने वाले श्लेष्मजविकार स्वयं शान्त होते है। जिस प्रकार खेत में पानी देनेवाली नाली का बांध टूट जाने पर जल के अभाव में धान, जौ, साठी आदि अनाज सुख जाते है ठीक उसी प्रकार विकृत कफ के निकल जाने पर अन्य स्थान पर रोगनिर्मिती करने वाला कफ भी स्वयं शान्त हो जाता है।

इस सूत्र में स्वेदन, वमन, शिरो विरेचन तथा व्यायाम ऐसे चार कफनि:स्सारक उपक्रमों का वर्णन तथा उसमें वमन कर्म की प्रधानता वर्णन आया है। आगे विमान स्थान में कुल १८ उपक्रमों का वर्णन आया है। उसे यथास्थल देखें। इस सूत्र में आदि शब्द से इन सभी उपक्रमों का ग्रहण करना चाहिये ऐसा योगेन्द्रनाथजी का मत है और वह उचित भी है। आदिना धावनलङ्घनादीनां ग्रहणं।

चरकाचार्य ने उर:स्थान को कफ स्थान माना है। लेकिन इस सूत्र में उसके साथसाथ आमाशय का कफस्थान के रूप में उल्लेख अपने आप में महत्वपूर्ण है। चक्रपाणिदत्त ने उर: तथा आमाशय को समान महत्व दिया है। वे कहते हैं, "अत्रामाशयमनुप्रविश्येति वचनेन श्लेष्मस्थानेष्वामाशयस्य प्राधान्यं, पूर्वं तु तत्रापि उरो विशेषेण इति वचनेनोर: प्रधानम्, एवं उभयमपि तुल्यं ज्ञेयं। गंगाधर ने आमाशय को सबसे नीचे का कफ स्थान माना है और वहां से ऊपर की ओर कफ का निष्कासन सभी स्थानों से कफ का निर्हरण करता है ऐसा उनका मत है। श्लेष्मण: सर्वेषु स्थानेष्वाशयरुपेष्वध आशयस्त्वामाशय एव। तत: प्रभृति उर्ध्वहरणेन सर्वाशयश्लेष्महरणं भवतीति। योगीन्द्रनाथ आमाशय के उर्ध्व भाग को उरस् कहते है। इसलिये 'आमाशयमनुप्रविश्यउरोगतम्...' इससे विरोध नहीं होता। वे कहते है, श्लेष्मणि तत्र आमाशयस्य उर्ध्वभागे उरोलक्षणे श्लेष्मण: विशेषस्थाने अवधिते सति शरीरान्तर्गता: सर्वेऽपि श्लेष्मविकारा: सुतरां प्रशान्तिमापद्यन्ते।

इस प्रकार के सभी सूत्रों में 'मात्रा कालं च प्रमाणीकृत्य' अर्थात् मात्रा एवं काल का विचार कर इन उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिये ऐसा कहा गया है। यहां मात्रा और काल के साथ साथ देश, प्रकृति, आहार, सत्व, वय इन सभी भावों का विचार कर उचित उपक्रमों से चिकित्सा करनी चाहिये।

## १०. कफ प्रकृति के रोगी की चिकित्सा–

**तस्यावजयनं-विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि संशोधनानि, रुक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्याणि कटुकतिक्तकषायोपहितानि, तथैव धावनलङ्घनप्लवन-**

**परिसरणजागरणनियुद्ध व्यवाय, व्यायामोन्मर्दनस्नानोत्सादनानि, विशेषवस्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां च मद्यानामुपयोगः सधूमपानः सर्वशश्चोपवासः, सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति ।** च. वि. ६/१८

उसको (उस कुपित कफ को) जीतने के उपाय–तीक्ष्ण और उष्ण गुण से विधिपूर्वक संशोधन, प्राय: रुक्ष तथा कटुतिक्तकषाय रसयुक्त भोजन, दौड़ना, लङ्घन, तैरना, घूमना फिरना, जागना, कुश्ती लड़ना (नियुद्ध), मैथुन, व्यायाम, अंगमर्दन, स्नान, उबटन लगाना विशेष तीक्ष्ण तथा पुरानी मदिरा का सेवन, धूम्रपान, भोजन का त्याग या पूर्ण उपवास गरम वस्त्रों को ओढ़ना तथा सुखप्राप्ति के लिये आरामदायक कार्यों का त्याग करना।

इस सूत्र में कफ के उपक्रम बड़े ही विस्तार से वर्णित है। यहां लङ्घन और पूर्ण उपवास ऐसे दो उपक्रम बताये है। लङ्घन का अर्थ लघुभोजन है, लङ्घनात् लघुभोजनम्, जैसी आवश्यकता हो उस प्रकार लघुभोजन या पूर्ण उपवास का प्रयोग करें। धावन, प्लवन (तैरना), नियुद्ध (नि:शस्त्र युद्ध), व्यायाम और परिसरण (घूमना फिरना) यह सभी व्यायाम के ही प्रकार है। रुग्ण के बल, काल, वय इत्यादि का विचार कर उचित व्यायाम प्रकार को विधिपूर्वक करना चाहिये। विशेष तीक्ष्ण तथा पुरानी मदिरा के सेवन में मात्रा अत्यंत महत्वपूर्ण है यह हमेशा ध्यान में रहे।

चक्रपाणि के मतानुसार भोजन के गुण वर्णन में 'रुक्षप्रायाणि' शब्द महत्वपूर्ण है। वे कहते है, श्लेष्मविजयार्थं रुक्षस्यैव हितत्वेन रुक्षाणीति वक्तव्ये यद् रुक्षप्रायाणीति करोति, तेनात्यर्थ रुक्षान्नस्य वातानुगुणत्वेन तथा धात्वपोषकत्वेन चा सेव्यत्वं दर्शयति। अर्थात् श्लेष्मा पर विजय पाने के लिए रुक्ष गुण हितकारी है। लेकिन यहां 'रुक्षाणि' न लिखते हुए 'रुक्षप्रायाणि' शब्द का उपयोग किया है। अतिरुक्ष अन्नपान से वातवृद्धि तथा धातुषोषण होता है इसलिये रुक्षप्रायाणि शब्द का प्रयोग किया गया है।

## ११. दोष तथा स्वेदन–

**वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते ।**
**स्निग्धरुक्षस्तथास्निग्धो रुक्षश्चाप्युपकल्पितः ।।** च. सू. १४/८

वातकफज रोगों में, वातरोगों में व कफ रोगों में स्निग्ध रुक्ष, स्निग्ध तथा रुक्ष स्वेद अनुक्रम से देना चाहिये।

अर्थात् वातकफज व्याधियों मे स्निग्ध रुक्ष, वातव्याधियों में स्निग्ध तथा कफज व्याधियों में रुक्ष स्वेद का प्रयोग करना चाहिये। स्वेदन अपने आप में उष्णगुणयुक्त होने से अपने आप में वातकफशामक है। चरकाचार्य ने कुल १३

प्रकार के स्वेद बताए है। उनके स्निग्ध रुक्षत्व को ध्यान में रखकर यथावश्यक प्रयोग करें। स्वेदन का प्रयोग स्वतंत्र रूप से तथा पूर्व कर्म के रूप में भी होता है। इन दोनों अवस्थाओं में स्निग्ध रुक्षत्व को ध्यान में रखना चाहिये। यहां स्निग्ध रुक्षता से स्निग्ध या रुक्ष गुणयुक्त द्रव्य समझना चाहिये ऐसा योगीन्द्रनाथजी का मत है। अष्टांग हृदयकार ने भी कफार्तो रुक्षणं रुक्षो रुक्षस्निग्धं कफानिले अर्थात् कफज व्याधि में रुक्ष स्वेद तथा कफवातज विकारों में रुक्ष स्निग्घ स्वेद देना चाहिये ऐसा कहा है।

अष्टांग हृदयकार ने मेद:कफावृत्त वायु की अवस्था में निरग्नि स्वेद लेने को कहा है। स्वेदो हितस्त्वनाग्नेयो वाते मेद:कफावृते। अ. हृ. सू. १८/२७ निरग्नि स्वेद के लिये जहां वायु का चलन वलन नहीं है ऐसे घर में वास, व्यायाम, गरम वस्त्र ओढ़ना, भय, क्रोध, युद्ध करना, उपनाह स्वेद, धूप में बैठना, क्षुधानिग्रह और बहुमद्यपान ऐसे उपाय बताए गए है। यहां बिना रुक्षता लाए स्वेदन की अपेक्षा है, जिससे कफका शमन हो लेकिन वायु वृद्ध न हो यह अपेक्षित है।

## १२. दोष तथा स्वेदन–

**आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते।**
**रुक्षःपूर्वोहितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च।।** च. सू. १४/९

आमाशय में वायु यदि कुपित हो गया तो प्रथम रुक्ष द्रव्यों से तथा तत्पश्चात स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन कराना चाहिये। यदि पक्वाशय में कफ कुपित हो तो पहले स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन कराने के पश्चात रुक्ष पदार्थों से स्वेदन करें।

संक्षेप में, इस सूत्र में स्थानिक दोष की चिकित्सा पहले और आगन्तुज दोष की चिकित्सा बाद में करने को कहा है। आमाशय कफ का स्थान है और पक्वाशय वायु का। यदि आमाशय में वायु प्रकुपित होता है तो न सिर्फ वायु की बल्कि उसके पहले कफ की चिकित्सा करनी चाहिये। स्थानिक दोष को जीते बगैर सिर्फ आगंतुज दोष की चिकित्सा करने से संप्राप्ति भंग नहीं होगी। भले ही कुछ लक्षणों में तत्कालिक उपशय दिखेगा लेकिन रोग शान्त नहीं हो सकता।

इसी मत को, अष्टांग हृदयकार ने आगन्तु शमयेद्दोष स्थानिनं प्रतिकृत्य वा। अर्थात् प्रथम स्थानिक दोष का तथा तत्पश्चात आगंतुज दोष का प्रतिकार करना चाहिये, इन शब्दों में कहा है। लेकिन इसके साथ साथ उन्होंने दोष के बल का भी विचार करने को कहा है।

**तत्रान्यस्थानसंस्थेषु तदीयामबलेषु च।**
**कुर्याच्चिकित्सां स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु।।** अ. हृ.१३/२०

अर्थात्, अन्य स्थान में कुपित दोष की चिकित्सा करते समय यदि उस दोष का बल कम हो तो जिस दोष का वह स्थान होगा उसके अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। लेकिन प्रकुपित दोष यदि बलवान है तो उसकी चिकित्सा पहले करनी चाहिये। अष्टांग संग्रहकार ने चरक के मत को दोहराया है।

**आमाशयगते वायौ कफे पक्वाशयाश्रिते।**
**रुक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वंस्थानानुरोधतः।।** अ. सं. २६/१९

दोष भेदानुसार विविध स्वेदन प्रकारों का वर्णन भी अष्टांगसंग्रहकार ने किया है। **तेषांविशेषतस्तापोष्मस्वेदौ कफे प्रयोजयेत्। उपनाहमनिले किंचित् पित्तसंसृ-ष्टेऽन्यतरस्मिन् द्रवमिति।** अ. सं. सू. २६/१६ अर्थात् इनमें से (इन स्वेदों में से) तापस्वेद और उष्मस्वेद का प्रयोग कफजनित रोगों में करें। उपनाह स्वेद का प्रयोग वातजनित रोगों में करें और अल्प प्रमाण में संसृष्ट वायु तथा कफ के विकार में द्रवस्वेद का प्रयोग करें। सुश्रुताचार्य ने भी चरकाचार्य का अनुसरण किया है। वे कहते हैं, तत्र वायोः पित्तस्थानगतस्य पित्तवत् प्रतिकारः पित्तस्य च कफस्थान गतस्य कफवत्। कफस्य च वातस्थानगतस्य वातवत्। एव क्रियाविभागः। सु. सु. २१/३१। अर्थात् वायु पित्त के स्थान में पहुँचे तो पित्तसमान, पित्त कफ स्थान में पहुँचे तो कफ समान और कफ वायु के स्थान में पहुँचे तो वायु के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

## १३. दोषों का र्निहरण काल–

**माधवप्रथमे मासि नभस्य प्रथमे पुनः।**
**सहस्यप्रथमे चैव हारयेद्दोषसंचयम्।।** च. सू. ७/४६

माधव (वैशाख) के प्रथम मास (चैत्र), (संचयम्) नभ (भाद्रपद) के प्रथम मास (श्रावण) तथा सहस्य (पौष) के प्रथम मास (मार्गशीर्ष) में संचित दोषों का निर्हरण करना चाहिये।

इसका सरलार्थ इस प्रकार है। चैत्र मास में कफ का, श्रावण मास में वात का तथा मार्गशीर्ष में पित्त का र्निहरण करना चाहिये। यह सामान्य मनुष्य के लिये ऋतुचर्यानुसार दोषोपक्रम है। कफ का निर्हरण वमन द्वारा, पित्त का विरेचन द्वारा तथा वात का र्निहरण बस्ती द्वारा होता है। चरकाचार्य ने इसी विषय को आगे शारीरस्थान और सिद्धिस्थान में दोहराया है।

**प्रावृट् शुचि नभौज्ञेयौ शरदूर्ज सहो पुनः।**
**तपस्यश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति।।** च. सि. ६/५

अर्थात्, प्रावृट् यानि वर्षा ऋतु शुचि (आषाढ) औन नभ (श्रावण) इन दो महीनों का होता है। वैसे ही उर्ज (कार्तिक) और सह (मार्गशीर्ष) इन दो महिनों को शरद ऋतु, व तपस्य (फाल्गुन) और मधु (चैत्र) इन दो महिनों को वसन्त कहा जाता है। ये तीन ऋतुए संशोधन की दृष्टि से बतलाई गयी है।

**हैमन्तिकं दोषचय वसन्ते, प्रवाहयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले।**
**घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्नजातु।।**

च. शा. २

अर्थात् हेमन्त में संचित दोष को वसन्त ऋतु में, ग्रीष्म में संचित दोष को वर्षा ऋतु में और वर्षा ऋतु में संचित् दोष को शरद ऋतु में निकालने से ऋतुजन्य रोग नहीं होते। इन ऋतुओं में संशोधन के लिये विशिष्ट मास का उल्लेख इस सूत्र में है। चैत्र यह वसन्त ऋतु का अंतिम मास, श्रावण यह वर्षा ऋतु का अंतिम मास तथा मार्गशीर्ष शरद ऋतु का अंतिम मास है। इन तीनों ऋतुओं के अंतिम महीनों में ही संशोधन करने के कारण का बड़ा ही तर्कशुद्ध स्पष्टीकरण चक्रपाणि दत्त ने दिया है। वे कहते हैं, वसन्तादीनामन्तिममासेषु वमनाद्यभिधानं संपूर्ण प्रकोपे भूते निर्हरणोपदेशार्थ, प्रथमेषु हि मासेषु फाल्गुनाषाढकार्तिकेषु प्रकोप: प्रकर्षप्राप्तो न भवति, चितस्य ह्य सम्यक् प्रकुपितस्याविलीनस्य सम्यङ्र्निहरणं न भवति इति। अर्थात् वसन्तादि ऋतुओं के अंतिम मास में वमनादि संशोधन कर्म बताने का उद्देश्य पूर्ण प्रकुपित दोषों को बाहर निकालना है। ऋतुओं के प्रथम मास में अर्थात् फाल्गुन आषाढ़ व कर्तिक मास में दोषों का प्रकोप पूर्ण रूप से न होने के कारण उनका सम्यक् निंहरण भी नहीं होगा। गंगाधर ने भी इसी का समर्थन किया है और आगे कहा है कि यदि ऋतुओं के प्रथम मास में संशोधन किया गया तो द्वितीय मास में दोषों का पुन: प्रकोप हो जायगा। आचार्य प्रियव्रत शर्मा के अनुसार चक्रपाणि और गंगाधर दोनों का मत गलत है। क्योंकि दोषों का निर्हरण उसके प्रकोप के पहले करना अच्छा है न कि पूर्ण प्रकोप के बाद। इसलिये माधव नभस्य और सहस्य को मास न मानते हुए वसंत, वर्षा और शरद ऋतु मानना चाहिये और दोष निर्हरण ऋतु के आरंभ में ही करना चाहिये।

सुश्रुताचार्य ने भी दोषों के संचय और प्रकोप का ऋतुनुसार उल्लेख कर कुपित दोषों का शरद, वसन्त और प्रावृट् ऋतु में र्निहरण करने को कहा है। लेकिन किसी मास विशेष का उल्लेख नहीं किया है। सुश्रुत सू. ६/१४, ६/४०

इस सूत्र पर भट्टार हरिश्चन्द्र का अपना अलग मत है। उन्होंने सह शब्द को अकारान्त पुल्लिगी मानकर 'सहस्य' को षष्ठी का एकवचन माना है। इस तरह सह का अर्थ मार्गशीर्ष बताकर उसके एक माह पहले अथ्रर्ात् कार्तिक मास में पित्त का

र्निहरण करने को कहा है । अष्टांग हृदय तथा संग्रहकार ने भी इसी मत को दोहराया है । लेकिन इन दोनों ने ही हर तीन महीने बाद दोषों का र्निहरण करने के लिये कहा है । श्रावण में वायु का र्निहरण करने पर कार्तिक दो महीने बाद तथा कार्तिक मास में पित्त का निर्हरण करने पर चैत्र चार महीने बाद आता है । इसलिये भी कार्तिक मास में पित्त का र्निहरण उचित नहीं लगता । चरकाचार्य ने बताया हुआ क्रम ही ज्यादा युक्तिसंगत लगता है । अष्टांगसंग्रहकार ने ऋतुचर्याध्याय में शिशिर, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद और हेमंत इन छह ऋतुओं का वर्णन किया है और भेषजावचारणीय अध्याय में प्रावृट् ऋतु का उल्लेख कर उस ऋतु में संशोधन देने को कहा है तथा वर्षा ऋतु में संशोधन का निषेध किया है । ऋतुचर्याध्याय में का वर्गीकरण ऋतु वर्णन की दृष्टि से है और भेषजावचारणीय अंध्याय मे का वर्गीकरण संशोधन की दृष्टि से है ऐसा स्पष्टीकरण अष्टांग संग्रहकार ने दिया है ।

## १४. रस-दोष संबध–

**स्वाद्वम्ललवणां वायु कषायस्वादुतिक्तकाः ।**
**जयन्तिपित्तं श्लेष्माणं कषाय कटुतिक्तकाः ।।** च. सू. १/६६

मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस वायु को, कषाय, मधुर और तिक्त ये तीन रस पित्त को तथा कषाय कटु और तिक्त ये तीन रस कफ को जीतते है अर्थात् उनका शमन करते हैं ।

यहां मधुर अम्ल, लवण इन तीन रसों को वात शामक माना है । लेकिन वायु को अपना कोई रस नहीं है । इसलिये इन तीन रसों के वातशामकत्व का स्पष्टीकरण देते हुए चक्रपाणि कहते हैं, अत्र च वायोर्नीरसस्यापि रससहचरितस्निग्धत्वादि गुणैर्विपरीतैः प्रशमो ज्ञेयः । अर्थात् यद्यपि वायु नीरस है फिर भी इन रसों के स्निग्धादि गुणों से विपरीत गुण युक्त होने के कारण इसका (वायु का) शमन होता है । आगे वे कहते हैं, रसकर्मातिदेशेनैव गुणवीर्यविपाकानामपि कर्म निर्देशः कृत एव । अर्थात् यहां कर्मों के जो निर्देश है वह गुणवीर्यविपाकादी को भी लागू है । लेकिन यह नियम रसगुण वीर्य विपाक के सामान्य नियम जिन द्रव्यों को लागू होते है उन द्रव्यों को ही लागू होगा । इसी बात को चक्रपाणि दत्त ने गुणों के संबंध में भी कहा है । उसका उल्लेख इस अध्याय के प्रथम सूत्र में आया है ।

इस सूत्र का स्पष्टीकरण पंचमहाभूत तथा गुणों के आधार पर किया जा सकता है । जैसे, मधुर रस जल और पृथ्वी महाभूतप्रधान है । यह दोनों महाभूत गुरु, स्थिर तथा शीत गुणयुक्त होते है । वायु लघु और चल है अतः विरुद्ध गुणों से उसका शमन होता है । पित्त के उष्णादिगुणों का शमन भी इन शीतादि गुणों से होता है । अतः मधुर रस वात तथा पित्तशामक है । इ. इ.

योगीन्द्रनाथ सेन जी ने चरकोपस्कार टीका में दोषों को कुपित करनेवाले रसों का भी वर्णन किया है जो अन्य प्रतियों में नहीं है। श्लोक इस प्रकार है।

**कट्वम्ललवणाः पित्तं स्वाद्वम्ललवणाः कफम्।**
**कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्तिसमीरणम्।।**

च. सू. १/६६ (चरकोपस्कार)

अर्थात्, कटुअम्ल लवण रस से पित्त, मधुर अम्ल लवण रस से कफ तथा कटुतिक्त कषाय रस से वातदोष कुपित होता है।

आगे रसविमान अध्याय में चरकाचार्य ने, तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयोरसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। ऐसा कहकर इनका आगे विस्तार से वर्णन किया है। तथा दोषों का प्रकोप तथा शमन में रसों की गुण के आधार पर कार्मुकता का भी वर्णन किया है। (च. वि. १-६-७) यह रसों का दोषों पर परिणाम रसों के सतत अभ्यास से ही प्राप्त होता है ऐसा भी चरकाचार्य ने कहा है। अर्थात् दोषशमन के लिये रसों का प्रयोग सद्यःफलदायक नहीं है ऐसा इसका अर्थ हो सकता है।

सुश्रुत संहिता में रसों का महाभूतों के अनुसार वर्णन करते हुए बड़े ही सरल शब्दों में रस और दोषों का संबंध बताया है। तत्रमधुराम्ललवणा वातघ्नाः, मधुर तिक्त कषायाः पित्तघ्नाः, कटुतिक्तकषायाः श्लेष्मघ्नाः। सु. सू. ४२/४। अर्थात् मधुर अम्ल लवण रस वात को नष्ट करते है, मधुर तिक्त कषाय रस पित्त को नष्ट करते है और कटुतिक्त कषाय रस कफ को नष्ट करते है। आगे सुश्रुताचार्य कहते हैं, त एते रसाः स्वयोनिवर्द्धना अन्ययोनिप्रशमनाश्च। अर्थात् ये मधुरादि रस स्वयोनिवर्धक अर्थात् अपने उत्पन्न करनेवाले दोषों के वर्धक तथा अन्ययोनि शामक याने अन्य दोषों के शामक होते है। यहां कषाय रस की योनि वायु, कटु रस की पित्त तथा मधुर रस की योनि श्लेष्मा है ऐसा टीकाकार मानते है। इसके आगे रसों की कार्मुकता का वर्णन भी आया है।

अष्टांग हृदयकार ने सूत्रस्थान अध्याय १ में षड्रसों का वर्णन करते हुए उनसे प्रकुपित तथा शमन होनेवाले दोषों का एकसाथ वर्णन किया है।

**रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोष्णकषायकाः।**
**षड्द्रव्यमाश्रितास्ते तु यथापूर्वं बलावहाः।।**
**तत्राद्यामारुतंघ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्।**
**कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते।।**

अहसू १/१४.१५

यहां आया हुआ 'यथापूर्व बलावहा:' यह उल्लेख अष्टांग संग्रह को छोड़कर अन्यत्र कहीं ओर आया नहीं है । रचनाकार के अनुसार मधुर रस सर्वाधिक बलावह-बलकारक और अन्य रस अनुक्रम से कम बलकारक है । अष्टांग संग्रह में भी यही श्लोक मिलते हैं । (अ. सं. सू. १/३५-३६) लेकिन अष्टांग संग्रहकार ने दोषों के शमन के लिये रसों के अनुक्रम का जो स्पष्ट उल्लेख किया है वह भी महत्वपूर्ण है ।

**योज्याः पट्वम्लमधुरा वायौ कृध्देरसाक्रमात् ।**
**पित्ते तिक्तस्ततः स्वादुः कषायश्च रसो हितः ।**
**कटुकः प्राकृततस्तिक्तः कषायोन्ते कफामये ।।**

अ. सं. सू. २१/८-९

लवण, अम्ल तथा मधुर रसों का क्रमशः सेवन वातप्रकोप में तथा तिक्त, मधुर और कषाय रस का क्रमश: सेवन पित्त प्रकोप में हितकर होता है । कफ प्रकोप में प्रथम कटु रस का, तत्पश्चात तिक्त रस का तथा अन्त में कषाय रस का सेवन करना चाहिये ।

## १५. दोषों के संसर्ग और सन्निपात में चिकित्सा अनुक्रम–

सुश्रुताचार्य ने दो दोषों के संसर्ग में या सन्निपात में जो दोष अधिक उग्र या प्रधान हो उसकी चिकित्सा सर्वप्रथम करने को कहा है । लेकिन यह चिकित्सा अन्य दोषों के विरोध में न हो इसका भी खयाल रखना चाहिये ।

**संसर्गे यो गरीयान् स्यादुपक्रम्यः स वै भवेत् ।**
**शेषदोषाविरोधेन सन्निपाते तथैव च ।।**

सु. सू. २२/३७

अष्टांग संग्रह तथा हृदयकार ने इस विषय का बड़े ही विस्तार से वर्णन किया है ।

**चयएव जयेद्दोषं कुपितं त्वविरोधयन् ।**
**सर्वकोपेवलीयांसं शेषदोषाविरोधतः ।**
**क्रमान्मरूत्पित्तकफान् सर्वत्रसदृशेबले ।**
**वातादीनांयथापूर्वं यतःस्वाभाविकं बलम् ।**
**ऊचेपराशरोप्यर्थममुमेव प्रमाणयन् ।**
**यथोपन्यासतः प्राप्तमादौ दोषभिषग्जितम् ।**
**नेतृभंगेन दृष्टो हि समं सैन्य पराजयः ।।**

अ. सं. सू. २१/१५-१८

अर्थात् संचयावस्था में ही दोषों पर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये। कुपित होने पर अर्थात् प्रकोपावस्था में उसे जीतना कठिन होता है।

यदि सभी दोषों का एक साथ प्रकोप हो तो जो दोष बलवान हो उसकी चिकित्सा प्रथम करे लेकिन वह उर्वरित दो दोषों के विरोध में न हो इसका भी ध्यान रखना चाहिए। तीनों दोषों का बल समान हो तो अनुक्रम से वात पित्त और कफ की चिकित्सा करनी चाहिये। क्योंकि इनका स्वाभाविक बल भी इसी क्रम से है। महर्षि पराशर ने भी इसी मत को दोहराया है। वे कहते हैं कि सब दोषों में वायु प्रबल होता है इसलिये उसी की सर्वप्रथम चिकित्सा करनी चाहिये। नेतृत्व भंग होने के पश्चात सेना की पराजय होती ही है।

अष्टांग संग्रहकार ने इस विषय में अन्य कुछ मतों का भी जिक्र किया है। परन्तु उनके नामों का उल्लेख कहीं नहीं है। कुछ आचार्यों के मतानुसार प्रथम कफ दोष की, तत्पश्चात पित्त की व अंत में वात की चिकित्सा करनी चाहिये। क्योंकि शरीर में कफ का स्थान सबसे ऊपर (मूर्धा, उरस् इ.) पित्त का बीच में व वात का सबसे नीचे है। अन्य कुछ आचार्यों के मतानुसार पित्त वायु का सखा है। इसलिये प्रथम पित्त का और अन्त में कफ का शमन करना चाहिये।

अष्टांग हृदयकार ने दोषोपक्रमो को ही संसर्ग एवं सन्निपात में दोषों की अंशांश कल्पना ध्यान में रखकर प्रयोग में लाने के लिये कहा है। वैसे ही वातपित्त के संसर्ग में ग्रीष्मचर्या, वातकफ के संसर्ग में वसंतचर्या और कफपित्त के संसर्ग में शरदचर्या का प्रयोग करने के लिये कहा है। 'चयएव जयेद्दोषं' को भी दोहराया है।

**उपक्रमः पृथग्दोषान् योऽयमुद्दिश्य कीर्तितः।**
**संसर्गसन्निपातेषु तं यथास्वं विकल्पयेत्।।**
**ग्रैष्मःप्रायोमरुत्पित्ते वासन्तः कफमारुते।**
**मरुतो योगवाहित्वात्कफपित्ते तु शारदः।।**

अ. हृ. सू. १३/१३-१४

इस पर टिप्पणी करते हुए अरुण दत्त कहते है, 'संन्निपाते क उपक्रमः। ब्रूमः। वर्षर्तुचर्या विहितः। प्रवृषि हि दोषत्रयकोप उक्तोऽतएवाह। भजेत्साधारणं सर्वमित्यादि। संक्षेप में, सन्निपात में वर्षाऋतुचर्या में वर्णित उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिये। रोग और रोगवस्था के अनुसार भी दोषों के संसर्ग एवं सन्निपात की चिकित्सा का वर्णन सभी ग्रंथकारों ने किया है। उसका वर्णन उस उस रोगानुसार किया गया है वह यथास्थल देखें।

## १६. दोषबलानुसार चिकित्सा–

**तत्रलङ्घनमल्पबलदोषाणां; लङ्घनपाचनेतु मध्यबलदोषाणां; बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेवकार्यं ।** च. वि. ३/४४

दोष जब अल्पबल होते है तब लंघन किया जाता है; दोष जब मध्यमबल होते है तब लंघन पाचन किया जाता है और अतिवृद्ध अर्थात् अति बलवान दोषों की चिकित्सा दोषावसेचन से होती है ।

लंघन, लंघनपाचन और दोषसेचन यह अपतर्पण के तीन भेद है । संतर्पणजन्य व्याधियों में मुख्यत: अपतर्पण चिकित्सा की जाती है । लंघन को लघुभोजन इस अर्थ में लेना चाहिये । लघुभोजन के साथ दीपन पाचन औषधों का प्रयोग लंघन पाचन कहलाता है । चरकाचार्य ने सुंदर उपमाओं से इस विषय को और भी स्पष्ट किया है । वे कहते हैं, 'लंघन से अग्नि और वायु की एकसाथ वृद्धि होती है और फलस्वरूप जिस प्रकार धूप और वायु से थोड़ा जल वाले तालाब सूख जाते है वैसे ही अल्पदोष सुख जाते है । मध्यम स्तर के तालाब में सूर्य का ताप और वायु की वृद्धि के साथ साथ थोड़ी धूल मिट्टी छोड़ दे तो वह भी सुख जाता है उसी प्रकार मध्यम बल के दोष लंघन पाचन के एकत्रित परिणामस्वरूप सुख जाते है । और जैसे खेत में भरा पानी यदि सुखाना है तो उसके नालियों को तोड़कर पानी बाहर निकालना श्रेयस्कर रहता है उसी प्रकार दोषों का अवसेचन भी समझना चाहिये । इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि ने 'लंघन पाचन' में दोनों को समान महत्वपूर्ण बताया है । वे कहते है कि बिना लंघन के पाचन ठीक नहीं होगा । यदि बृंहण होता है तो अग्नि मन्द होगी और पाचन का कार्य पूर्ण नही होगा । लंघनपाचनमिति वचनेन यत्र पाचनं क्रियते तदा बृहणेनाग्ने: प्रतिकूलेन पाचनं न स्यात् । चक्रपाणि टीका–यह सामान्यचिकित्सा सिद्धान्त के रूप में भी महत्वपूर्ण है । जहां कही भी पाचन औषधियों का प्रयोग करना है वहां लंघन अवश्य करना चाहिये । बिना लंघन के पाचन कार्यकारी नहीं रहेगा इसे अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिये । आमपाचन में भी यहीं नियम लागू होगा ।

## १७. क्षीणदोष चिकित्सा–

**समानगुणाभ्यासोहि धातूनां वृद्धिकारणमिति ।** च. सू. १२/५

**सर्वदासर्वभावानां सामान्य वृद्धिकारणम् ।** च. सू. १/४४

सर्वदा अर्थात् हमेशा सभी भावों की वृद्धि करनेवाला सामान्य होता है । यह सूत्र सामान्य की परिभाषा के रूप में सूत्र स्थान में आया है । लेकिन यही क्षीणदोष चिकित्सा का सामान्य चिकित्सासूत्र भी है । आगे शरीरस्थान में दोषानुसार क्षीणदोषों में प्रयुक्त रस तथा गुणों का उल्लेख आया है । वह इस प्रकार है ।
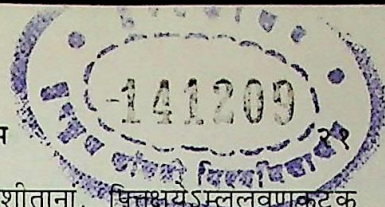
वातक्षये कटुकतिक्तकषाय रुक्षलघुशीतानां, पित्तक्षयेऽम्ललवणकटुक क्षारोष्णतीक्ष्णानां, श्लेष्मक्षये स्निग्ध गुरु मधुर सांद्रपिच्छिलानां द्रव्याणाम्। च. शा. ६/११। अर्थात् वातक्षय में कटुतिक्तकषाय रस युक्त और रुक्ष, लघु, शीत गुणवाले द्रव्यों का, पित्तक्षय में अम्ल, लवण और कटुरसात्मक द्रव्य, क्षार पदार्थ तथा उष्ण एवं तीक्ष्ण गुणवाले द्रव्यों का, कफक्षय में स्निग्ध, गुरु, सान्द्र और पिच्छिल गुण युक्त तथा मधुर रसात्मक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। रस और गुणों का स्वतंत्र उल्लेख करने के बाद कर्म का भी सामान्य रूप से उल्लेख किया गया है। यथा– कर्मापि यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदासेव्यम्। अर्थात्, जिन जिन धातुओं को जो जो कर्म बढ़ानेवाला हो उस उस कर्म का प्रयोग उस उस धातू के क्षीण होने पर करना चाहिये।

प्रथम सूत्र के सर्व-भावानां शब्द पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि ने सर्व और भाव इन दो शब्दों को अलग करके 'सर्व' सभी इस अर्थ में लिया है। 'भाव' का अर्थ उन्होंने, 'भवन्ति सत्तामनुभवन्तीति भावा: द्रव्यगुणकर्माणीत्यर्थ:, न तु भवन्त्युत्पद्यन्त इति। ऐसा लिया है। अर्थात् भाव शब्द से द्रव्य गुण और कर्म तीनों का ग्रहण होता है क्योंकि ये अस्तित्व में रहते हैं न कि उनकी उत्पत्ति होने वाली है। इसका मतलब सामान्य तीन प्रकार का हुआ। (१) द्रव्य सामान्य (२) गुण सामान्य और (३) कर्म सामान्य। चक्रपाणि ने विस्तार से, उदाहरणों सहित इसका वर्णन किया है।

सामान्य सिद्धान्त को दर्शानेवाले और दो सूत्र है। (१) सामान्यमेकत्वकरं, (२) तुल्यार्थताहि सामान्य। चक्रपाणि के अनुसार कुछ विद्वानों ने इसे ही अत्यन्त सामान्य, मध्यसामान्य और एकदेशसामान्य कहा है और कुछ विद्वानों ने उभयवृत्ति सामान्य और एकवृत्तिसामान्य ऐसे दो प्रकार बताये है। लेकिन चक्रपाणि के मतानुसार इसका कोई खास प्रयोजन नहीं है।

कर्म सामान्य पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि कहते है, "कर्मशब्देने हास्याचिन्तादयोऽपि गृह्यन्ते। कर्म तु प्राय: प्रभावादेव वृद्धिकरं भवतीति कृत्वा समान गुणतापरिग्रहो न कृत:। अर्थात्, कर्म शब्द से हास्य, चिन्ता इ. का ग्रहण करना चाहिये। कर्म प्राय: प्रभाव से वृद्धिकर होते है। इसलिये समानगुणों का उल्लेख नहीं किया है।

सुश्रुताचार्य ने क्षीण दोषों के लक्षणों का वर्णन करने के पश्चात, तत्र स्वयोनिवर्धनान्येन प्रतीकार:। (सु. सू. १५/१२) कहकर सामान्य चिकित्सा का उल्लेख किया है। अर्थात् इन दोषों की उत्पत्ति करनेवाले द्रव्यों का सेवन ही इसका प्रतिकार है इतना मात्र अष्टांगसंग्रहकार ने सूत्रस्थान अध्याय १९ में धातव: खलु

शरीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्नाऽऽहारविहारैरभ्यस्यमानैर्बुद्धिमाप्नुवन्ति । अर्थात् शरीर के समस्त धातु (दोष, धातु मल) अपने समान गुणवाले अथवा अधिकतर सामान्यगुणवाले (सामान्यगुणभूयिष्ठ) आहार विहार के निरंतर सेवन से वृद्धि को प्राप्त होते है ऐसा कहा है । इसके साथ साथ सन्तर्पण द्वारा क्षयजनित विकारों की चिकित्सा करने का भी उपदेश किया है । लेकिन क्षीण वायु की चिकित्सा इस नियम के अपवादस्वरूप लंघनात्मक बतायी है । बृंहण से कफ की वृद्धि और लंघन से वातवृद्धि होती है यह कारण दिया गया है । अ. सं. सू. १९/१३

अष्टांग हृदयकार ने भी सू. अ. ११ में इन्हीं मुद्दों को दोहराया है । लेकिन इसके साथ साथ निदान और चिकित्सा की दृष्टि से एक सामान्य सिद्धान्त बताया है ।

**कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीत समानयोः ।**
**वृद्धाः क्षीणाश्च भूयिष्ठं लक्षयन्त्यबुधास्तु न ।।**

अ. हृ. सू. ११/४३

अर्थात् दोष वृद्ध होने पर तद्विपरीत पदार्थों के सेवन की इच्छा उत्पन्न होती है और दोषों के क्षीण होने पर तत्समान गुणों के पदार्थों के सेवन की इच्छा होती है । यह बात अज्ञानियों के ध्यान में नहीं आती ।

अष्टांगहृदयकार ने और चरकाचार्य ने भी क्षीण दोषों के लक्षणों में विरुद्ध गुणों की वृद्धि अर्थात् विरुद्ध दोष के वृद्धिलक्षण दिखते है ऐसा कहा है । (देखिये अ. हृ. सू. ११ और च. सू. १८/५२) इस कारण क्षीण दोष के निदान में भ्रम उत्पन्न हो सकता है । लेकिन यह सार्वत्रिक नियम नहीं है यह भी ध्यान रखना चाहिये ।

चक्रपाणिदत्त ने क्षीण दोषों से रोगोत्पत्ती नहीं होती ऐसा कहा है । लेकिन यह विधान यथार्थ प्रतीत नहीं होता । विशेषतः (degenerative diseases) क्षय जन्य रोगों में दोष क्षय का निदान और चिकित्सा करनी पड़ती है । हां ये बात जरुर है की क्षीण दोषों की चिकित्सा में विशिष्ट औषधी कल्पों का उल्लेख कहीं पर भी नहीं है । महाराष्ट्र के वैद्य कै. वा. स. अंदनकरजी ने क्षीणदोष व्याधी चिकित्सा नामक ग्रंथ में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है ।

### १८. सामदोष चिकित्सा–

**आमप्रदोषजानां विकाराणामपतर्पणेनैवोपरमो भवति ।**

च. वि. २/१३

आमप्रदोषज विकारों के लिये अपतर्पण ही परमौषधी है ।

यह सूत्र परिवर्धित है । मूल सूत्र में आमप्रदोषजानां पुनर्विकाराणामपतर्पणेनैवो

परमो भवति ऐसा कहा है । अर्थात् आम दोष से होनेवाले रोगों की शान्ति अपतर्पण से कराने के बाद भी रोग का संबंध बना रहने पर क्या करना चाहिये इसका उपदेश आगे किया है । इससे अपतर्पण ही आमदोष की चिकित्सा है यह निश्चित होता है । अपतर्पण के पुन: तीन भेद है । लंघन, स्वेदन और रुक्षण । पुन: लंघन के भी शमन और शोधन ऐसे दो भेद किये है ।

अपक्व अन्नरस के कारण आम उत्पन्न होता है । यह आम दोष और दूष्यों में संपृक्त होकर उनमें सामावस्था निर्माण करता है । इन्हें सामदोष या सामदूष्य कहते है । दोष निर्हरणार्थ उन्हें निरामावस्था में लाना आवश्यक है । धातू में लीन तथा सामदोषों के शोधन का स्पष्ट रूप से निषेध किया है । आमपाचन के पश्चात ही सम्यक् शोधन संभव है ।

अष्टांगसंग्रहकार ने समस्त शरीर में व्याप्त सामदोषों का निर्हरण न करने के लिये कहा है । सर्वदेह प्रविसृतान् सामान्दोषान्न र्निहरेत् । अ. सं. सू. २१/३८ । दीपन पाचन स्नेहन स्वेदन से आमदोषों को परिपक्व करके योग्य समय पर रोगी के बल को ध्यान में रखकर उनका शोधन करना चाहिये ।

**पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान् ।**
**शोधयेच्छोधनैः काले यथासन्नं यथाबलम् ।।**

अ. सं. सू. २१/४०

अष्टांग हृदयकार ने भी इसी मत को दोहराया है । उन्होंने अल्पदोष में लंघन, मध्यदोष में लंघन पाचन और प्रभूत दोष में शोधन करने को कहा है । अ. हृ. सू. ८

●

## द्वितीयोऽध्यायः

# धातूपक्रम

### १. रसज रोगों की चिकित्सा–

**रसजानां विकाराणां सर्वलङ्घनमौषधम् ।।** च. सू. १/५९

सभी प्रकार के लंघनों का पालन करना ही रसज रोगों की औषधी है ।

जब रसादि धातुओं के स्थान में दोष प्रकुपित होते है तब उन उन स्थानों में रोग निर्माण होते है । इन रोगों का वर्णन दुष्टरसज रोग, दुष्ट रक्तज रोग इत्यादि प्रकार से किया जाता है। लेकिन इन रोगों का दोषानुसार वर्गीकरण नहीं मिलता। चरकाचार्य ने विविधशितपीतीय अध्याय में इन रोगों का नामोल्लेख किया है । उदा. (१) अश्रद्धा यानि भोजन में इच्छा का न होना (२) अरुचि (३) मुखविरसता (४) अरसज्ञता (५) हृल्लास (७) शरीर में भारीपन (७) तन्द्रा (८) अङ्गमर्द (९) ज्वर (१०) आंखों के सामने अंध:कार (११) पाण्डु (१२) स्रोतोरोध (१३) नपुंसकता (१४) शरीर का शिथिल होना (१५) अंगोकाकृश होना (१६) मंदाग्नि (१७) बुढ़ापा आये बिना बालों का सफेद होना, झुर्रिया । यह १७ रोग रसप्रदोषज रोग कहलाते है । इन सभी विकारों ने लंघन ही परमौषध है । चरकाचार्य ने लंघन के १० प्रकार बताये हैं ।.(१) वमन (२) विरेचन (३) नस्य (४) निरुह बस्ती (५) पिपासा (६) वायु का सेवन (७) धूप का सेवन (८) पाचन औषधियों का प्रयोग (९) उपवास और (१०) व्यायाम । च. सू. २२/१८

इन दोष धातु संबंधों पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि कहते है, सत्यपि दोषभेदेऽत्राश्रयस्याभेदादाश्रयप्रभावेणैवाश्रद्धादयो भवन्ति, परं दोषभेदे अश्राद्धादावेव वातादि लिंगं विशिष्टं भवति । अर्थात् यह रसप्रदोषज इ. विकार किसी भी दोष के कारण निर्माण होते है । लेकिन यहां आश्रय प्रधान होने के कारण सभी दोषों द्वारा समान रोगोत्पत्ति होती है । दोष भेद से इन रोगों में सिर्फ विशिष्टता आती है । चक्रपाणि ने अश्रद्धा और अरुचि में भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि भोजन से अश्रद्धा रहने पर भी यदि भोजन परोसा जाय तो खाया जा सकता है । लेकिन अरुचि में वह रुग्ण अन्न निगल ही नहीं सकता । अश्रद्धायां मुखप्रविष्टस्याहारस्याभ्यवहरण भवत्येव, परं त्वनिच्छा, अरुचौतु मुखप्रविष्टं नाभ्यवहरतीति भेदः । चक्रपाणि

योगेन्द्रनाथजी ने रसजानां विकाराणां सर्व सर्वविधं शोधनादिकं लंघनं । यत्

किंचिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतं । इति । औषधं, ऐसा कहा है । यह रसज रोग स्वाभाविक रूप से रसवहस्रोतोदुष्टिजन्य माने जाते है । इन रसप्रदोषज विकारों के अलावा यक्ष्मा, तृष्णारोग, संतत ज्वर तथा ज्वर की सामान्य संप्राप्ति में रसवहस्रोतों के दुष्टि का वर्णन उपलब्ध होता है । देखिये च. चि. ८, मा. नि., सु. उ. अ. ३९, च. चि. ३, च. नि. ९ । रस धातु में ही सभी धातुओं का उपादान रहता है । इसलिये चिकित्सा की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है ।

सुश्रुताचार्य ने रस धातु के वृद्धि और क्षय के अनुसार लक्षण बताकर तदनुकूल चिकित्सा का वर्णन किया है उसे यथास्थल देखें । अष्टांग संग्रह व अष्टांग हृदयकार ने भी इसी का अनुसरण किया है ।

## २. रक्तज रोगों की चिकित्सा–

**कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरी क्रियाम् ।**
**विरेकमुपवासंच स्रावणं शोणितस्य च ।।** च. सू. २४/१८

विकृत रक्त से होने वाले रोगों में रक्तपित्तनाशक उपाय करने चाहिये । तथा विकृति के अनुसार विरेचन, उपवास अथवा रक्तमोक्षण क्रिया द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ।

च. चि. अ. ४ में रक्तपित्त की चिकित्सा का विस्तार से वर्णन है । रक्तपित्त की अनेक अवस्थाओं का वर्णन आयुर्वेद ग्रंथों में पाया जाता है और उसके अनुसार ही चिकित्सा का भी वर्णन किया है । अष्टांग संग्रहकार ने अग्रयसंग्रह अध्याय में रक्तपित्त में श्रेष्ठ कई वनस्पतियों का वर्णन किया है । उनका उपयोग भी अवस्थानुसार ही होना चाहिये ।

रक्त और पित्त इन दोनों की प्रकृति एक समान मानी जाती है, पित्त को रक्त का मल भी कहा है । इसलिये दूषित रक्त की चिकित्सा रक्तपित्त के अनुसार होनी चाहिये ऐसा कहा है । विरेचन यह पित्त की सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा है । पित्ते विरेचनीयः यह नियम हमे ज्ञात है ही । उपवास लंघन का ही एक प्रकार है । अन्न के अभाव में अग्नि का परिणाम सीधे दोषों पर होता है । उपवास से दूषित रक्त का पाचन होता है । दूषित रक्त में रक्तमोक्षण प्रधान चिकित्सा मानी जाती है । एकतस्तु क्रिया सर्वा रक्तमोक्षणमेकतः अर्थात् रक्तदुष्टि की सारी चिकित्सा एकतरफ और रक्तमोक्षण एक तरफ ऐसा कहा है । दुष्ट रक्तज रोगों में (१) कुष्ठ (२) विसर्प (३) पिडका (४) रक्तपित्त (५) रक्तप्रदर (६) गुदपाक (७) मेढ्रपाक (८) व्यङ्ग (९) प्लीहावृद्धि (१०) गुल्म (११) विद्रधि (१२) नीलिका (१३) कामला (१४) व्यङ्ग (१५) पिप्लु (१६)

तिलकालक (१७) दद्रु (१८) चर्मदल (१९) श्वित्र (२०) पामा (२१) कोठ और (२२) रक्तमंडल इनका समावेश होता है। इसके व्यतिरिक्त राजयक्ष्मा की संप्राप्ति में भी रक्तवहस्रोतों की दुष्टि का उल्लेख मिलता है। च. चि. २८ तथा च. सू. २४ में भी दूषित रक्त से उत्पन्न रोगों की एक लंबी तालिका दी गयी है उसे यथास्थल देखें।

## ३. मांसज रोग चिकित्सा–

**मांसजानां तु संशुद्धिः शस्त्रक्षाराग्निकर्म च ।** च. सू. २८/२६

मांसज रोगों में शुद्धिक्रिया, शस्त्रकर्म, क्षारकर्म और अग्निकर्म द्वारा उपचार किया जाता है।

चरकाचार्य ने मांसवह स्रोतस दुष्टी अभिष्यन्दी भोजन, स्थूल भोजन, गुरु भोजन तथा दिवास्वाप अर्थात् दिन में सोने से होती है ऐसा कहा है।

**अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरुणि च ।**
**मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतां दिवा ।।** च. वि. ५

दोषों की दृष्टि से देखा जाय तो यह सब मुख्यतः कफ प्रकोपक हेतु है। इसलिये संशुद्धि शब्द से मुख्यतः वमन कर्म का ग्रहण होना चाहिये। अर्थात् आवश्यकतानुसार विरेचन, बस्ती इ. का प्रयोग भी किया जा सकता है। अधिमांस, अर्बुद, चर्मकील, गलशालूक, गलशुण्डिका, पूतिमांस, अलजी, गंडमाला तथा उपजिंव्हिका यह मांसप्रदोषज विकार बताये गये है। इन सभी, विकारों में शस्त्र, अग्नि एवं क्षारकर्म का मुख्यतः प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त तृतीयक ज्वर की संप्राप्ति में भी मांसवह स्रोतस की दुष्टि बतायी है।

**मांसस्रोतांस्यनुगतो जनयेत्तु तृतीयकम् ।** च. चि. ३/६६

## ४. मेदज रोग चिकित्सा–

(१) **गुरु चातर्पणं चेष्टं स्थूलानां कर्षनं प्रति ।** च. सू. २१/२०

(२) **वातघ्नान्यन्नपानानि श्लेष्ममेदोहराणि च ।**
**रुक्ष्णोष्णाबस्तयस्तीक्ष्णा रुक्षाण्युद्वर्तनानि च ।।**

च. चि. २१/२१

(१) गुरु लेकिम अपतर्पण करनेवाला आहार स्थूल व्यक्तियों को कृश बनाने के लिये इष्ट है।

(२) वातघ्न तथा कफघ्न एवं मेदघ्न अन्नपान, तीक्ष्ण, रुक्ष एवं उष्ण बस्तियां तथा रुक्ष उबटन (का प्रयोग मेदोरोग में करना चाहिये)।

अतिस्थूल व्यक्तियों की जाठराग्नि अत्यन्त तीव्र होती है। इसलिये उन्हें दिया जानेवाला भोजन गुरु गुण से युक्त होना चाहिये। लेकिन सामान्य रूप से जो भी द्रव्य गुरु गुण से युक्त होता है वह संतर्पण करनेवाला होता है जो यहां अपेक्षित नहीं है। इसलिये अपतर्पण का विशेष उल्लेख किया गया है। गुरु लेकिन अपतर्पण करनेवाले द्रव्यों में चक्रपाणि दत्त ने मधु का उल्लेख किया है। वे कहते हैं, 'गुरु चातर्पणं च यथा-मधु, एतद्धि गुरुत्वाद् वृद्धमग्निं यापयति, अपतर्पणत्वाच्च मेदो हन्ति एवं प्रशातिकाप्रभृतीनामतर्पणानां संस्कारादिना गुरुत्वं कृत्वा भोजनं देयम्। गुरु तथा अपतर्पण करने वाले द्रव्य, जैसे मधु, अपने गुरुगुण के कारण तीक्ष्णाग्नि में उपयोगी होती है लेकिन अपनी रुक्षता के कारण मेद धातु का शोषण करके उसका अपतर्पण भी करती है। वैसे ही प्रशातिका, प्रियंगु जैसे धान्य भी उचित संस्कार करके मेदस्वी व्यक्तियों में दिये जा सकते है। गंगाधर तथा योगीन्द्रनाथ ने भी इसका समर्थन किया है।

वातघ्न, कफघ्न तथा मेदघ्न अन्नपान, तीक्ष्ण, रुक्ष एवं उष्ण बस्तियों का प्रयोग तथा रुक्ष उबटन का प्रयोग यह अतिस्थौल्य के उपक्रम है। यहां च शब्द से स्नान का भी ग्रहण करना चाहिये ऐसा योगीन्द्रनाथजी का मत है। चकारात् स्नानानि च। चरकाचार्य ने अष्टौनिन्दित के साथ प्रमेह के सभी पूर्वरुपों का अंतर्भाव मेदज रोगों में किया है।

## ५. अस्थिगत रोग चिकित्सा-

**अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पञ्चकर्माणि भेषजम्।**
**वस्तयः क्षीरसर्पींषि तिक्तकोपहितानि च।।** च. सू. २८/२७

पंचकर्म कराना ही अस्थ्याश्रित रोगों की औषध है। बस्तिप्रयोग तथा तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत तथा दुग्ध का प्रयोग हितकर होता है।

चरकाचार्य ने व्यायाम, अतिसंक्षोभ, अस्थियों का विघट्टन तथा वातवर्धक पदार्थो का अतिसेवन तथा वातवर्धक विहार यह अस्थिवह स्रोतसों के दुष्टी के हेतु बताये है। यह सभी मुख्यतः वातवर्धक हेतु है। इसलिये पंचकर्म के अलावा बस्तिप्रयोग का विशेष उल्लेख किया है। अस्थिवह स्रोतस विकृत होने पर अध्यस्थि, अधिदंत, दन्तभेद, दन्तशूल, अस्थिभेद, अस्थिशूल, विवर्णता, केश, लोम, नख, श्मश्रु इ. के विकार होते है।

## ६. मज्जा तथा शुक्रगत रोगों की चिकित्सा–

**मज्जशुक्रसमुत्थानामौषधं स्वादुतिक्तकम् ।**
**अन्नं व्यवाय व्यायामौ शुद्धिः काले च मात्रया ।।** च. सू. २८/२८

मधुर और तिक्त अन्न का सेवन, मैथुन, व्यायाम तथा उचित काल में और मात्रा से शोधन करना यही मज्जा और शुक्रगत रोगों की चिकित्सा है ।

यहां उचित काल में अर्थात् वसंत में वमन, शरद में विरेचन इ. अपेक्षित है । छोटी संधियों में वेदना, भ्रम, मूर्छा, आंखों के सामने अंधेरा, पर्वो में स्थूल मूल वाली फुंसिया दिखाई देना यह विकृत मज्जा के तथा नपुंसकता, मैथुन में अनुत्साह, संतानों का रोगी, अल्पायु, कुरुप तथा नपुंसक होना, अथवा संतान न होना, गर्भस्त्राव या गर्भपात होना इत्यादि विकृत शुक्र के लक्षण है । दुष्ट शुक्र उस व्यक्ति के स्त्री और सन्तान के साथ साथ उसके शरीर के लिये भी बाधक बनता है ।

## ७. धातुओं के वृद्धि व क्षय की चिकित्सा–

सामान्यं वृद्धिकारणम् या समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणमिति यह धातुक्षयका और 'ह्रासहेतुर्विषेशश्च' यह धातुओं के वृद्धि का सामान्य चिकित्सासूत्र चरकाचार्य ने बताया है । सुश्रुताचार्य ने भी इसी मत का अनुसरण किया है । लेकिन अष्टांगसंग्रहकार ने तत्रास्थ्नि स्थितो वायुरसृक्स्वेदयोः पित्तं शेषेषु तु श्लेष्मा । तस्मादेकवृद्धिक्षय साधनत्वमेषां न त्वेवमस्थिवाय्वोः । अर्थात् अस्थि धातु में वायु, रक्त एवं स्वेद (मल) में पित्त एवं अन्य सभी धातुओं में एवं मलों में कफ़ रहता है, इसलिये अस्थि एवं वायु को छोड़कर इन दोष एवं दूष्यों की वृद्धि एवं क्षय में समान चिकित्सा होती है ऐसा कहा है । अष्टांग संग्रहकार ने वृद्धि क्षय जन्य विकारों पर क्रमशः लंघन बृंहणात्मक चिकित्सा करनी चाहिये यह सामान्य नियम बताते हुए कुछ धातुओं के क्षय और वृद्धि की विशेष चिकित्सा भी बतायी है । वे कहते हैं–

**विशेषाद्रक्तवृद्ध्युत्थान् रक्तस्त्रुतिविरेचनैः ।**
**मांसवृद्धि भवान् रोगान् शस्त्रक्षाराग्नि कर्मभिः ।।** ३०
**स्थौल्यकार्श्योपचारेण मेदजानस्थिसंक्षयात् ।**
**जातान्क्षीरघृतैस्तिक्त संयुतैर्बस्तिभिस्तथा ।।**

अह. सू. ११/३०-३१

अर्थात् विशेष रूप से रक्तवृद्धिजन्य विकारों में रक्तमोक्षण और विरेचन करना चाहिये । मांसवृद्धिजन्य विकारों में शस्त्र, क्षार और अग्निकर्म करना चाहिये । मेद के

वृद्धि क्षय से उत्पन्न विकारों में क्रमशः स्थौल्य और कार्श्य की चिकित्सा करनी चाहिये और अस्थि क्षयजन्य विकारों में क्षीर, घृत तथा तिक्तरसयुक्तबस्ति का प्रयोग करना चाहिये। चिकित्सा की दृष्टि से पूर्वोधातु परं कुर्याद्वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम्, अर्थात् पूर्वधातु के वृद्धि या क्षय होने पर उसके बाद वाले धातु की भी वृद्धि या क्षय होता है, यह सूत्र भी ध्यान में रखना चाहिये। सुश्रुताचार्य ने भी सु. सू. ५/२३ में यही बात कही है।

●

## तृतीयोऽध्यायः

# मलोपक्रम तथा वेगावरोध चिकित्सा

### १. पुरीष वेग धारणजन्य रोग चिकित्सा-पुरीषोपक्रम

**स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्चवर्तयोबस्तिकर्म च ।**
**हितं प्रतिहते वर्च स्वन्नपानं प्रमाथि च ।।** च. सू. ७/९

पुरीषवेगधारणजन्य रोगों में स्वेदन, अभ्यङ्ग, अवगाहन, गुदा में वर्ती रखना, बस्तिकर्म तथा प्रमाथी अन्नपान का सेवन हितकर होता है ।

चरकाचार्य ने विविधाशितपीतीय अध्याय में मलज रोगों की चिकित्सा के संदर्भ में कहा है कि मलज रोगों की चिकित्सा का संग्रह नवेगान्धारणीय अध्याय में किया गया है तथा इसके अतिरिक्त भी कही कही चिकित्सा बतायी गयी है । लेकिन उसमें स्वेद का कही उल्लेख नहीं है । आगे विमानस्थान के ५वें अध्याय में स्रोतोदुष्टी की चिकित्सा में स्वेद का उल्लेख आया है ।

**मूत्रविट्स्वेदवाहानां चिकित्सा मौत्रकृच्छ्रिकी ।**
**तथाऽतिसारिकीकार्या तथा ज्वरचिकित्सिकी ।।** च. वि. ९/२८

अर्थात् दूषित मूत्रवह, पुरीषवह तथा स्वेदवह स्रोतसों की चिकित्सा अनुक्रम से मूत्रकृच्छ्र, अतिसार तथा ज्वर के अनुसार करनी चाहिये ।

प्रथम सूत्र में प्रमाथि अन्नपान का सेवन करने के लिये कहा है । चक्रपाणि ने प्रमाथि को अनुलोमन कहा है और योगीन्द्रनाथ ने प्रमाथि विड्भेदि अन्नपानं चहितं ऐसा कहा है । लेकिन यहां प्रमाथि का अनुलोमन यह अर्थ सही नहीं है । विड्भेदी शब्द ज्यादा सही है । चरकाचार्य ने च. चि. ८/१६६ में मद्य के गुण वर्णन में अपने तीक्ष्ण, उष्ण, विशद तथा सूक्ष्म गुण के कारण स्रोतसों के मुख को मथकर शीघ्र खोलनेवाले गुण को प्रमाथि कहा है । शारंगधर ने भी निजवीर्येण यद् द्रव्यम् स्रोतोभ्योदोषसञ्चयम् । निस्स्यति प्रमाथितत् ।। ऐसा कहा है । शा. पू. ख. अ. ८

पुरीष वह स्रोतों के विकृत होने पर कष्टपूर्वक, अल्पमात्रा में, शब्द और शूल के साथ, अतिद्रव, अतिग्रथित अथवा अत्यधिक मल की प्रवृत्ति होती है ऐसा चरक विमान अध्याय ५ में बताया गया है । छर्दि के उपद्रव में पुरीषवह स्रोत में अवरोध उत्पन्न होता है तथा पुरीषज उदावर्त में भी मलवह स्रोतों की दुष्टि का वर्णन प्राप्त होता है । इन सभी अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए उपरिनिर्दिष्ट उपक्रमों में से

आवश्यकतानुसार एक या दो उपक्रमों का चयन कर उसका प्रयोग करना चाहिये ।

## २. मूत्रवेगावरोधजन्य रोगों की चिकित्सा-मूत्रोपक्रम–

**स्वेदावगाहनाभ्यङ्गान् सर्पिषश्चावपीडकम् ।**
**मूत्रे प्रविहते कुर्यान् त्रिविधं बस्तिकर्म च ।।** च. सू. ७/७

स्वेदन, अवगाहन, अभ्यङ्ग, घी का अवपीडन अर्थात् प्रभूत मात्रा में उपयोग, तथा आस्थापन, अनुवासन व उत्तर बस्ति का प्रयोग करना चाहिये ।

चरक विमानस्थान में मूत्रवह स्रोतस की चिकित्सा मूत्रकृच्छ्र के समान करनी चाहिये ऐसा कहा है । इस स्रोतस के विकृत होने पर अत्यधिक, रुकरुककर, थोड़ी थोड़ी मात्रा में अनेक बार, गाढ़ी तथा सशूल मूत्र प्रवृत्ति होती है । चरक विमान अ. ५ । मूत्रवेगधारणजन्य रोगों में बस्ति और लिंग में शूल, मूत्रकृच्छ्र, शिर:शूल, वेदनाकाल में शरीर का झुक जाना और वंक्षण प्रदेश में आनाह यह लक्षण उत्पन्न होते है । इनमें से अधिकांश लक्षण वात की प्रधानता प्रदर्शित करते है । इसलिये स्वेदन, अवगाह अभ्यङ्ग, घी का अवपीडन व तीनों प्रकार की बस्तियों का प्रयोग यह इस सूत्र में वर्णित चिकित्सा उचित लगती है । वातज मूत्रकृच्छ्र में भी चरक ने वातनाशक तैलों का अभ्यङ्ग, स्नेह और निरुह बस्ति, उपनाह, उत्तरबस्ती, कटिपरिषेक इनका प्रयोग करने के लिये कहा है । च. चि. २६/४५ । इसलिये इन दोनों चिकित्सा में विरोध नहीं है ।

इस सूत्र में अवपीडन शब्द पर टिप्पणि करते हुए चक्रपाणि कहते है, 'अवपीडको बहुमात्रप्रयोग:, मात्राधिकत्वेन हि भेषजं दोषान् पीडयतीति कृत्वा' । अर्थात् अवपीडक का अर्थ है प्रचूर मात्रा में प्रयोग । अधिक मात्रा में औषध का प्रयोग दोषों को निचोडकर निकालता है । अष्टांग संग्रह और हृदयकार ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है,

**मूत्रजेषु तु पाने च प्राग्भक्ताच्छस्यते घृतम् ।**
**जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रयायोजनाद्वयम् ।।**
**अवपीडकमेतच्च संज्ञितं धारणात्पुनः ।।** अ. सं. सू. ५/१०

मूत्रवेगावरोधजन्य व्याधियों में वर्ती, अभ्यङ्ग, अवगाह, स्वेदन इत्यादी के साथ साथ भोजन के पूर्व एवं भोजन के पच जाने पर उत्तम मात्रा में घृतपान करें । इस प्रकार दो बार किये घृत पान का शास्त्रीय नाम अवपीडक है ।

## ३. स्वेदोपक्रम–

स्वेदवह स्रोतस की दुष्टी में ज्वर की चिकित्सा करनी चाहिये ऐसा च. वि.

अ. ५ में कहा है। मूल सूत्र पुरिषोपक्रम के विमर्श में देखिये। स्वेदवह स्रोतस की दुष्टिलक्षणों में स्वेद का नहीं आना, स्वेदाधिक्य, त्वचा का रुक्ष होना, अङ्गों में परिदाह, रोमहर्ष ये लक्षण उत्पन्न होते है। च. वि. ५। चरकाचार्य ने ज्वर तथा उदररोग की संप्राप्ति में स्वेदवहस्रोतों की विकृति का उल्लेख किया है।

ज्वरसम्प्राप्तौ............रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधाय............। च. चि. १ तथा च. चि. १३।

इन सभी संदर्भों को ध्यान में रखकर जिस प्रकार का लक्षण समुच्चय रोगी में प्रकट होता है उसके समान अवस्था में ज्वर में जो चिकित्सा बताई है उसका प्रयोग करना चाहिये। ज्वर चिकित्सा में अवस्थानुरूप परिवर्तन अपेक्षित रहता है। इसलिये ज्वर का कोई सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त चरकाचार्य ने नहीं दिया है।

## ४. शुक्रावरोधजन्य रोग चिकित्सा–

**तत्राभ्यङ्गोऽवगाहश्च मदिरा चरणायुधाः।**
**शालिः पयो निरुहश्च शस्तं मैथुनमेव च।।** च. सू. ७/११

अभ्यङ्ग, अवगाहन, मदिरापान, मुर्गे के मांस का भक्षण, शाली चावल तथा दूध का सेवन, निरुह बस्ति और मैथुन, यह शुक्रवेगावरोधजन्य रोगों में हितकर होता है।

शुक्र का वेग धारण करने पर मेढ्र तथा वृषण में शूल, अङ्गमर्द, हृदय भाग में वेदना तथा मूत्रावरोध यह लक्षण निर्माण होते है। यह सभी मुख्यतः वातवृद्धिजन्य दिखाई देते हैं। इसलिये अभ्यङ्ग के लिये वातशामक तेल तथा निरुहबस्ती भी वातशामक द्रव्यों से युक्त होनी चाहिये। यहां पथ्य में शालिचावल तथा दूध का प्रयोग बताया है लेकिन बस्ती भी दूध में सिद्ध करके देनी चाहिये ऐसा सुश्रुत और अष्टांग संग्रह तथा हृदयकार का मत है। उन्होंने बस्तिशुद्धिकर तृणपंचमूल जैसे द्रव्यों को क्षीर में सिद्ध कर बस्ति देनी चाहिये ऐसा कहा है।

**बस्तिशुद्धिकरावापं चतुर्गुणजलं पयः।**
**आवारिनाशक्वथितं पीतवन्तं प्रकामतः।।**
**रमयेयुः प्रियानार्यः शुक्रोदावर्तिनं नरम्।** सु. उ. अ. ५५
**बस्तिशुद्धिकरैः सिद्धं भजेत् क्षीरम्।**

अ. सं. सू. ५/२४, अहृ. ४/२२

अष्टांगहृदयकार ने न सिर्फ वेगधारण को बल्कि बलात् वेग उत्पन्न करने को भी रोगकारक माना है। रोगाः सर्वेऽपिजायन्ते वेगोदीरणधारणैः। अ. हृ. ४/२३।

अरुणदत्त ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है वेगउदीरण अथवा धारण वायु के कर्म है। उसे बलात् करने पर वायु प्रकुपित होकर सर्व शरीर में जाकर रोग उत्पन्न करता है।

## ५. अपान वायु अवरोधजन्य रोग चिकित्सा–

**स्नेह स्वेद विधिस्तत्र वर्तयो भोजनानि च।**
**पानानि बस्तयश्चैव शस्तं वातानुलोमनम्।।** च. सू. ७/१३

स्नेहन, स्वेदन, वर्ति, वातानुलोमक भोजन तथा वातानुलोमक द्रव्यों से सिद्ध बस्ति का प्रयोग अपानवायु अवरोधजन्य रोग चिकित्सा में करना चाहिये।

सिर्फ वातानुलोमक अन्नपान को छोड़कर अन्य सभी उपक्रम पुरीष वेग धारण जन्य रोगों जैसे ही है। वहां प्रमाथी अन्नपान का तथा यहां वातानुलोमक अन्नपान का सेवन बताया है। अपानवायु के क्षेत्र में विकृति होने के कारण चिकित्सा में भी विशेष अंतर नहीं है। अपानवायु के अवरोध से पुरीष, मूत्र तथा वायु का सङ्ग अर्थात् रुकावट, आध्मान, क्लम (थकान), उदरपीड़ा तथा वात से सम्बन्धित अन्य रोग होते है। अष्टांग हृदयकार ने इसके साथ-साथ गुल्म, अग्निमांद्य, दृष्टिमांद्य तथा हृद्रोग भी निर्माण होता है ऐसा कहा है। चिकित्सा में अष्टांगहृदयकार ने इसी सूत्र को दोहराया है लेकिन इसमें जो शस्तं शब्द आया है वह औषधीवाचक है ऐसा उनका कहना है। आगे अ. हृ. चि. २२/७४ में शस्त को भेषज या औषधी का पर्याय माना है। इसलिये अन्य उपक्रमों के साथ साथ वातशामक औषधियों का प्रयोग करने के लिये भी अ. हृ. कार ने बताया है।

## ६. छर्दी वेग रोकने से उत्पन्न रोग चिकित्सा–

**भुक्त्वा प्रच्छर्दन धूमो लङ्घनं रक्तमोक्षणम्।**
**रुक्षान्नपानं व्यायामो विरेकश्चात्रशस्यते।।** च. सू. ७/१५

खाने के बाद शीघ्र वमन, धूमपान, उपवास, रक्तमोक्षण, रुक्ष अन्नपान का सेवन, व्यायाम और विरेचन यह छर्दीका को रोकने से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा है।

छर्दी का वेग धारण करने से कण्डू, कोठ, भोजन में अरुचि, व्यङ्ग, शोथ, पाण्डु, ज्वर, कुष्ठ, हृल्लास और विसर्प यह रोग होते है। च. सू. ७/१४। अष्टांग हृदयकार ने इसके साथ साथ नेत्ररोग, कास तथा श्वास का भी अंतर्भाव छर्दिवेगधारण-जन्य रोगों में किया है। आमाशय यह कफ का स्थान है। और वमन भी मुख्यत: कफशोधन के लिये दिया जाता है। इसलिये छर्दिवेगावरोधजन्य रोगों में कफ प्रकोप से उत्पन्न रोगों का अंतर्भाव स्वाभाविक है। लंघन, रुक्षान्नपान तथा व्यायाम मुख्यत:

कफ का शमन करने वाले है। खाने के बाद शीघ्र वमन भी कफनिःसारण मे सहायक होता है। इसके कारण उत्पन्न त्वचारोगों के लिये रक्तमोक्षण और विरेचन बताया गया है। धूमपान भी कफनिःसारक होना चाहिये।

इस चिकित्सा में सुश्रुत और दोनों वाग्भटों ने और कुछ उपक्रमों को जोड़ा है। यथा–

**छर्द्याघातं यथादोषं सम्यक्स्नेहादिभिर्जयेत्।**
**सक्षारलवणोपेतमभ्यङ्गं चात्र दापयेत्।।** सु. उ. ५५
**गण्डूषधूमानाहाराः रुक्षं भुक्त्वा तदुद्वमः।**
**व्यायामःस्रुतिरस्रस्य शस्तं चात्रविरेचनम्।।** अ. सं. सू. ४
**सक्षारलवणंतैलमभ्यङ्गार्थं च शस्यते।** अ. हृ. ४/१९

सुश्रुत ने मुख्यतः सम्यक स्नेहन तथा क्षार व लवणयुक्त अभ्यङ्ग का प्रयोग तथा वाग्भट ने गंडूष, धूम, रुक्षान्नसेवन के बाद वमन, व्यायाम, रक्तमोक्षण, विरेचन, सक्षारलवण तैलाभ्यङ्ग यह उपक्रम बताये है।

## ७. छींक का वेग रोकने से उत्पन्न रोग चिकित्सा–

**तत्रोर्ध्वजत्रुकेऽभ्यङ्ग स्वेदो धूमः सनावनः।**
**हितं वातघ्नमाद्यं च घृतं चौत्तरभक्तिकम्।।** च. सू. ७/१७

उर्ध्वजत्रुगत भाग में वातनाशक तैलों में अभ्यङ्ग, धूमपान, नस्य, वातशामक भोजन तथा भोजनोत्तर घृतपान छींक का वेग रोकने से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा है। छींक का वेग रोकने से मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, अर्दित, अर्धावभेदक और ज्ञानेन्द्रियों की दुर्बलता यह रोग होते है। यह सभी रोग उर्ध्वजत्रुगत तथा वातप्रधान रहने के कारण नस्य, उर्ध्वजत्रुगत स्वेदन, इत्यादि चिकित्सा बतायी गयी है। वाग्भटने,

**तीक्ष्णधूमाञ्जनाघ्राण नावनार्कविलोकनैः।**
**प्रवर्तयेत्क्षुतिं सक्तां स्नेहस्वेदौ च शीलयेत्।।**
अ. हृ सू. ४/१२

ऐसा कहा है। अर्थात् तीक्ष्ण धूमपान, अंजन, नस्य, तीक्ष्ण औषधियों का प्रधमन नस्य, सूर्य की तरफ देखना, यह उपक्रम बताये है। इनका उद्देश्य छींकलाना है। इसी के साथ साथ वातशमनार्थ स्नेहन स्वेदन करने को भी कहा है।

## ८. उद्गार वेगधारणजन्य रोग चिकित्सा–

**उद्गारनिग्रहात्तत्र हिक्कायास्तुल्यमौषधम्।** च. सू. ७/१८

उद्‌गारवेगधारणजन्य रोग की चिकित्सा हिक्का रोग के समान करनी चाहिये। हिक्का की चिकित्सा श्वास के समान ही की जाती है। जिसका मुख्य उद्देश्य कफ का शोधन तथा वातानुलोमन होता है। इसलिये हिक्का रोग में सर्वप्रथम सेंधानमक और तिलतैल का वक्ष प्रदेश पर मर्दन करने के बाद स्निग्ध द्रव्यों से युक्त नाड़ी स्वेद या प्रस्तर स्वेद या संकर स्वेद करना चाहिये। इस प्रकार स्नेहन स्वेदन करने से स्रोतों में गांठ के समान बना हुआ कफ द्रवीभूत हो जाता है और स्रोतस मृदु हो जाता है जिससे वायु का अनुलोम प्रवाह हो जाता है। यहीं चिकित्सा उद्‌गारवेगधारणजन्य रोगों में करनी चाहिये। हिक्का, श्वास, भोजन में अरुचि, कम्प, हृदय और छाती में जकड़ाहट यह उद्‌गारवेगधारणजन्य रोग कहे गये है।

सुश्रुत ने वेगधारणजन्य रोग तो नहीं बताये है लेकिन सु. उ. ५५ में जो नौ प्रकार के उदावर्त बताये है उनमें उद्‌गार का उल्लेख है। वाग्भट ने चरक के ही श्लोक उद्धृत किये है।

## ९. जृम्भावेगधारणजन्यरोग चिकित्सा–

**जृम्भयानिग्रहात्तत्र सर्वं वातघ्नमौषधम्।** च. सू. ९/१९

जृंभानिग्रहजन्य रोगों में वातघ्न औषधियों का प्रयोग करें।

जृंभावेग धारण करने से शरीर का झुकना, संकोच, शून्यता तथा कम्प यह रोग होते है। सुश्रुत ने मन्यास्तम्भ, गलस्तम्भ, शिरोविकार, कर्णनाद इत्यादि लक्षण बताये है। वाग्भट ने छींक के वेग को रोकने से उत्पन्न रोग ही जृंभावेगधारणजन्य भी होते है ऐसा कहा है लेकिन उसकी चिकित्सा वातशामक बतलायी है। ऊपर वर्णित सभी विकार वातोत्पन्न होने से वातशामक चिकित्सा का प्रयोग स्वाभाविक है। लेकिन अवस्था, स्रोतस व अवयव के अनुसार उसमें उचित परिवर्तन अपेक्षित है।

## १०. क्षुधावेगनिग्रहजन्य रोग चिकित्सा–

**क्षुद्वेगनिग्रहात्तत्र स्निग्धोष्णं लघुभोजनम्।** च. सू. ७/२०

क्षुधावेगनिग्रहजन्यरोगों मे स्निग्ध, उष्ण तथा लघुभोजन ही चिकित्सा है।

चरकाचार्य ने कार्श्य, दौर्बल्य, वैवर्ण्य, अङ्गमर्द, अरुचि तथा भ्रम यह क्षुधावेग निग्रहजन्य रोग कहे है। सुश्रुत ने तन्द्रा, अंगमर्द, अरुचि, भ्रम, अग्निमांद्य तथा कृशता व वाग्भटने अङ्गभङ्ग, अरुचि, ग्लानि, कार्श्य, शूल, भ्रम को क्षुधावेगनिग्रहजन्य रोगों में गिनाया है। चिकित्सा में भी वाग्भट ने चरक का ही अनुसरण किया है।

## ११. पिपासावेगनिग्रहजन्य रोग चिकित्सा–

**पिपासानिग्रहात्तत्र शीतं तर्पणमिष्यते।** च. सू. ७/२१

पिपासावेगधारणजन्य रोगों में शीतल द्रव्यों से तर्पण क्रिया करनी चाहिये। पिपासावेगधारण करने से कण्ठ और मुख का सुखना, बहरापन, थकावट, अवसाद और हृदय में पीड़ा यह रोग होते है। यह सभी शरीर में जलीयांश की कमी से उत्पन्न लक्षण है। वाग्भट ने भी शोष, अंगसाद, बाधिर्य, संमोह तथा हृद्रोग व सुश्रुत ने कंठशोष, श्रवणावरोध, तृष्णाभिघात तथा हृदये व्यथा यह लक्षण बताये है। वाग्भट ने शीतोपचार से इसका प्रतिकार करने को और सुश्रुत ने शीतल मन्थ तथा यवागु का प्रयोग करने को कहा है।

## १२. अश्रुवेगनिग्रहजन्य रोग चिकित्सा–

**बाष्पनिग्रहणात्तत्र स्वप्नो मद्यं प्रियाः कथाः।** च. सू. ७/२२

वाष्प (अश्रु) वेगधारणजन्य रोगों में शयन, मदिरापान और प्रिय लगने वाली कथाए सुनाना हितकर होता है।

अश्रुस्राव कुछ नेत्ररोगों में, नासारोगों में या मानसिक उत्तेजनाओं के फलस्वरूप होता है। नेत्र तथा नासारोगजन्य अश्रुस्राव को रोका नहीं जा सकता, लेकिन मानसिक उत्तेजना, जैसे हर्ष या दुःख, के फलस्वरूप उत्पन्न अश्रुस्राव को रोकने का प्रयास किया जाता है। कुछ लोग अपनी भावनाओं पर नियंत्रण पाने का प्रयास करते है जिसके फलस्वरूप अश्रुवेग को रोका जाता है। सामान्यतया शरीरिक रोगों में अश्रुस्राव से आंखें स्वच्छ करने की क्रिया होती है और मानसिक उत्तेजना के फलस्वरूप अश्रुस्राव से मन हलका होता है। इस वेग को रोकने से प्रतिश्याय, नेत्ररोग, हृदय के रोग, भोजन में अरुचि और भ्रम ये लक्षण निर्माण होते है। यहां मुख्यतः मानसभावजन्य अश्रुवेग का संबंध होने से चिकित्सा भी मन को हलका करनेवाली कही गयी है।

वाग्भट ने पीनस, शिरोरोग, नेत्ररोग, हृद्रोग, मन्यास्तंभ, अरुचि, गुल्म और भ्रम इन रोगों की अश्रुवेगनिग्रहजन्य रोगों में गणना की है लेकिन चिकित्सा चरकोक्त ही बतायी है। सुश्रुत ने नेत्ररोग के निदान में अश्रुनिरोध का भी उल्लेख किया है। सु. उ. अ. ५५।

## १३. निद्रावेगधारणजन्य रोग चिकित्सा–

**निद्राविधारणात्तत्र स्वप्नं संवाहनानि च।** च. सू. ७/२३

निद्रावेगधारणजन्य रोगों में शयन और संवाहन, अर्थात् हात पैर दबाना श्रेयस्कर होता है।

निद्रा के वेग को रोकने से जृंभा, अंगमर्द, तंद्रा, शिरोगौरव, अक्षिगौरव यह

रोग होते है ऐसा कहा है। वस्तुत: यह निद्रा न होने के कारण उत्पन्न लक्षण है। थके हुए शरीर को विशेषत: नाडितंतुओं को, मांसपेशियों को विश्राम देने के लिये निद्रा की उत्पत्ति होती है। कई बार निद्रा न होने से मानसिक विक्षोभ भी उत्पन्न होता है जिसका उल्लेख किसी ग्रंथकार ने नहीं किया है।

इसकी प्रधान चिकित्सा शयन अर्थात् निद्रा लेना है। लेकिन कई बार ऐसा देखा जाता है कि एकबार निद्रा का अवरोध करने से आसानी से दुबारा निद्रा नहीं आती। इसलिये हाथपाव दबाने को कहा है। वाग्भट ने भी यही चिकित्सा बतायी है। लेकिन सुश्रुत ने दूध पिलाकर सुंदर सुंदर कथाओं को कहते हुए निद्राधीन होने को कहा है।

**निद्राघातेपिबेत्क्षीरं सुप्याच्चेष्टकथारतः** । सु. उ. ५५

## १४. श्रमजन्यनिःश्वासवेगधारणजन्य रोग चिकित्सा–

**जायन्ते तत्र विश्रामो वातघ्न्यश्च क्रिया हिताः** । च. सू. ७/२४

श्रमजन्यनिःश्वासवेग धारणजन्य रोगों में विश्राम और वातनाशक आहारविहार का सेवन करना हितकर होता है।

किसी भी प्रकार के श्रम करने पर श्वासगति बढ़ती है। इसे सामान्य भाषा में हांफना भी कहते है। यह शरीर की बढ़ी हुई प्राणवायु की आवश्यकता को पूर्ण करने का शरीर का प्रयास है। आयुर्वेद की दृष्टि से यह प्राण और उदानवायु का कार्य है। इसे बलात् रोकने से प्राण और उदान का प्रकुपित होना स्वाभाविक है। चरकाचार्य ने श्रमजन्य श्वासवेग धारण से गुल्म, हृदयरोग और मूर्च्छा रोग होते है ऐसा कहा है। वाग्भट ने भी इसी का अनुमोदन किया है। यह श्रमजन्य होने से विश्राम इसकी प्रधान चिकित्सा है। यहां प्राण और उदान की दुष्टी होने से वातनाशक आहारविहार का सेवन स्वाभाविक रूप से हितकर होगा। श्रमजन्य श्वास में सुश्रुत ने मांसरस का सेवन लाभकर बताया है।

**भोज्यो रसेन विश्रान्तः श्रमश्वासातुरो नरः** । सु. उ. ५५

## १५. मलवृद्धि और मलक्षय चिकित्सा–

**तान्दोषलिङ्गैरादिश्य व्याधीन् साध्यामुपाचरेत् ।**
**व्याधिहेतुप्रतिद्वन्द्वैर्मात्राकालौ विचारयन्** ।। च. सू. ७/४४

उन (मलवृद्धि और मलक्षय से उत्पन्न) रोगों का दोषों की वृद्धि क्षय लक्षणों के आधार पर ज्ञान कर, जो उनमें से साध्य रोग हो उनकी चिकित्सा मात्रा और काल

का विचार कर व्याधि प्रतिद्वन्द्व तथा हेतुप्रतिद्वन्द्व औषध और आहारविहार द्वारा करनी चाहिये।

चरकाचार्य ने मलों के वृद्धि तथा क्षय को जानने के लिये दो सामान्य नियम बताए है।

१. मलमार्गों में भारीपन तथा मलों के सङ्ग अर्थात् रुक जाने से मलवृद्धि का ज्ञान होता है।

२. मलमार्गों में हलकापन तथा मलों के अति उत्सर्ग से मलक्षय का ज्ञान होता है। च. सू. ७/४३

आगे सूत्रस्थान के १७वे अध्याय में मलक्षय से उत्पन्न लक्षणों का स्वतंत्र वर्णन भी है। लेकिन हर प्रकार के मलक्षय की स्वतंत्र चिकित्सा का वर्णन नहीं है।

अष्टांगसंग्रहकार ने वृद्धि और क्षय का मन पर प्रभाव बताते हुए उसकी चिकित्सा का एक सामान्य नियम बताया है। यह नियम न सिर्फ मलों को बल्कि दोष धातुओं को भी लागू होता है।

**यदन्नं द्वेष्टि यदपि प्रार्थयेताविरोधि तु।**
**तत्तत्यजन् समश्नंश्च तौ तौ वृद्धि क्षयौ जयेत्।।**

अ. सं. सू. १९/४०

अर्थात् जिस किसी अविरोधी अन्न के प्रति द्वेष होता है उसका परित्याग करने से वृद्धि पर और जिस अन्न की प्रबल इच्छा होती है उसका सेवन करने से क्षय पर विजय प्राप्त होती है।

अष्टांग हृदय में पुरीष, मूत्र तथा स्वेद के वृद्धि क्षय की चिकित्सा स्वतंत्र रूप से वर्णित है। जैसे–

**विड्वृद्धिजानतीसारक्रियया विट्क्षयोभ्दवान्।**
**मेषाजमध्यकुल्माषयवमाषद्वयादिभिः।**
**मूत्रवृद्धिक्षयोत्थांश्च मेहकृच्छ्रचिकित्सया।**
**व्यायामाभ्यञ्जनस्वेदमद्यैः स्वेदक्षयोभ्दवान्।।**

अ. हृ. सू. ११/३२-३३

अर्थात् मलवृद्धिजन्यविकारों में अतिसार चिकित्सा तथा मलक्षयजन्य विकारों में मेष तथा अज का मध्यभाग, कुल्माष, यव, माषद्वय इनका सेवन करना चाहिये। मूत्रवृद्धि में प्रमेह चिकित्सा और मूत्रक्षय में मूत्रकृच्छ्रचिकित्सा करनी चाहिये।

स्वेदक्षयजन्य विकारों में व्यायाम, अभ्यङ्ग, स्वेदन तथा मद्यपान की योजना करनी चाहिये।

मलायनों में गुदा, मूत्रमार्ग तथा लोमकूपों के अतिरिक्त दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासा तथा मुख का अंतर्भाव होता है। उसमें पुरीष, मूत्र तथा स्वेद प्रमुख है। अश्रु का उल्लेख वेगावरोध जन्य रोगों में आया है। नेत्रादि में उपस्थित अन्य अतिसूक्ष्म मलो का क्षय अथवा वृद्धि निश्चित करना कठिन है ऐसा अष्टांग हृदयकार का मत है।

●

## चतुर्थोऽध्याय:

# सामान्य चिकित्सा सूत्र

### १. शारीर एवं मानस रोगों का चिकित्सा सूत्र–

**प्रशाम्यत्यौषधै: पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयै: ।**
**मानसो ज्ञानविज्ञान धैर्यस्मृतिसमाधिभि: ।।** च. सू. १/५८

दैवव्यपाश्रय और युक्तिव्यपाश्रय औषध से शारीरिक दोष (रोग) शान्त होते है। और ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति और समाधि से मानस दोष (रोग) शान्त होते है।

शरीर और मन दोनों रोगों के आश्रयस्थान है। कहा भी है, शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधिनामाश्रयो मत: । च. सू. १/५५ । वातपित्तकफ यह शरीर दोष और रज तथा तम ये मानस रोग माने जाते है। आयुर्वेद की और एक मान्यता है कि कुछ रोग पूर्वकर्मज होते है। पूर्व जन्म में किये हुए कुछ पापों का फल रोग स्वरूप में इस जन्म में भुगतना पड़ता है। कुछ पुराने वैद्य जब साध्य व्याधि चिकित्सा से ठीक नहीं होता तब उसे पूर्वकर्मज मानते है और दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का आधार लेते है। कुछ लोगों का ये मानना है कि ज्योतिष की सहायता से जन्मपत्री के आधार पर ये बताया जाना संभव है कि इस व्यक्ति विशेष में उत्पन्न रोग पूर्वजन्मकृत है या नहीं। आज दैवव्यपाश्रय चिकित्सा वैद्यगणों के हाथ से निकलकर ओझाओं के हाथ में चली गई है। शायद ही कोई आयुर्वेद तज्ञ होगा जो इस चिकित्सा को जानता हो। सूत्रस्थान अध्याय ग्यारह में चरकाचार्य ने औषध के तीन प्रकार बताते समय दैवव्यपाश्रय व युक्तिव्यपाश्रय के साथसाथ सत्वावजय का भी उल्लेख किया है। त्रिविधमौषधमिति- दैवव्यपाश्रयम्, युक्तिव्यपाश्रयं, सत्वावजयश्च। और सत्वावजय का वर्णन करते समय जिससे चिकित्सा में अहित अर्थो से मन को रोका जाता है उसे सत्वावजय कहते है ऐसा कहा है। यथा, सत्वावजय:–पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रह: । अर्थात् इसमें ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि आदि का अंतर्भाव हो जाता है।

प्रशाम्यत्यौषधै:...इस सूत्र पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि यहां दोष शब्द व्याधि इस अर्थ में आया है। क्योंकि व्याधि विकृत दोषों से भिन्न नहीं है। दोषग्रहणेन तज्जन्या व्याधयोऽपि गृह्यन्ते, विकृतदोषादन्यत्वाद् व्याधिनाम्। 'दैवव्यपाश्रय' इस शब्द पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का उल्लेख प्रथम आने का कारण उसका तत्काल कार्यकारित्व और सहजता है। एतच्च प्रथममुक्तं सद्योऽक्लेशेन च व्याधिप्रशमकत्वात्। लेकिन पूरे चरकसंहिता में अन्यत्र

ऐसा कहीं उल्लेख या निर्देश नहीं आया है। अपितु युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा को ज्यादा महत्व दिया है। ऐसी वैद्यपरंपरा भी नहीं है कि जिसमें पहले दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का प्रयोग कर तत्पश्चात् युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा की जाती हो। इसलिये चक्रपाणि की यह टिप्पणी युक्तिसंगत नहीं लगती।

युक्तिव्यपाश्रय इस शब्द पर टिप्पणी में चक्रपाणि ने संशोधन, संशमन इत्यादि के युक्तियुक्त प्रयोग का अंतर्भाव युक्तिव्यपाश्रय में किया है। यथा–युक्तिर्योजना शरीरभेषजयोर्हितो यो योगस्तपेक्षं संशोधन संशमनादि युक्तिव्यपाश्रयमुच्यते। गंगाधर ने युक्तिर्योजना दोषदूष्यमानदेशकालवयोऽग्निबलप्रकृत्याद्यनुरूपेण क्वथितादिकल्पन-भक्षणमानादिभि: प्रयोगस्तेन द्वारेण विशेषण अपव्याधिनां वर्जनमाश्रयन्ति यानि (तानि युक्तिव्यपाश्रयाणि) ऐसा कहा है। यहां व्यपाश्रय शब्द का अर्थ 'विशेषण अप व्याधीनां वर्जनमाश्रयन्ति तानि' अर्थात् जो विशेष रूप से व्याधि को निकाल देता है, ऐसा किया है। गंगाधर ने व्यपाश्रय शब्द का और एक अर्थ निदान परिवर्जन ऐसा भी किया है। यथा–व्यपाश्रयपदेन कालबुद्धिन्द्रियार्थानामयोगादि कारण वर्जनं ज्ञापितं, नहि कारणसेवने सति विशेषेण व्याधीनां वर्जनं भवति।

मानसरोगों के उपक्रमों पर चक्रपाणि और गंगाधर में मत भिन्नता है। चक्रपाणि ने ज्ञान को अध्यात्म ज्ञान, विज्ञान को शास्त्रज्ञान, धैर्य को अनुन्नति चेतस्, स्मृति को अनुभूतार्थ स्मरणं अर्थात् पुराने अनुभवों का पुन:स्मरण और समाधि को विषयों से निवृत्त होकर मन का आत्मा में एकाग्र होना माना है। गंगाधर ने ज्ञान को समदर्शी बुद्धि माना है जो कर्तव्य तथा अकर्तव्य, हित तथा अहित इसका भेद जानती है। यह बुद्धि पुराण, इतिहास, शास्त्र वाक्य इनके श्रवणपठनादि से प्राप्त होती है। विज्ञान यह सत्य का ज्ञान है। ब्रह्म ही सत्य है और जगत् असत्य। धैर्य को गंगाधर ने विषयप्रवण मन को नियंत्रित करनेवाली शक्ति (या बुद्धि) कहा है।

इसी विषय को वाग्भट ने और थोड़ा स्पष्ट किया है। वे कहते है,

**शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्।**
**बस्तिर्विरेकोवमनं तथा तैलं घृतं मधु।**
**धीधैर्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम्।।**

अ. हृ. सू. १/२५-२६

वात पित्त कफ से उत्पन्न सभी शरीर विकारों में क्रमश: बस्ति विरेचन और वमन तथा तैल घृत और मधु श्रेष्ठ औषध है। वैसे ही धी धैर्य तथा आत्मविज्ञान सभी मनोदोषों की परमौषध है। अर्थात् वात के संशोधन के लिये बस्ति व शमन के लिये तैल, पित्त के शोधन के लिये विरेचन और शमन के लिये घृत, तथा कफ

के शोधन के लिये वमन और शमन के लिये मधु का प्रयोग श्रेष्ठ है। धी, धैर्य इत्यादि पर टिप्पणी करते हुए अरुणदत्त कहते है, तत्र धीर्बुद्धिर्बाह्याध्यात्मिकानां भावानां हिताहितपरिच्छेदविभागकारिणी। धैर्यं धृतिश्चेतसः स्थिरत्वमचापलम्। येन प्रतिषिद्धेषु न प्रवर्तते हितेषु च न सीदति। आत्मविज्ञानं योगाभ्याससमाधिना परमात्मस्वरूप विज्ञानम्। आदिग्रहणाज्ज्ञानविज्ञानस्मृतिदेशकालादीनां परिग्रहः।

## २. साध्य रोगों का चिकित्सा सूत्र–

**विपरीतगुणैर्देशमात्राकालोपपादितैः ।**
**भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकाराः साध्यसम्मताः ।।** च. सू. १/६२

विपरीत गुण वाले औषधियों का देश मात्रा काल को ध्यान में रखकर किया गया प्रयोग साध्य रोगों को नष्ट करता है।

'विपरीत गुणैः' पर टिप्पणी करते हुए योगीन्द्रनाथजी ने हेतुव्याधिविपरीत, विपरितार्थकारी का भी ग्रहण करने को कहा है। वे कहते है, विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्वातादीनां प्रशमनमुक्त्वा तथाविधैर्भेषजैः साध्यविकाराणामेन प्रशममाह-विपरीतेति। विपरीत गुणैः हेतुव्याधि विपरीतैः विपरीतार्थकारिभिर्वा। वक्ष्यति च–सर्वविकाराणामपि च निग्रहे हेतुव्याधिविपरीतमौषधमिच्छान्ति कुशलाः।

योग्य मात्रा की व्याख्या चक्रपाणि ने 'मात्रा अनपायिपरिमाणम्' अर्थात् जिससे अपाय या नुकसान नहीं होता वह योग्य मात्रा है ऐसा कहा है। देश शब्द को लेकर कुछ मतभेद है। सामान्य अर्थ में भूवातावरणीय परिस्थिति (Geoclimetic condition) देश शब्द से ध्वनित होती है। रोगी का शरीर इस अर्थ में भी देश शब्द का प्रयोग होता है। चक्रपाणि ने दोष, भेषज, देश, काल, बल, शरीर, आहार सात्म्य, सत्व, प्रकृति और वय इन सभी का अंतर्भाव देश और काल में किया है। एवं दोष भेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्वप्रकृतिवयसां परीक्ष्याणां दशविधानां सर्वेषामेव ग्रहणं भवति। चक्रपाणि

## ३. निज-आगन्तु रोग सम्बन्ध–

**आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमपिप्रवृद्धः ।**
**तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यग् ज्ञात्वा ततः कर्मसमारभेत ।।**

च. सू. १९/७

आगन्तुज रोग निज विकारों से और बढ़ा हुआ निज विकार आगन्तुज रोग से अनुबन्ध स्थापित करता है। इस अवस्था में पहले कौन सा विकार उत्पन्न हुआ और बाद में कौन सा इसका विचार कर पहले उत्पन्न रोग की चिकित्सा प्रधान रूप से करनी चाहिये।

अनुबन्ध का अर्थ है सम्बन्ध स्थापित करना। वो यहां 'लक्षणों में परिवर्तन' इस अर्थ में लिया गया है। आगन्तुज विकार जब निज विकार से अनुबन्ध स्थापित करता है तब कुछ लक्षण निज विकारों जैसे जो मुख्यतः वात पित्त कफ पर आधारित है, दिखने लगते है। ऐसी अवस्था में प्रधान रोग कौन सा और उसके अप्रधान लक्षण कौन से इसे जाने बगैर चिकित्सा संभव नहीं होती। यही स्थिति निज विकार के बारे में भी उत्पन्न हो सकती है चरकाचार्य ने ही आगे रोगानीकविमान अध्याय में दोषों के अनुबन्ध्य व अनुबन्ध यह दो प्रकार बताकर अनुबन्ध को अप्रधान माना है।

'आगन्तुरन्वेति'........इस सूत्र पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि प्रवृद्ध शब्द में प्र उपसर्ग यह ध्वनित करता है कि आगन्तुज रोगों में भी निज दोषों की वृद्धि होती है। लेकिन यह वृद्धि अल्प मात्रा में होने के कारण अपने लक्षण निर्माण करने में असमर्थ रहती है। 'अपि प्रवृद्ध' इति वचनेन आगन्तु अवस्थायामपि निजदोषो वृद्धोऽस्त्येव, परं प्रवृद्धौऽसौ न भवति स्वलक्षणाकर्तृत्वेनेति दर्शयति। अनुबन्ध पर टिप्पणी करने हुए वे कहते है कि अनुबन्ध पीछे से जुड़नेवाला है, प्रकृति अनुबन्ध्य अर्थात प्रधान है। अनुबन्धः पश्चात्कालजातः, प्रकृतिर्मूलभूतः, सम्यग् ज्ञात्वा बलवत्वाबलवत्वादिना। किं वा, अनुबन्धः अप्रधानः, प्रकृतिः अनुबन्ध्यः प्रधानमित्यर्थः। चक्रपाणि

## ४. संतर्पणजन्य रोगों की सामान्य चिकित्सा–

**शस्तमुल्लेखनं तत्र विरेको रक्तमोक्षणम्।**
**व्यायामश्चोपवासश्च धूमाश्च स्वेदनानि च।**
**सक्षौद्रश्चाभयाप्राशः प्रायोरुक्षान्नसेवनम्।**
**चूर्णप्रदेहा ये चोक्ताः कण्डूकोठविनाशनाः॥**

च. सू. २३/८-९

इसमें (संतर्पणजन्य रोगों में) वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण, व्यायाम, उपवास, धूमपान, स्वेदन, अभयाप्राश का मधु के साथ सेवन, प्रायः रुक्ष अन्न का सेवन पहले बताये गये, (आरग्वधीय अध्याय) कंडू व कोठनाशक चूर्ण और प्रदेहों का उपयोग करना हितकर होता है।

इसके पश्चात चरकाचार्य ने संतर्पणजन्य रोगों में प्रयुक्त कई योगों का व उपक्रमों का वर्णन किया है। सामान्य रूप से संतर्पण की चिकित्सा अपतर्पण से व अपतर्पण की चिकित्सा संतर्पण से की जाती है। इसी अध्याय के २५वे श्लोक में संतर्पणजन्य आहारविहार का वर्णन करते हुए चरकाचार्य ने कहा है कि नित्य व्यायाम करने वाला, भोजन के पूर्ण पचने पर ही भोजन करने वाला तथा जौ, गेंहू

का भोजन करने वाला पुरुष संतर्पणकृत दोष तथा स्थौल्य से छुटकारा पाता है।

**व्यायामनित्यो जीर्णाशी यवगोधूमभोजनः ।**
**संतर्पणकृतैर्दोषैः स्थौल्यं मुक्त्वाविमुच्यते ।।** च. सू. २३/२५

यहां व्यायाम और भोजन का पुनरुल्लेख महत्वपूर्ण है। यह हमारे जीवन के अविभाज्य अंग अर्थात् जीवनपद्धति का एक हिस्सा बन सकते है। अन्य उपक्रम यह चिकित्सोपक्रम है। इसलिये व्यायाम और आहार को दोहराया गया है। वाग्भट ने भी द्विविधोपक्रमणीय अध्याय में अपतर्पण चिकित्सा पर अच्छा प्रकाश डाला है। यव और गोधूम के विषय में वो किसके साथ पकाये जाते है इसका भी स्पष्ट उल्लेख किया है। यवका प्रयोग तैल तक्रादि से सिद्धकर करने पर अपतर्पण होता है। और गोधूम का प्रयोग घृत और क्षीर के साथ संतर्पण करता है।

### ५. अपतर्पण जन्यरोग चिकित्सा–

**सद्यःक्षीणो हि सद्यो वै तर्पणेनोपचीयते ।**
**नर्तेसन्तर्पणाभ्यासाच्चिरक्षीणस्तु पुष्यति ।।** च. सू. २३/३१

सद्य क्षीण अर्थात् शीघ्रता से क्षीण होने वाले रोगियों में शीघ्र सन्तर्पण का प्रयोम शीघ्र लाभकारी होता है या शीघ्रता से तृप्त कर पुष्ट बनाता है और चिरक्षीण रोगियों में दीर्घकालीन संतर्पणाभ्यास के बिना लाभ नहीं होता।

चरकाचार्य ने दो प्रकार के संतर्पण का वर्णन किया है। एक है तत्काल शरीर को तृप्त करने वाला और दूसरा है दीर्घकाल अभ्यास से तृप्त करने वाला। जो व्यक्ति शोक, चिन्ता, आघात, साहस, अधिक शारीरिक श्रम जैसे कारणों से कम समय में क्षीणता को प्राप्त हुआ है उसके लिये सद्यः संतर्पक औषधी लाभदायक रहती है। इसके विपरीत दीर्घकालीन रोग इत्यादि से जिसकी धातुएं धीरे धीरे क्षीण हो रही हो उसे दीर्घकाल तक संतर्पण का प्रयोग करना चाहिये। इस अवस्था में मांस रस, दूध, घृत, स्नान, स्नेह बस्ति का प्रयोग, अभ्यङ्ग तथा शरीर को तृप्त करनेवाले आहार द्रव्यों का सेवन करने के लिए कहा है। च. सू. २३/३२

वाग्भट ने बृंहण चिकित्सा के लिये योग्य व्यक्ति और रोगों का वर्णन करते हुए मांस, दूध, शर्करा, घी, मधुर, स्निग्ध बस्ति, निद्रा, शय्या पर पड़े रहना, अभ्यङ्ग और चित्त का समाधान तथा रंजन से बृंहण करने के लिये कहा है। अ.हृ.सू. १४/९

### ६. विरुद्धाहारजन्य रोग चिकित्सा–

**विरुद्धायनजान्रोगान् प्रतिहन्तिविरेचनम् ।**
**वमनं शमनं चैव पूर्वं वा हितसेवनम् ।।** च. सू. २७/१०५

विरुद्धाहार से उत्पन्न रोगों को विरेचन, वमन और शमन नष्ट कर देता है। यदि पूर्व से ही हितकर आहार का सेवन किया जाता है तो यह रोग उत्पन्न नहीं होते।

चरकाचार्य ने वैरोधिक आहार के अठारा घटकों का वर्णन किया है। जैसे देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, अग्निविरुद्ध, मात्राविरुद्ध, सात्म्यविरुद्ध, दोषविरुद्ध संस्कार विरुद्ध, वीर्यविरुद्ध, कोष्ठविरुद्ध, अवस्थाविरुद्ध, क्रमविरुद्ध, परिहारविरुद्ध, उपचारविरुद्ध, पाकविरुद्ध, संयोगविरुद्ध, हृदयविरुद्ध, संपद् विरुद्ध और विधिविरुद्ध। इसके साथ साथ विरुद्धाहारजन्य २३ रोगों की तालिका भी है। जैसे नपुंसकता, अन्धापन, विसर्प, जलोदर, विस्फोट, उन्माद, भगन्दर, मूर्च्छा, मद, आध्मान, गलग्रह, पाण्डुरोग, आमविषजन्य रोग (विसूचिका, अलसक, विलम्बिका), किलास (श्वेतकुष्ठ), कुष्ठ, ग्रहणी, शोथ, अम्लपित्त, पीनस, ज्वर, सन्तान दोष। वाग्भट ने कई और रोगों को इसमें जोड़ा है। जैसे शोक, मद, विद्रधि, गुल्म, यक्ष्मा, तेज, बल, स्मृति, इनका नाश, ज्वर, अम्लपित्त, अष्टौ महागद (वातव्याधि, प्रमेह, कुष्ठ, अर्श, भगन्दर, अश्मरी, मूढगर्भ, उदर) इत्यादि।

विरेचन, वमन और शमन यह इसकी सामान्य चिकित्सा है। लेकिन यह ध्यान में रहे कि इन रोगों का हेतु विरुद्धाहार ही होना चाहिये। अन्य हेतुओं से उत्पन्न इन रोगों में यह चिकित्सोपक्रम नहीं चलेगा। यहां शमन शब्द से विरुद्ध आहार के विपरीत गुणयुक्त द्रव्यों का प्रयोग करना अपेक्षित है। कहा भी है, तद्विरोधिनां च द्रव्याणां संशमनार्थमुपयोगः। इसमें और एक महत्वपूर्ण बात कही है। यदि हमें विरुद्धाहार करना है इसकी पूर्व सूचना हो तो समान गुणों से युक्त या समानधर्मी द्रव्यों के सेवन से शरीर संस्कारित करना। विरुद्धाहार विष समान है। इसलिये वह आमाशय में हो तो वमन से और पक्वाशय में हो तो विरेचन से उसका निर्हरण करना चाहिये। वाग्भट ने जो पदार्थ दोषों को स्वस्थान से उत्क्लिष्ट करते है लेकिन बाहर नहीं निकालते ऐसे सभी पदार्थों को विरुद्ध माना है और उनका शोधन तथा तद्विरुद्ध पदार्थ से शमन करने को कहा है। अ. हृ. सू. ७/४५

## ७. तिलतैल तथा एरण्ड तैल का प्रयोग–

**सर्वेषां तैलजातानां तिलतैलं विशिष्यते।**
**बलार्थेस्नेहनेचाग्रमैरण्डंतु विरेचने।।** च. सू. १३/१२

शरीर में बलाधान तथा स्नेहन के लिये तिल तैल और विरेचन के लिये एरण्ड तैल श्रेष्ठ है।

सभी तैलों में तिलतैल की अपनी विशेषता है। तैल शब्द की उत्पत्ति ही तिल से हुई है। तिलस्य विकारः तैलम्। शायद भारतियों ने सबसे पहले तैल का निर्माण

तिल से ही किया होगा। समूचे आयुर्वेद वाङ्मय में जहां कहीं तैल शब्द आया है उससे तिल तैल का ही ग्रहण किया जाता है। सुश्रुत ने भी तिलतैल की महत्ता का वर्णन किया है। जैसे–

**सर्वेभ्यस्त्विहतैलेभ्यस्तिलतैलं विशिष्यते।**
**निष्पत्तेस्तद्गुणत्वाच्च तैलत्वमितरेष्वपि।।** सु. सू. ४५

कुछ समय के बाद तैल शब्द सामान्य नाम हो गया जिसका उल्लेख चक्रपाणि ने किया है। अत्र यद्यपि योगात्तिलभवमेव तैलं, तथापि रुढ्येह सर्व एव स्थावरस्नेहास्तैलमित्युच्यन्ते। चक्रपाणि

## ८. स्रोतस चिकित्सा सूत्र–

**प्राणोदकान्नवहानां दुष्टानां श्वासिकी क्रिया।**
**कार्यातृष्णोपशमनी तथैवामप्रदोषिकी।।**

च. वि. ५/२६

प्राणवहस्रोतस दुष्ट होकर रोगोत्पत्ति होने पर श्वासरोग वर्णित चिकित्सा, उदकवह स्रोतोदुष्टी में तृष्णारोगनाशक चिकित्सा व अन्नवहस्रोतस की दुष्टी में आमदोष नाशक चिकित्सा की जाती है।

अन्य स्रोतसों के दुष्टि चिकित्सा की चर्चा धातूपक्रम तथा मलोपक्रम में हुई है। इस अध्याय में स्रोतोदुष्टिलक्षणों में सिर्फ सामान्य लक्षणों का वर्णन आया है। दोषविशिष्ट लक्षणों का वर्णन चरकाचार्य ने अतिविस्तार के भय से नहीं किया है।

श्वास रोगियों में सर्वप्रथम सैंधवयुक्त तिलतैल से स्नेहन कराकर स्वेदन करने को कहा है। तत्पश्चात धूमपान कराना चाहिये जिससे लीन दोष बाहर निकल सके। इस चिकित्सा से प्राणवह स्रोतस में उत्पन्न संग और विमार्गगमन में निश्चित लाभ होगा। अतिप्रवृत्ति की अवस्था में वमन का प्रयोग ज्यादा लाभकर होगा।

उदकवह स्रोतोदुष्टी में दोषों का विचार किये बिना चिकित्सा नहीं होगी। लेकिन ऐंद्र जल का प्रयोग शायद सभी अवस्थाओं में लाभप्रद रहेगा।

अन्नवह स्रोतस दुष्टी की चिकित्सा अपतर्पण से अर्थात् लंघन से शुरु करनी चाहिये। तत्पश्चात हेतुविपरीत चिकित्सा को छोड़कर रोग विपरीत औषध का सेवन करना चाहिये।

## ९. उत्तम स्नेहमात्रा–

**प्रभूतस्नेहनित्या ये क्षुत्पिपासासहनराः।**

**पावकश्चोत्तमबलो येषां ये चोत्तमा बले ।।**
**गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये ।**
**उन्मत्ताः कृच्छ्रमूत्राश्च गाढवर्चस एव च ।।**
**पिबेयुरुत्तमां मात्राम्................** च. सू. १३/३१,३२

जो पुरुष प्रतिदिन प्रभूत मात्रा में स्नेह सेवन का अभ्यासी हो, जो भूख और प्यास के वेग को सहन कर सकता हो, जिसका जठराग्नि बलवान हो, जिसका शारीरिक बल उत्तम हो ऐसे पुरुष, गुल्म रोगी, जिसे सांपने कांटा हो, जो विसर्प उन्माद तथा मूत्रकृच्छ रोग से पीड़ित हो तथा जिसका मल सूखा निकलता हो वे मनुष्य उत्तम मात्रा में स्नेहपान कर सकते हैं।

इसमें आगे, 'विकाराञ्छमयत्येषा शीघ्रं सम्यक्प्रयोजिता' अर्थात् इस मात्रा का सम्यक् प्रयोग करने से विकारों का तत्काल शमन होता है, ऐसा कहा है। इसका मतलब यह स्नेहमात्रा शमन चिकित्सा के लिये है ऐसा समझना चाहिये।

## १०. स्नेह की हीनमात्रा–

**ज्वरातिसारकासाश्च येषां चिरसमुत्थिताः ।**
**स्नेहमात्रांपिबेयुस्ते ह्रस्वां ये चावरां बले ।।** च. सू. १३/३९

जो व्यक्ति चिरकालिक ज्वर, अतिसार तथा कास से पीडित हो और अल्प बलवाले हो उन्हें स्नेह की ह्रस्व मात्रा पीनी चाहिये।

स्नेह की तौल के अनुसार मात्रा बताने का श्रेय शारंगधर को जाता है। उन्होंने १ पल और ४ कर्ष की उत्तम मात्रा, तीन कर्ष की मध्यम मात्रा व दो कर्ष की ह्रस्व मात्रा बताई है। एक कर्ष एक तोला के बराबर होता है।

**देया दीप्ताग्नये मात्रा स्नेहस्य पलसम्मिता ।**
**मध्यमाय त्रिकर्षास्यात जघन्याय द्विकार्षिकी ।।**

शा. सं. खंड ३/७

अर्थात्– प्रदीप्त अग्निवाले, बलवान् व्यक्तिको एक पल, मध्यम अग्नि/बल वाले व्यक्ति को तीन कर्ष व हीन बल वाले व्यक्ति को दो कर्ष स्नेह की मात्रा देनी चाहिये।

## ११. सदा रोगी की चिकित्सा–

**समीरणं वेगविधारणोद्धतं विबन्धसर्वाङ्ग रुजाकरं भिषक् ।**
**समीक्ष्य तेषां फलवर्तिमादितः सुकल्पितां स्नेहवतीं प्रयोजयेत् ।।**

च. सि. ११/३१

वेगावरोध से (मलमूत्रादि के) प्रकुपित वायु का अवरोध होकर वह विबन्ध, सर्वांग पीडा उत्पन्न करती है । चिकित्सक को चाहिये की वायु की इन अवस्था की समीक्षा कर सर्वप्रथम अच्छी प्रकार बनाई हुई स्नेहयुक्त फलवर्ती का प्रयोग करें ।

सदारोगी कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में महर्षी भरद्वाज ने श्रोत्रिय, राजा के नौकर, वेश्या एवं व्यापारी इनके नाम लिये है और कहा है कि मलमूत्रादि के वेग को रोकना, समय पर भोजन नहीं करना तथा मिथ्याहारविहार करने से ये चार प्रकार के लोग नित्य रोगी होते है । फलवर्ती के पश्चात चरकाचार्य ने इन सदातुर व्यक्तियों में निरुह और अनुवासन का प्रयोग करने के लिये कहा है ।

### १२. अनुक्त रोग चिकित्सा–

**रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा बहुत्वान्नामरुपतः ।**
**तेषामप्ये तदेव स्याद्दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम् ।।** च. चि. ३०/२९१

नाम और लक्षणों की अनेकता के कारण जो रोग यहां नहीं बताए है उन रोगों में भी दोष आदि का विचार कर इन्हीं औषधियों का प्रयोग करना चाहिए ।

वर्तमान काल में आयुर्वेद चिकित्सक के लिये यह सूत्र एक दीपस्तंभ समान है । आधुनिक चिकित्साशास्त्र रोज नये नये रोग की व रोगावस्था की खोज कर रहा है । कई बार रुग्ण आधुनिक चिकित्साशास्त्र के आधार पर निदान निश्चित कर चिकित्सा के लिए आयुर्वेद चिकित्सक के पास आता है । इस अवस्था में उपरोक्त चिकित्सा सूत्र के आधार पर चिकित्सा करना संभव होता है ।

### १३. विपरित चिकित्सा–

**दोष दूष्य निदानानां विपरीतं हितं ध्रुवम् ।**
**उक्तानुक्तान् गदान् सर्वान् सम्यग्युक्तंनियच्छति ।।**

च. चि. ३०/२९२

जो औषध दोष, दूष्य व निदान विपरीत होता है व निश्चित रूप से हितकर होता है । उचित रूप से औषध प्रयोग जो बताए है और जो नहीं बताए है उन सभी रोगों को दूर करता है ।

दोष प्रत्यनिक चिकित्सा का वर्णन आयुर्वेद ग्रंथों में सर्वत्र है । निदान परिवर्जन भी चिकित्सा ही कहलायी जाती है । दूष्य विपरित चिकित्सा स्वतंत्र रूप से वर्णित नहीं है लेकिन प्रत्यक्ष चिकित्सा में उसका विचार किया जाता है । उसके सिवाय चिकित्सा सफल नहीं होती ।

## १४. चिकित्सा में देश का महत्व–

**आस्यादामाशयस्थान् हि रोगान् नस्तः शिरोगतान् ।**
**गुदात् पक्वाशयस्थांश्च हन्त्याशुदत्तमौषधम् ।।**
च. चि. ३०/२९४

**शरीरावयवोत्थेषु विसर्पपिडिकादिषु ।**
**यथादेशं प्रदेहादि शमनं स्याद्विशेषतः ।।** च. चि. ३०/२९५

आमशयस्थ या आमाशय समुदभव व्याधियों में मुख मार्ग से दी गयी औषधियां, शिर:प्रदेश में होनेवाले रोगों में नासामार्ग से दी गयी औषधियां व पक्वाशय समुदभव रोगों में गुदमार्ग से प्रविष्ट औषधियां रोग को शीघ्र ही नष्ट करती है। वैसे ही शरीर के विभिन्न अवयवों में उत्पन्न विसर्प, पीडिका आदि रोगों में विशेषकर विशिष्ट अवयवानुसार प्रदेह आदि का प्रयोग रोग का शमन करता है।

यहां देश से मनुष्य शरीर का ग्रहण किया है। शरीर के अन्यान्य भागों में होनेवाले रोगों में यह 'देश' विचार महत्वपूर्ण होता है।

## १५. चिकित्सा में काल का महत्व–

**दिनातुरौषधव्याधि जीर्ण लिङ्गत्व वेक्षणम् ।**
**कालं विद्याद्दिनावेक्षः पूर्वान्हे वमनंतथा ।।** च. चि. ३०/२९६
**रोग्यवेक्षोयथा प्रातर्निरन्नो बलवान् पिबेत् ।**
**भेषजं लघुपथ्यान्नैर्युक्तमद्यात्तु दुर्बलः ।।** च. चि. ३०/२९७
**भैषज्यकालो भुक्तादौ मध्येपश्चान्मुहुर्मुहुः ।**
**सामुद्गं भक्तसंयुक्तं ग्रासग्रासान्तरे दश ।।** च. चि. ३०/२९८

काल को जानना या काल का सम्यग् योग याने दिन, रोगी, औषध, व्याधि, जीर्ण लक्षण व ऋतु का विचार कर उसके अनुसार चिकित्सा करना है। जैसे दिन के पूर्व भाग में वमन करना चाहिए अर्थात् सुबह जल्दी वमन करना चाहिए। रोगी की अपेक्षा से काल का विचार करना चाहिए, जैसे बलवान रोगी सुबह खाली पेट औषध सेवन करें अथवा दुर्बल रोगी लघु व पथ्य अन्न में मिलाकर औषधी का सेवन करें। औषध की अपेक्षा काल का विचार करना चाहिए, जैसे भोजन के पूर्व, भोजन के मध्य, भोजन के पश्चात, बार बार, दो आहारकाल के मध्य, भोजन के साथ मिलाकर, भोजन के ग्रास में, दो ग्रासों के बीच में इस प्रकार दस औषधी सेवन काल प्रयोग में लाये जाते है।

### १६. दस औषध सेवन काल का प्रयोग–

**अपाने विगुणे पूर्वं समाने मध्यभोजनम् ।**
**व्यानेतु प्रातराशीतमुदाने भोजनोत्तरम् ।।** च. चि. ३०/२९९
**वायौ प्राणे प्रदुष्टे तु ग्रासग्रासान्तरिष्यते ।**
**श्वासकासपिपासासुत्ववचार्यं मुहुर्मुहुः ।।** च. चि. ३०/३००
**सामुदगं हिक्किने देयं लघुनाऽन्नेन संयुतम् ।**
**संभोज्यं त्वौषधं भोज्यैर्विचित्रैररुचौ हितम् ।।** च. चि. ३०/३०१

विगुण अपान में भोजन के पूर्व, रोगी बलवान हो तो प्रातःकाल भोजन के पहले, विकृत समान में आहार के मध्य में, विकृत व्यान में सुबह भोजन के पश्चात्, विकृत उदान में सायंकाल भोजन के बाद, प्राण वायु के विकृति में ग्रास में औषधी मिलाकर औषध सेवन करना चाहिए। हिक्का, श्वास, पिपासा रोग में बार बार औषधी का प्रयोग करें। हिक्का रोग में सामुद्ग अर्थात् लघु अन्न के साथ व अरुचि रोग में अनेक प्रकार के चित्र विचित्र आहार द्रव्यों के साथ हितकर औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने रात्रि को मिलाकर ग्यारह औषध सेवन काल व शारंगधर ने पांच औषध सेवनकाल बताए है।

### १७. व्याधि अपेक्षा काल का उदाहरण–

**ज्वरे पेयाः कषायाश्च क्षीरं सर्पिर्विरेचनम् ।**
**षडहे षडहे देयं कालं वीक्ष्यामयस्य च ।।** च. चि. ३०/२०२

रोग के काल अर्थात् अवस्था को देखकर ज्वर में हर छठवे दिन पेया, कषाय, दूध, घृत व विरेचन का प्रयोग करना चाहिए।

### १८. विपरीतार्थकारी चिकित्सा–

**पित्तमन्तर्गतं गूढं स्वेदसेकोपनाहनैः ।**
**नीयते बहिरुष्णैर्हि तथोष्णं शमयन्ति ते ।**
**बाह्यैश्च शीतैः सेकाद्यैरूष्माऽन्तर्याति पीडितः ।।**
च. चि. ३०/३२३

**सोऽन्तर्गूढं कफं हन्ति शीतं शीतैस्तथा जयेत् ।**
**श्लक्ष्णपिष्टो घनोलेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत् ।।**
च. चि. ३०/३२४

**त्वग्गतस्योष्मणो रोधाच्छीतकृच्चान्यथाऽगुरोः ।**
**छर्दिघ्नी मक्षिकाविष्ठा मक्षिकैव तु वामयेत् ।।**

च. चि. ३०/३२५

**द्रव्येषु स्विन्नजग्धेषु चैव तेष्वेव विक्रिया ।**

अंतर्मार्ग में निगूढ़ पित्त स्वेदन, सेक व उपनाह द्वारा बाहर निकल कर उष्ण प्रयोग से ही शान्त हो जाता है । वैसे ही बाह्य शीतोपचार के कारण उष्मा शरीर के अंतमार्ग में जाकर छिपे हुए कफ को नष्ट करती है और इस प्रकार शीत प्रयोग से कफ की शान्ति होती है । यदि बारिक पीसे हुए चंदन का गाढ़ा लेप त्वचा पर लगाया जाय तो त्वचा से निकलनेवाली गर्मी रुक जाती है और दाह लक्षण उत्पन्न होता है । और यदि पतला लेप लगाया जाय तो शीतलता उत्पन्न होती है । मक्षिका विट् का सेवन करने से वमन रुक जाता है लेकिन मक्षिका पेट में चले जाने पर तुरंत वमन होता है । इसी प्रकार उन्हीं द्रव्यों को उबालने पर भिन्न गुण व बिना उबाले भिन्न गुण दिखाई देता है ।

यह अंतिम उदाहरण हरडे का है । हरडे के चूर्ण से विरेचन होता है लेकिन उसे उबालकर पीने से अतिसार रुकता है । कहा भी है, स्विन्ना संग्रहणी प्रोक्ता भृष्टा प्रोक्ता त्रिदोषनुत् ।

•

## पंचमोऽध्यायः

# पंचकर्म

### १. स्नेहन के योग्य–

**रुक्षाशनाः कर्मनित्या ये नरा दीप्तपावकाः ।**
**तेषां दोषाः क्षयं यान्ति कर्मवातातपाग्निभिः ।।**
**विरुद्धाध्यशनाजीर्ण दोषानपि सहन्तिते ।**
**स्नेह्यास्ते मारुताद्रक्ष्या ना व्याधौ तान् विशोधयेत् ।।**

च. क. १२/८१-८२

रुक्ष आहार करने वाले, निरंतर कार्यरत रहनेवाले और जिसकी अग्नि तीक्ष्ण हो ऐसे व्यक्ति के दोष, कर्म, वायु, धूम, अग्नि सेवन से नष्ट हो जाते है । ऐसा व्यक्ति विरुद्धाहार, अध्यशन, अजीर्ण इत्यादि से उत्पन्न दोषों को सह लेता है । अर्थात् इनसे उत्पन्न दोषों से आक्रान्त नहीं होता । ऐसे व्यक्तियों को स्नेहन कराना चाहिये । इनके शरीर में वातप्रकोप न हो इसका ध्यान रखते हुए वायु की रक्षा करनी चाहिये । यदि संशोधन की आवश्यकता न हो तो संशोधन न देवें ।

### २. स्नेह का अतियोग–

**नातिस्निग्धशरीराय दद्यात् स्नेहविरेचनम् ।**
**स्नेहोत्क्लिष्ट शरीराय रुक्षं दद्याद्विरेचनम् ।।**

च. क. १२/८३

अतिस्निग्ध व्यक्ति में स्नेह विरेचन नहीं देना चाहिये । स्नेहोत्क्लिष्ट अर्थात् स्नेह के कारण जिस शरीर में दोष उत्किष्ट हुए हो, बढ़े हो, उन व्यक्तियों में रुक्ष विरेचन का प्रयोग करना चाहिये ।

### ३. पूर्वकर्म में आभ्यन्तर स्नेह मात्रा–(मध्यम)

**आरुष्कस्फोटपिडिकाकण्डूपामाभिरर्दिता ।**
**कुष्ठिनश्चप्रमीढाश्च वातशोणितिकाश्चये ।।**
**नातिबव्हाशिनश्चैव मृदुकोष्ठास्तथैव च ।**
**पिबेयुर्मध्यमां मात्रां मध्यमाश्चापि ये बले ।।**

च. सू. १३/३५-३६

अरुष्क (छोटी फुंसियां), स्फोट (बड़े फफोले), पिडका, कंडू, पामा, कुष्ठ, प्रमेह, वातरक्त इन रोगों से पीडित व्यक्ति तथा अधिक न खानेवाले, मृदुकोष्ठी, मध्यम बल वाले व्यक्तियों को स्नेह की मध्यम मात्रा पीनी चाहिये।

आयुर्वेदानुसार स्नेह को पचने में जो समय लगता है उसके आधार पर स्नेह की मात्रा निश्चित होती है, न कि उसके वजन से। जिस मात्रा को पचने में दिनभर का अर्थात् बारह घंटे का समय लगता है उसे मध्यम मात्रा कहा है। मध्यम मात्रा का प्रयोग विशेष रूप से शोधन कर्म करने के पूर्व किया जाता है। चरकाचार्य ने शोधनार्थे च युज्यते ऐसा कहा भी है। सुश्रुत ने भी १२ घंटे में पचने वाली मात्रा ग्लानि, मूर्च्छा और मद इन तीन रोगों को छोड़कर सामान्यत: सभी रोगों में लाभकर होती है ऐसा कहा है।

**या मात्रा परिजीर्येत्तु तथा परिणतेऽहनि।**
**ग्लानिमूर्च्छा मदान् हित्वा सा मात्रा पूजिता भवेत्।।**

सु. चि. ३१

चरकाचार्य ने स्नेह की मध्यम मात्रा को मन्दविभ्रंशा कहा है। क्योंकि इस मात्रा से स्नेहपान करने से अधिक उपद्रव निर्माण होने की संभावना नहीं रहती।

शोधनार्थ स्नेह देने का निश्चित समय भी चरकाचार्य ने बताया है। वे कहते है, शुद्ध्यर्थं पुनराहार नैशे जीर्णे पिबेन्नर:। अर्थात् रात्रि के खाये हुए अन्न का उचित रूप से पाचन हो जाने पर संशोधन के लिये स्नेह का पान करें। वाग्भट ने भी ह्यस्त ने जीर्ण एवान्ने स्नेहोऽच्छ: शुद्धये बहु। अर्थात् शोधनार्थ स्नेह पहले दिन का आहार पचने पर उत्तम मात्रा में देना चाहिये ऐसा कहा है।

स्नेहपान की उत्तम और हीन मात्रा का प्रयोग मुख्यत: शमन चिकित्सा में होता है इसलिये इन दोनों का वर्णन सामान्य चिकित्सासूत्र में किया गया है।

## ४. स्नेहाजीर्ण चिकित्सा–

**अजीर्णे यदि तु स्नेहे तृष्णास्याच्छर्दयेभ्दिषक्।**
**शीतोदकं पुन: पीत्वा भुक्त्वा रुक्षान्नमुल्लिखेत्।।**

च. सू. १३/७३

स्नेह के अजीर्ण होने पर यदि तृष्णा यह लक्षण उत्पन्न होता है तो वैद्य रोगी को वमन करावे। यदि इस पर भी तृष्णा शान्त न हो तो शीतल जल पिलाकर और रुक्ष अन्न खिलाकर पुन: वमन करावे।

तृष्णा का उत्पन्न होना यह स्नेहव्यापद में एक प्रधान लक्षण माना जाता है।

जो स्नेह जीर्ण नहीं हुआ है उसे बाहर निकालने के लिये वमन का विधान है। यदि वमन करा देने के बाद भी तृष्णा शान्त नहीं होती और वातकफ की प्रधानता रहती है उस समय रुक्ष अन्न (जैसे ज्वार, बाजरा) और शीतलजल सेवन के पश्चात फिर से वमन करने को कहा है जिससे वात और कफ की शान्ति होती है।

सुश्रुत ने भी स्नेहाजीर्ण में वमन करने को कहा है लेकिन उन्होंने उष्ण जलपान का प्रयोग करने के लिये कहा है। एवं चानुपशाम्यन्त्यां स्नेहमुष्णाम्बुना वमेत्। सु. चि. ३१। वाग्भट ने इन अवस्थाओं को और भी स्पष्ट किया है। उन्होंने तृष्णा उत्पन्न होने पर शीतल जलपान व अवगाह, इससे लाभ न हो तो शिर और मुख पर शीतल द्रव्यों का लेप, इससे भी लाभ न हो तो शीतलजल व रुक्ष अन्न सेवन के पश्चात वमन करने को कहा है। मात्र कफवात प्रकृति वाले अथवा समदोष वाले रुग्णों में उष्ण जल पिलाकर वमन कराने को कहा है। अ. सं. सू. २५/६०-६१

## ५. स्नेहव्यापद् चिकित्सा–

**तत्राप्युल्लेखनं शस्तं स्वेदःकालप्रतीक्षणम्।**
**प्रतिप्रतिव्याधिबलं बुद्ध्वास्त्रंसनमेव च॥**
**तक्रारिष्टप्रयोगश्च रुक्षपानान्नसेवनम्।**
**मूत्राणां त्रिफलायाश्च स्नेहव्यापत्तिभेषजम्॥**

च. सू. १३/७७-७८

वमन करना, स्वेदन करना, समय की प्रतीक्षा करना और प्रत्येक पुरुष का बल व व्याधी का बल देखकर विरेचन का प्रयोग करना, तक्रारिष्ट का प्रयोग करना, रुक्ष अन्न और पेय पदार्थों का सेवन, मूत्रों का प्रयोग तथा त्रिफला का सेवन करना यह उपक्रम स्नेहजन्य सभी प्रकार के उपद्रवों में प्रशस्त है। इससे अविधि स्नेह से उत्पन्न उपद्रवों की शान्ति होती है।

स्नेह व्यापद की गणना में चरकाचार्य ने तंद्रा, उत्क्लेश, आनाह, ज्वर, स्तम्भ विसंज्ञता, कुष्ठ, कंडू, पांडुरोग, शोथ, अर्श, अरुचि, तृष्णा, उदररोग, ग्रहणीदोष, स्तैमित्य, उदरशूल, आमदोष इनका उल्लेख किया है। वाग्भट ने अष्टांग संग्रह में इनके साथ साथ निद्राधिक्य, शोफ, बलहानि, जठर (उदररोग), दौर्बल्य, इंद्रिय दौर्बल्य, जाड्य, इन रोगों का भी उल्लेख किया है। स्नेह व्यापद चिकित्सा में भी भूखा एवं प्यासा रहना, वमन, रुक्षान्नपान, तक्रारिष्ट का प्रयोग (कुछ लोग इसे तक्र तथा अरिष्ट कल्पना का प्रयोग मानते है), तिल, सरसों के खलि का भक्षण, जौ, श्यामाक एवं कादो धान्य का सेवन तथा पिप्पली, त्रिफला, मधु, हरड, गोमूत्र और गुग्गुल का सेवन करने को कहा है। अ. सं. सू. २५/५४-५५

६. स्वेदातियोग चिकित्सा–

**उक्तस्तस्याशितीये यो ग्रैष्मिकः सर्वशो विधिः ।**
**सोऽतिस्विन्नस्यकर्तव्यो मधुरः स्निग्धशीतलः ।।**

च. सू. १४/१५

स्वेद का अतियोग होने पर तस्याशितीय अध्याय में ग्रीष्म ऋतुचर्या का जो वर्णन है उसके अनुसार मधुर, स्निग्ध, शीतल आहार विहार का पूर्ण रूप से, विधिपूर्वक प्रयोग करना चाहिये ।

'मधुर:स्निग्धशीतल:' पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि ने कहा है कि ग्रीष्म ऋतुचर्या पालन का निर्देश देने के बाद फिर से 'मधुर:स्निग्धशीतल:' का उल्लेख यह दर्शाता है कि यहां मद्यपान का पूर्ण निषेध अपेक्षित है । ग्रैष्मिकोविधि रित्यनेन लब्धे पुनर्मधुर: स्निग्धशीतल इत्यादि वचन 'मद्यमल्पं न वा पेयं' इत्यत्रोपदिष्टमद्यपानस्य प्रतिषेधार्थम्, मधुरशीतादियोगविशेषविधानार्थञ्च । चक्रपाणि । योगीन्द्रनाथ ने मधुरस्निग्धशीतल आहार विहार का प्रयोग स्तंभन कि लिये होता है ऐसा कहा है । तस्याशितीये अध्याये य: मधुर: स्निग्धशीतल: । एवं हि स्तंभनरूप: स भवति । अतिस्विन्नस्य स्तम्भनीयतयावक्ष्यमाणत्वात् । योगीन्द्रनाथ । इसके समर्थन में उन्होंने चरक सू. अ. २२/३३ को उद्‌धृत किया है । यथा–

**पित्तक्षाराग्निदग्धा ये वम्यतीसारपीडिताः ।**
**विषस्वेदातियोगार्ताः स्तम्भनीया निर्दशिताः ।।** च. सू. २२/३३

स्वेदातियोग चिकित्सा में स्तंभन का स्पष्ट उल्लेख वाग्भट ने किया है । स्वेदातियोगाच्छर्दिश्च तत्र स्तम्भनमौषधम् । अ. हृ. सू. १७/१७ । योगीन्द्रनाथ ने मधुर, स्निग्ध शीतल द्रव्यों से स्तम्भन होता है ऐसा कहा है । लेकिन वाग्भट ने मधुर के साथ कषाय और तिक्त रस को भी स्तंभक बताया है । प्रायस्तिक्तं कषायं च मधुरं च समासत: । अ. हृ. सु. १७/१८ । सरलार्थ में प्रत्यक्ष चिकित्सा में हम तिक्त, कषाय, मधुर, स्निग्ध, शीतल द्रव्यों का प्रयोग स्वेदाधिक्य में कर सकते है ।

७. दोषानुसार स्वेदन–

**वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते ।**
**स्निग्धरुक्षस्तथास्निग्धो रुक्षश्चाप्युपकल्पितः ।।**
**आमाशयगतेवाते कफे पक्वाशयश्रिते ।**
**रुक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च ।।**

च. सू. १४/८-९

वातकफज रोगों में स्निग्ध और रुक्ष, वातज विकारों में स्निग्ध और कफज विकारों में रुक्ष स्वेद का प्रयोग करना चाहिये।

वैसे ही वायु यदि आमाशय में कुपित हो तो प्रथम रुक्ष स्वेद का प्रयोग कर तत्पाश्चात स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन करना चाहिये। यदि पक्वाशय में कफ कुपित हो तो प्रथम स्निग्ध स्वेद का प्रयोग कर तत्पश्चात् रुक्ष द्रव्यों से स्वेदन कराना चाहिये। वाग्भट ने भी इसी मत को दोहराया है।

## ८. शोधन किसे करे–

**बहुदोषस्य लिङ्गानितस्मै संशोधनं हितम्।**
**उर्ध्वं चैवानुलोमं च यथादोषं यथाबलम्॥** च. सू. १६/१६

वृद्ध दोषों के जो लक्षण बताये है उनके आधार पर दोषों की बहुलता जानकर उस मनुष्य को बल और दोष के अनुसार संशोधन के लिये वमन या विरेचन द्रव्य पिलाना चाहिये।

इस सूत्र के पहले चरकाचार्य ने उदाहरण के तौर पर संशोधन योग्य वृद्ध दोषों से युक्त पुरुष के लक्षण बताए है। वे इस प्रकार है। (१) अविपाक (२) अरुचि (३) स्थौल्य (४) पाण्डु (५) गौरव (६) क्लम (७) फुन्सियां (८) चकत्ते (९) कंडू (१०) आलस्य (११) श्रम (१२) दौर्बल्य (१३) दौर्गन्ध्य (१४) अवसाद (१५) कफ और पित्त का उत्क्लेश (१६) निद्रानाश (१७) अतिनिद्रा (१८) तन्द्रा (१९) क्लैब्य (२०) बुद्धि का मोह होना (२१) बूरे स्वप्न दिखना (२२) बल और वर्ण का नाश (२३) तृष्णा (२५) बलवर्धक आहार सेवन करने पर भी बल का न बढ़ना। यहां कफ और पित्त के उत्केश का विशेष उल्लेख शायद आगे वमन और विरेचन का मुख्य रूप से उल्लेख होने के कारण रहा होगा। इन सभी लक्षणों को दोष वृद्धि के सामान्य लक्षणों के रूप में देखना उचित होगा न कि किसी व्याधि विशेष के विशेष लक्षण के रूप में।

## ९. सामान्य चिकित्सा सूत्र-वमन–

**उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये। वमनम्।**

च. सू. २/८

कफ तथा पित्त की वृद्धि व आमाशयाश्रित व्याधि होने पर वमन करें। अर्थान्तर से–कफ तथा पित्त आमाशय में आने पर आमाशयाश्रित व्याधियों में वमन करावें।

## १०. सामान्य चिकित्सा सूत्र-विरेचन

**पक्वाशय गते दोषे विरेकार्थं प्रयोजयेत्॥** च. सू. २/१०

दोष पक्वाशय में जानेपर (इन द्रव्यों से) विरेचन कराना चाहिए।

अग्र संग्रह में विरेचनं पित्तहराणां (श्रेष्ठः) कहा है उसे भी ध्यान में रखना चाहिये। वस्तुतः पक्वाशय वात का स्थान है और पच्यमानाशय पित्त का। लेकिन प्रकुपित दोष, विशेषतः पित्त, पक्वाशय में आने पर विरेचन देना चाहिये। कुछ विद्वानों के मतानुसार यहां पक्वाशय से पच्यमानाशय का ग्रहण करना चाहिये। लेकिन यह उचित नहीं लगता। यदि चरकाचार्य को पच्यमानाशय लिखना अपेक्षित होता तो वे पच्यमानाशय का उल्लेख कर सकते थे।

## ११. संशोधन के अतियोग की सामान्य चिकित्सा–

**अतियोगानुबद्धानां सर्पिःपानं प्रशस्यते।**
**तैलं मधुरकैः सिद्धमथवाऽप्यनुवासनम्।।** च. सू. १६/२४

(संशोधन के) अतियोग से पीडित व्यक्ति को घृतपान कराना चाहिये। और मधुर औषधियों से सिद्ध तैल की अनुवासन बस्ति देनी चाहिये।

संशोधन के अतियोग से शरीर दुर्बल होता है, धातुए क्षीण होती है। फल स्वरूप अग्नि भी मंद होता है। इसलिये कोई बृहणोपचार का उल्लेख यहां नहीं है। घृत और तैल के प्रयोग से बल वृद्धि, अग्नि वृद्धि होती है। इसलिये सिर्फ घृतपान और अनुवासन बस्ति का उल्लेख आया है।

## १२. संशोधन के अयोग की चिकित्सा–

**यस्य त्वयोगस्तं स्निग्धं पुनः संशोधयेन्नरम्।**
**मात्राकालबलापेक्षी स्मरन् पूर्वमनुक्रमम्।।** च. सू. १६/२५

जिस व्यक्ति के शरीर में संशोधन के अयोग के लक्षण उपस्थित हो जाय तो मात्रा, काल, बल की अपेक्षा रखने वाला वैद्य, पहले सेवन किये गये संशोधन की मात्रा आदि पूर्व अनुक्रम का स्मरण कर स्नेहन के बाद पुनः संशोधन करावे।

विषय बहुत स्पष्ट है। कुछ व्यक्तियों में संशोधन के लिये प्रयुक्त औषधी पच जाती है और उसका अपेक्षित परिणाम भी नहीं मिलता। यह अयोग कभी उपद्रव उत्पन्न करता है और कभी नहीं इस अवस्था में पहले सेवन किये गये संशोधन की मात्रा आदि की जानकारी लिये बिना पुनः संशोधन देना उचित नहीं है। इतना ही नहीं तो पूर्व कर्म के रूप में आवश्यक स्नेहन इत्यादि भी करना अपेक्षित है।

## १३. सामान्य चिकित्सा सूत्र-नस्य–

**......................दद्याच्छीर्षविरेचने।**

**गौरवे शिरसःशूले पीनसेऽर्धावभेदके ।**
**क्रिमिव्याधावपस्मारे घ्राणनाशे प्रमोहके ।।** च. सू. २/६

शिरोविरेचन (नस्य) का प्रयोग शिरोगौरव, शिर:शूल, पीनस, अर्धावभेदक कृमिज शिरोरोग, अपस्मार, गन्धज्ञान का नाश और मूर्च्छा की अवस्था में करना चाहिये ।

आयुर्वेद वाङ्मय में करीबन सत्तर ऐसी अवस्थाए वर्णित है जिसमे नस्य प्रयुक्त होता है । यहां सिर्फ उदाहरण के तौर पर कुछ रोगावस्थाओं का उल्लेख मात्र आया है ।

## १४. सामान्य चिकित्सा सूत्र-धूमपान

**धूमवक्त्रकपानस्य व्याधयः स्युः शिरोगताः ।।** च. सू. ५/३३

जो व्यक्ति मुखसे धूम पीता है उसे शिरोभाग मे बलवान व्याधियाँ नही होती । यहाँ मुख्यत: वातकफज व्याधी अपेक्षित है । कहा भी है, न च वातकफात्मानो बलिनोऽप्यूर्ध्वजत्रुजाः । या, वातकफसमुत्क्लेशः कालेष्वेषु हि लक्ष्यते । प्रायेगिक धूमपान के आठ काल बताये गये है क्योंकि इन आठ कालों में ही वात कफ का उत्क्लेश (प्रकोप) होता है और धूमपान से वातकफ का ही निर्हरण होता है । ये आठ काल है (१) स्नान के पश्चात (२) भोजन के पश्चात (३) वमन के बाद (४) छींक के बाद (५) दातौन के बाद (६) नस्य के बाद (७) अञ्जन के बाद (८) निद्रा के बाद । चरकाचार्य ने धूमपान से होनेवाले कई लाभों का भी वर्णन किया है जिसमें अधिकांश उर्ध्वजत्रुगत है ।

## १५. बस्तिप्रयोग–

**स्तब्धाश्च ये सङ्कुचिताश्चयेऽपि ये पङ्गवो येऽपि च भग्नरुग्णाः ।**
**येषां च शाखासु चरन्तिवाताः शस्तो विशेषेण हि तेषु बस्तिः ।।**

च. सि. १/३२

जिन व्यक्तियों में स्तब्धगात्रता हो अर्थात् जिनका शरीर जकड गया हो, संकुचित हो गया हो, जो पंगु हो, जिनमें अस्थिभग्न हुवा हो, शरीर में वेदना हो तथा जिनकी शाखाओं मे कुपित वायु गमन करती हो ऐसे व्यक्तियों में विशेष रूप से बस्ति का प्रयोग उत्तम होता है ।

सभी वातविकारों मे बस्ति प्रधान है । उनमे से कुछ का उल्लेख यहाँ किया गया हैं । उपरिनिर्दिष्ट अवस्थाएं उत्पन्न होने के लिए हेतु जो भी हो उसकी चिकित्सा

बस्ति ही है। चक्रपाणि ने भग्न रूग्णा: शब्द पर टिप्पणी करते हुए भग्ना: इति भग्नकाया: और 'रुग्णा: इति सन्धि मुक्ता:' ऐसा कहा है।

## १६. बस्तिप्रयोग–

**आध्मापने विग्रथिते पुरीषे शूले च भक्तानभिनन्दने च।**
**एवं प्रकाराश्च भवन्तिकुक्षौ ये चामयास्तेषु च बस्तिरिष्टः ।।**

च. सि. १/३३

आध्मान, मल का गांठदार होना, उदरशूल, अरुचि तथा इस प्रकार के अन्य जो कई विकार कुक्षि में (अर्थात् पेट में) होते है उन सभी रोगों में बस्ती का प्रयोग उत्तम होता है।

भक्तानभिनन्दने अरोचके। इति चक्रपाणि

## १७.

**याश्च स्त्रियो वातकृतोपसर्गा गर्भं न गृह्णन्ति नृभिः समेताः ।**
**क्षीणेन्द्रिया ये च नराः कृशश्च बस्तिः प्रशस्तः परमंचतेषु ।।**

च. सू. १/३४

वातरोग से पीड़ित जो स्त्री पति संसर्ग करने पर भी गर्भ ग्रहण (धारण) नहीं कर सकती, तथा जो मनुष्य क्षीणेन्द्रिय तथा कृश हो गया है ऐसे स्त्री पुरुषों के लिये बस्ति प्रयोग परम हितकारक होता है।

यहां कार्श्य (कृशता) को छोड़कर सभी प्रजनन संस्थान से संबंधित व्याधियों का उल्लेख है। यह कृशता भी क्षीण शुक्र के कारण हो सकती है। चक्रपाणि ने कहा भी है क्षीणेन्द्रिया इति अतिक्षीणशुक्रा:। यहां चक्रपाणि ने शुद्धवातविकारों में अनुवासन बस्ति का तथा अरुचि जैसे लक्षणों में निरुह बस्ति का प्रयोग करने के लिये कहा है। अत्र शुद्धवातादिष्वनुवासनं, भक्तानभिनन्दनप्रकारेषु च निरुह इत्याद्यथोऽनुसरणीय:। चक्रपाणि

## १८. सामान्य चिकित्सा सूत्र-बस्ति–

**तत्प्रत्यनीकौषधसंप्रयुक्तान् सर्वत्र बस्तीन् प्रविभज्य युञ्ज्यात् ।।**

च. सि. १/३५

(दोष) प्रत्यनिक अर्थात् विपरित गुणवाले औषध द्रव्यों से निर्मित बस्ति का निर्माण कर प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार विभाग कर सभी जगह अर्थात् सभी अवस्थाओं में बस्ति देनी चाहिये।

इस सूत्र के प्रथम श्लोकार्ध में चरकाचार्य ने उष्णता से पीड़ित रोगियों में शीतल द्रव्यों से सिद्ध शीतल बस्ति व शीत से पीडित रोगी में ईषत् उष्ण बस्तियों का प्रयोग करने के लिये कहा है। इसका अर्थ गुण विपरीत चिकित्सा यहां अपेक्षित है। चक्रपाणि ने कहा भी है, उष्णाभिभूते तथा शीताभिभूते इति वक्तव्ये, येन 'सर्वत्र' इति करोति, तेन स्निग्धरुक्षगुरुलध्वभिभूतेऽपि तद्विपरीतौषध संपादितो बस्तिर्देय इति दर्शयति। चक्रपाणि

## १९. स्नेहन काल–

**त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य उक्तः।**
**नातः परं स्नेहनमादिशन्ति सात्मी भवेत् सप्तदिनात् परंतु।।**

च. सि. १/६

तीन दिन से सात दिन तक स्निग्ध पुरुषों को स्वेदन करना चाहिये। सात दिन के बाद स्नेह सात्म्य हो जाने के कारण सात दिन के बाद स्नेहन नहीं करना चाहिये।

स्नेह की मात्रा मनुष्य के कोष्ठ और बल को देखकर निश्चित करनी चाहिये। कहा भी है,

**मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया।**
**स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः।।** च. सू. १३

अर्थात् मृदुकोष्ठी में तीन दिन में, क्रूर कोष्ठी में सात दिन में स्नेहन होता है। इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए चक्रपाणि ने मध्यम कोष्ठ वाले व्यक्ति में पांच दिन में स्नेहन हो जाता है ऐसा कहा हे। मतान्तर से त्रिषड् नवरात्रेण स्नेहपानं विधीयते, तीन, छे और नौ दिन तक स्नेहपान कराना चाहिये। लेकिन यह मत चरकाचार्य को मान्य नहीं है।

## २०. दोषानुसार बस्ति संख्या–

**एकं तथा त्रीन् कफजे विकारे पित्तात्मके पञ्च तु सप्त वाऽपि।**
**वाते नवैकादश वा पुनर्वा बस्तीनयुग्मान् कुशलो विदध्यात्।।**

च. सि. १/२५

एक या तीन बस्ति कफज विकार में, पित्तजन्य विकारों में पांच या सात तथा वातजन्य विकारों में नौ या ग्यारह बस्तियों का प्रयोग करें। कुशल वैद्य ने बस्तियां विषम संख्या में ही देनी चाहिये। सम संख्या में बस्ति नहीं देना चाहिये।

यह दोषानुसार अनुवासन बस्ति के नियम है। कफ और पित्त विकारों में अनुवासन निषिद्ध है। इसलिये यहां कफ से वातानुगत कफ और पित्त से वातानुगत

पित्त का ग्रहण करना चाहिये। इति चक्रपाणि। कफपित्तयोश्च यद्यप्यनुवासनं न विहितं, तथापि वातानुगतकफपित्तविषयतयैतद् बोद्धव्यम्। चक्रपाणि बस्ति के विषम संख्या के विषय में वे कहते हैं कि विषम संख्या में बस्ति प्रभाव से कार्य करती है। अयुग्मदानं प्रभावादेवा त्रोपकरीति महर्षिवचनाद् बोद्धव्यम्। सिद्धिस्थान प्रथम अध्याय के ४९वे श्लोक में सम संख्या में अनुवासन देने को कहा है। लेकिन वहां निरुह के अंगभूत अनुवासन का विधान बताया है। इसलिये वह सूत्र इस सूत्र के विरोधी नहीं समझना चाहिये। सुश्रुत ने भी चि. अ. ३७ में युग्म बस्ति देने का विधान बताया है।

## २१. यापन बस्तिव्यापद् चिकित्सा–

**अरिष्टक्षीरसीध्वाद्या तत्रेष्टा दीपनी क्रिया।**
**युक्त्या तस्मान्निषेवेत यापनान्न प्रसङ्गतः।।**

च. सि. १२/३१ (चरकोपस्कार)

अरिष्ट, दूध, सीधु इत्यादि का पान तथा अग्निदीपक औषधियों का प्रयोग यापन बस्ति के उपद्रव में करना चाहिये। यापन बस्ति का सेवन युक्तिपूर्वक करना चाहिये, प्रसङ्गवश भी इसका अधिक सेवन नहीं करना चाहिये।

शोथ, अग्निमांद्य, पाण्डु, शूल, अर्श, परिकर्तिका, ज्वर और अतिसार यह यापन बस्ति के उपद्रव कहे गये है। विशेष रूप से अतियोग के ये उपद्रव है। कई प्रकार की यापन बस्तियों का प्रयोग चरकाचार्य ने बताया है। उसके साथ साथ यापनाश्च बस्तयः सर्वकालं देयाः, ऐसा भी कहा है। फिर भी इसके अतियोग से बचना चाहिये।

## २२. रोगी बल तथा संशोधन–

**अकृत्स्नदोषहरणादशुद्धी ते बलीयसाम्।**
**मध्यावरबलानांतु प्रयोज्येसिद्धिमिच्छिता।।** च. क. १२/५७

संपूर्ण दोषों के न निकलने के कारण वे (मध्य और मृदु संशोधन) अशुद्धि रखनेवाले अर्थात् पूर्ण शुद्धि न करनेवाले होते है। चिकित्सा के सफलता की अपेक्षा रखनेवाले (वैद्य) को चाहिये की मध्य बल वाले व्यक्ति को मध्यम संशोधन व क्षीणबल वाले व्यक्ति को मृदु संशोधन देना चाहिये।

सरलार्थ मे, बलवान व्यक्ति के लिये तीक्ष्ण शोधन, मध्यम बल के लिये मध्यम शोधन व क्षीण बल व्यक्ति के लिये मृदु संशोधन का प्रयोग करना चाहिये। यहां संशोधन शब्द से मुख्यतः वमन और विरेचन का ग्रहण करना चाहिये।

## २३. रोगबल तथा संशोधन

**तीक्ष्णोमध्योमृदुर्व्याधिः सर्वमध्याल्पलक्षणः ।**
**तीक्ष्णादीनि बलावेक्षी भेषजान्येषुयोजयेत् ।।**

च. क. १२/५८

जिस रोग के संपूर्ण लक्षण रोगी में विद्यमान हो उसे तीक्ष्ण रोग, मध्यम लक्षण विद्यमान हो तो मध्यम रोग व अल्प लक्षण विद्यमान हो तो मृदु रोग कहा जाता है । रोग के बल की अपेक्षा करनेवाले वैद्य ने तीक्ष्ण रोग में तीक्ष्ण संशोधन, मध्यम रोग में मध्यम संशोधन व मृदु रोग में मृदु संशोधन की योजना करनी चाहिये ।

सरलार्थ में रोग बलवान हो, तो तीक्ष्ण संशोधन, मध्यम बल रोग में मध्यम संशोधन व अल्पलक्षण युक्त रोग में मृदु संशोधन देना चाहिये । लेकिन इसके साथ साथ रोगी के बल का भी विचार आवश्यक है । इसमे सामान्यतः निम्नलिखित नौ अवस्थाओं की कल्पना की जा सकती है ।

१. बलवान रोगी बलवान रोग– तीक्ष्ण संशोधन

२. बलवान रोगी और मध्यम बल रोग– तीक्ष्ण संशोधन– कहा भी है, अकृत्स्नदोष हरणादशुद्धी ते बलीयसाम् । सूत्र २० देखें

३. बलवान रोगी मृदु रोग– इसमें दो मत दिखाई देते है । प्रथम मतानुसार रोगी बलवान होने के कारण तीक्ष्ण संशोधन देना चाहिये (देखिये सू. २०), और द्वितीय मतानुसार अल्प दोष में मृदु औषधी का प्रयोग करना चाहिये । (देखिये च. क. १२/६७) इसका मध्यम मार्ग यह है कि दोषों के समुचित निर्हरण को महत्व देना चाहिये । यहां कोष्ठ का विचार पहले करना चाहिये और क्रूर कोष्ठ हो तो तीक्ष्ण या मध्यम औषधियों का व मृदु कोष्ठ हो तो मृदु औषधियों का प्रयोग संशोधन के लिये करना चाहिये । लेकिन अपरिज्ञात कोष्ठ में अर्थात् जिस कोष्ठ का अंदाजा न हो ऐसे में मृदु संशोधन ही दें ।

४. मध्यम बल रोगी और बलवान रोग– मध्यम संशोधन । क्योंकि तीक्ष्ण संशोधन से अतियोग की संभावना बनी रहती है । कहा भी है, न चातितीक्ष्णं यत् क्षिप्रं जनयेत्प्राणसंशयम् ।

५. मध्यम बल रोगी और मध्यम बल रोग– मध्यम संशोधन

६. मध्यम बल रोगी और मृदु रोग– मृदु संशोधन

७. अल्प बल रोगी और बलवान रोग– वातानुलोमक तथा भेदक आहार द्वारा धीरे-धीरे मल निःसारण करें । देखिये सूत्र २२

८. अल्पबल रोगी और मध्यम बल रोग– मृदु संशोधन

९. अल्पबल रोगी और मृदु रोग– मृदु संशोधन

## २४. स्वयं प्रवृत्त दोष में कर्तव्य–

**दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यो नरः ।**
**विरेच्यते शनैर्भ्यैर्ज्यैर्भूयस्तमनुसारयेत् ।।** च. क. १२/६५

दुर्बल और बहुदोषयुक्त जो मनुष्य दोषों के पक जाने से स्वयं विरेचन करता हो उसे दोषों को निकालनेवाले आहार को खिलाकर धीरे धीरे मल का नि:सरण करना चाहिये ।

संक्षेप में, दुर्बल और बहुदोष वाले व्यक्ति में यदि पके हुए दोष स्वयं निकल रहे हो तो उन्हें विरेचन न देकर वातानुलोमक तथा भेदक आहार का सेवन कराकर मल को धीरे धीरे निकालना चाहिये । यदि यह दोष स्वयं न निकलते हो तो मृदु विरेचन का अनेक बार प्रयोग कर थोड़ा थोड़ा विरेचन कराना चाहिये । स्वयं चरकाचार्य ने कहा भी है,

**दुर्बलोपि महादोषो विरेच्यो बहुशोऽल्पशः ।**
**मृदुभिर्भेषजैर्दोषा हन्युह्येनमनिर्हृताः ।।** च. क. १२/६९

## २५. संशोधन के लिये मृदु औषध का प्रयोग–

**दुर्बलं शोधितं पूर्वमल्पदोषं च मानवम् ।**
**अपरिज्ञातकोष्ठं च पाययेतौषधं मृदु ।।** च. क. १२/६७

दुर्बल व्यक्ति, जिसका पहले शोधन हो चुका है ऐसे व्यक्ति, शरीर में अल्प मात्रा में दोष हो तथा जिसका कोष्ठ जाना न गया हो ऐसे अपरिज्ञात कोष्ठ व्यक्ति में मृदु औषधियों का प्रयोग सर्वप्रथम करना चाहिये ।

यहां अपरिज्ञात कोष्ठ का उल्लेख चिकित्सा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । चाहे रोग कोई भी हो लेकिन यदि किसी कारणवश रोगी के कोष्ठ का अनुमान लगाना संभव न हो, उसके विषय में शंका हो तो संशोधन के लिये, विशेषत: विरेचन के लिये मृदु औषधियों का ही प्रयोग करें ।

## २६. वमन का अयोग–

**देयं त्वनिर्हृते पूर्वं पीते पश्चात् पुनः पुनः ।**
**भेषजं वमनार्थीयं प्राय आपित्तदर्शनात् ।।**
**बलत्रैविध्यमालक्ष्य दोषाणामातुरस्य च ।**

**पुनः प्रदद्याभ्दैषज्यं सर्वशो वा विवर्जयेत् ।।**

च. क. १२/५९-६०

वमन के लिये पिलाई गई औषधियों से यदि सम्यक् रूप से वमन न हुआ हो तो तत्पश्चात् वमन कराने के लिये औषधियों का प्रयोग जब तक पित्त दर्शन न हो तब तक बार बार करना चाहिये। दोष तथा रोगी के तीन प्रकार के बल को देखकर या तो फिर से वमन, विरेचन के लिये औषधी पिलानी चाहिये या विरेचन द्रव्यों का प्रयोग सर्वथा बन्द कर देना चाहिये।

इस सूत्र के प्रथम श्लोक में वमन का अयोग होने पर सामान्य रूप से क्या करना चाहिये यह बताया गया है। दूसरो श्लोक में इस नियम के अपवाद का उल्लेख है। बलवान रोगी में पुनः पुनः वमन का प्रयोग उचित है, लेकिन क्षीण बल रोगी में संशोधन कर्म बंद कर दोषों को पाचन और संशमन क्रिया द्वारा जीतना चाहिये।

## २७. अयोग की और एक अवस्था–

**निहृते वाऽपि जीर्णे वा दोषर्निहरणे बुधः ।**
**भेषजेऽन्यत्प्रयुञ्जीत प्रार्थयन् सिद्धिमुत्तमाम् ।।**

च. क. १२/६१

यदि दोषों का निर्हरण करने वाले भेषज अर्थात् वमन विरेचन द्रव्य (बिना दोषों का शोधन किये) निकल जाने पर या पच जाने पर उत्तम सफलता की इच्छा रखने वाले चिकित्सक ने उन वमन विरेचन कारक द्रव्यों का पुनः प्रयोग करना चाहिये।

विरेचन द्रव्यो के अयोग की और एक अवस्था का उल्लेख चरकाचार्य ने किया है। वह है विरेचन औषधियों से वमन होना। इस अवस्था में भी पुनः विरेचन देना चाहिये।

## २८. विरेचन का पुनः प्रयोग–

**दीप्ताग्निं बहुदोषं तु दृढस्नेहगुणं नरम् ।**
**दुःशुद्धं तदहर्भुक्तं श्वोभूते पाययेत् पुनः ।।**

च. क. १२/६४

जिस व्यक्ति का जठराग्नि प्रदीप्त हो, दोष अधिक मात्रा में हो, शरीर स्निग्ध हो पर संशोधन ठीक न हुआ हो और अगले दिन औषधि पिलानी आवश्यक हो तो उस दिन भोजन कराने के बाद मनुष्य को पुनः विरेचक औषधियां पिलानी चाहिए।

जब विरेचन होते होते अन्त में कफ आने लगे तो समझना चाहिये कि सम्यग्

विरेचन हुआ है। लेकिन कई बार ऐसा नहीं होता। इसलिये दूसरे दिन विरेचन देने को कहा है। लेकिन यदि शरीर सम्यक् स्निग्ध न हो तो विरेचन नहीं देना चाहिये। पुनः स्नेहन करने के पश्चात् ही विरेचन का प्रयोग करें। असम्यक् स्निग्ध व्यक्ति में विरेचन भी असम्यक् ही होगा। चक्रपाणि ने कहा भी है, "दृढस्नेहगुणमित्यनेन स्नेहलक्षणो गुणो देहे यदा दृढो नास्ति तदाऽस्य भेषजं न दातव्यं, किन्तु स्नेह एव तावत् कर्तव्यः, असम्यक् स्निग्धेहि पुनरपि क्रियमाणं विरेचनमसम्यग्योगायैव भवति। कुछ विद्वानों के मतानुसार यदि पुरुष सम्यक् स्निग्ध है लेकिन अग्नि प्रदीप्त नहीं है या मंदाग्नि है तो दूसरे दिन औषधि न पिलाकर तीसरे या चौथे दिन विरेचन औषधि का प्रयोग करें।

## २९. अवशिष्ट दोषों की शान्ति–

**वमनैश्च विरेकैश्च विशुद्धस्या प्रमाणतः।**
**भोजनान्तरपानाभ्यां दोषशेषं शमं नयेत्॥** च. क. १२/६६

वमन और विरेचनों द्वारा जिसका शोधन पूर्ण रूप से न हुआ हो ऐसे व्यक्तियों मे भोजन और अन्तरपान (कषाय पान) के द्वारा बचे हुए दोषों की शान्ति करनी चाहिए।

इस सूत्र में वमन और विरेचन का बहुवचनात्मक उल्लेख इन दोनों कर्मों में एक से ज्यादा वेग होने के कारण किया है। अत्र बहुवचनं वेगबहुत्वापेक्षया। चक्रपाणि। कई बार शोधन तो पूर्ण रूप से नहीं होता। जैसे आपित्तान्त वमन या कफ दर्शन होने तक विरेचन। लेकिन बचे हुए दोष इतने भी ज्यादा नहीं रहते जिसके कारण पुनः संशोधन करना पड़े। इस अवस्था में शमन चिकित्सा, वह भी भोजन और कषायपान के रूप में दी जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार क्षीण रोगियों में पूर्ण शुद्धि न होने पर भोजनादि द्वारा दोषों का शमन करना चाहिये यह इस सूत्र का मतितार्थ है।

## ३०. विरेचन औषधी से वमन होने पर कर्तव्य–

**यस्योर्ध्वं कफ संसृष्टं पीतं यात्यानुलोमिकम्।**
**वमितं कवलैः शुद्धं लङ्घितं पाययेत्तु तम्॥**

च. क. १२/७०

जिस व्यक्ति को पिलाया गया अनुलोमक द्रव्य (विरेचक द्रव्य) कफ संसृष्ट होकर, अर्थात् कफ से मिलकर उर्ध्व दिशा में अर्थात् ऊपर की ओर गमन करता हो, अर्थात् वमन कराता हो तो उसे वमन कराकर कवल द्वारा मुख की शुद्धि करायें। तत्पश्चात लंघन कराकर विरेचन द्रव्यों का पान कराना चाहिये।

## ३१. उष्ण जल का प्रयोग कब करें ?

**विबद्धेऽल्पे चिराद्दोषे स्रवत्युष्णं पिबेज्जलम् ।**
**तेनाध्मानं तृषाच्छर्दिर्विबन्धश्चैव शाम्यति ।।**

च. क. १२/७१

जब उदर में दोष विबद्ध हो अर्थात् रुक् रुक् कर निकलता हो, तथा अल्प या चिरात् स्रवण करता हो, अर्थात् अल्पमात्रा में निकलता हो या बहुत देर से निकलता हो, ऐसी अवस्था में उष्ण जल का पान कराना चाहिये । इससे आध्मान, तृषा, छर्दी और विबन्ध शान्त हो जाते है ।

## ३२. स्वेदन का प्रयोग कब करें–

**भेषजं दोषरुद्धं चेन्नोर्ध्वं नाधः प्रवर्तते ।**
**सोद्गारं साङ्गशूलं च स्वेदं तत्रावचारयेत् ।।** च. क. १२/७२

दोषों के कारण अवरुद्ध हो जाने से यदि औषधि न ऊपर आती हो न नीचे जाती हो तथा इसके साथ साथ उद्गार, अंगों में वेदना यह लक्षण हो तो उदर और वक्ष प्रदेश पर स्वेदन करना चाहिये ।

दोषों के प्रबल होने पर अवरुद्ध होने से संशोधन में प्रयुक्त औषधि अपना अपेक्षित कार्य कर नहीं सकती । ऐसी अवस्था में यदि औषध वमन के लिये प्रयुक्त हो तो उर: प्रदेश में और विरेचन के लिये प्रयुक्त हो तो उदर प्रदेश में स्वेदन करना चाहिये ।

## ३३. विरेचन के अतियोग की शङ्का आने पर–

**सुविरिक्ते तु सोद्गारमाश्वेवौषधमुल्लिखेत् ।**
**अतिप्रवर्तनं जीर्णे सुशीतैः स्तम्भयेभ्दिषक् ।।** च. क. १२/७३

सम्यक् विरेचन हो जाने पर भी यदि डकार (उद्गार) आ रही हो तो शीघ्र ही औषधी को वमन द्वारा बाहर निकालना चाहिये । यदि अतिप्रवर्तन हो, अर्थात् विरेचन अधिक मात्रा में हो, औषधी पच गई हो, तो वैद्य ने शीतल औषधियों द्वारा उसका स्तंभन करना चाहिये ।

## ३४. विरेचन औषधी का उर्ध्वगत होना–

**रुक्षानाहारयोजीर्णे विष्टभ्योर्ध्वं गतेऽपि वा ।**
**वायुना भेषजे त्वन्यत् सस्नेह लवणं पिबेत् ।।** च. क. १२/७५

रुक्ष एवं जिन्होंने आहार नहीं किया है ऐसे व्यक्तियों में (विरेचन) औषधी का पूर्ण रूप से पाचन होने पर वायु द्वारा विष्टम्भ होकर उर्ध्व भाग में यदि औषधियां चली जाएं तो अन्य औषधियों का स्नेह और नमक मिलाकर प्रयोग करना चाहिए।

संक्षेप में, रुक्ष शरीर वाले एवं उपवास करनेवाले रोगियों में यह अवस्था उत्पन्न होने की संभावना रहती हैं। पहले दी गयी औषधी का पाचन हो जाता है और तत्पश्चात विष्टम्भ होकर औषधियां ऊपर के भाग में चली जाती है। ऐसी अवस्था में उसी औषधी का प्रयोग पुनः न करे। अन्य औषधियों को स्नेह एवं नमक के साथ पिलायें।

## ३५. विरेचन के समय पित्त वृद्धि के लक्षण दिखने पर कर्त्तव्य–

**तृष्णामोहभ्रममूर्च्छायाः स्युश्चेज्जीर्यति भेषजे।**
**पित्तघ्नं स्वादुशीतं च भेषजं तत्र शस्यते।।** च. क. १२/७६

यदि तृष्णा, मोह, भ्रम, मूर्च्छा यह लक्षण विरेचन द्रव्य की पाकावस्था में उत्पन्न हो जाये तो पित्तनाशक, मधुर और शीतल औषधियों का प्रयोग करना लाभकर होता है।

चक्रपाणि ने इन्हें पित्तावृत भेषज के लक्षण माने है। अन्य मतानुसार विरेचन द्रव्य पच्यमानावस्था में ही विरेचन कराते है। अतः विरेचन कराते समय यदि तृष्णाधिक्य उत्पन्न हो तो पित्तशामक, मधुर और शीतल औषधियों का प्रयोग करना चाहिये जिसके फलस्वरूप मल का निकलना बंद हो जाता है।

## ३६. कफावृत्त भेषज–

**लाला हल्लासविष्टम्भ लोमहर्षाः कफावृते।**
**भेषजं तत्र तीक्ष्णोष्णं कट्वादि कफनुद्धितम्।।** च. क. १२/७७

विरेचन औषध कफावृत्त होने पर लालास्राव, हल्लास, विष्टम्भ, लोमहर्ष इत्यादि लक्षण निर्माण होते है। इन लक्षणों के निर्माण होने पर तीक्ष्ण, उष्ण, कटु आदि कफनाशक औषधियों का प्रयोग हितकर होता है।

विरेचन औषध कफावृत्त होने पर अधोभाग में जा नहीं सकता। अतः विरेचन भी नहीं होता। इसलिये कफ का पाचन करना आवश्यक होता है।

## ३७. क्रूर कोष्ठ और विरेचन–

**सुस्निग्धं क्रूरकोष्ठं च लङ्घयेदविरेचितम्।**
**तेनास्य स्नेहजः श्लेष्मा सङ्गश्चैवोपशाम्यति।।** च. क. १२/७८

जिसका स्नेहन सम्यग् हुआ हो लेकिन क्रुरकोष्ठी हो ऐसे व्यक्ति में यदि अल्प विरेचन हुआ हो तो लङ्घन कराना चाहिये। स्नेह प्रयोग जनित श्लेष्मा तथा दोषसङ्ग दोनों ही लङ्घन से शान्त होते है।

## ३८. बस्ति के बाद विरेचन–

**रुक्षबह्वनिलक्रूरकोष्ठव्यायामशालिनाम् ।**
**दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरिच्यैव जीर्यति ।।**
**तेभ्यो वस्ति पुरा दत्वा पश्चाादद्याद्विरेचनम् ।**
**बस्तिप्रवर्तितं दोषं हरेच्छीघ्रं विरेचनम् ।।**

च. क. १२/७९-८०

रुक्ष, वातप्रधान, क्रूरकोष्ठी नियमित व्यायाम करनेवाले और दीप्त अग्नि वाले व्यक्तियों में बिना विरेचन कराए विरेचन औषधियां पच जाती है। ऐसे व्यक्तियों में पहले बस्ति देकर बाद में विरेचन दें। बस्ति द्वारा दोष प्रवर्तित होते है जिन्हें विरेचन द्रव्य शीघ्र ही नष्ट कर देता है।

यहां बस्ति शब्द से स्नेह बस्ति का ग्रहण करना चाहिये। चक्रपाणि ने कहा भी है, "बस्तिं पुरा दत्वेत्यत्र बस्तिशब्देन स्नेहबस्तिमिच्छन्ति, निरुहस्तु वातकोपकतया तथा निरुहान्तरं विरेचनस्य निशिद्धत्वादिह नेष्यते;.... । निरुह को वातकारक माना है। लेकिन एक या दो निरुह से वातप्रकोप नहीं होता। निरंतर अभ्यास से ही वातप्रकोप होगा। यहां एखाद बस्ति के बाद तुरंत विरेचन देना है जिसका उद्देश्य दोषों का प्रवर्तन करना है, जिसके फलस्वरूप विरेचन सहजता से हो सकें।

## ३९. बृंहण बस्ति निषेध–

**न बृंहणीयान् विदधीत वस्तीन् विशोधनीयेषु गदेषु वैद्यः ।**
**कुष्ठप्रमेहादिषु मेदुरेषु नरेषु ये चापि विशोधनीयाः ।।**

च. सि. १/३६

शोधन करने योग्य रोगों में तथा पुरुषों में, वैसे ही कुष्ठ, प्रमेह आदि रोगों में तथा मेदस्वी पुरुषों में बृंहण बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

## ४०. निरुह बस्ति निषेध–

**क्षीणक्षतानां न विशोधनीयान् न शोषिणां नो भृषदुर्बलानाम् ।**
**न मूर्च्छितानां न विशोधितानां येषां च दोषेषु निबद्धमायुः ।।**

च. सि. १/३७

क्षीण, उर:क्षत, शोष, अतिदुर्बल, मूर्च्छारोग से पीड़ित और जिनका वमन विरेचन द्वारा शरीर का शोधन हो चुका हो ऐसे व्यक्तियों में तथा दोष में ही जिनकी आयु रुकी हुई है ऐसे व्यक्तियों में शोधन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

## ४१. अनुवासन (स्नेह) बस्ति व्यापद चिकित्सा-वातावरुद्ध (वातावृत) अनुवासन-

**स्निग्धाम्ललवणोष्णैस्तं रास्ना पीतद्रुतैलिकैः ।**
**सौवीरकसुराकोलकुलत्थ्ययवसाधितैः ।।**
**निरुहै र्निहरेत् सम्यक् समूत्रैः पाञ्चमूलिकैः ।**
**ताभ्यामेवच तैलाभ्यां सायं भुक्तेऽनुवासयेत् ।।**

च. सि. ४/२९-३०

वात से अनुवासन बस्ति के आवृत्त होने पर नीचे दिये हुए दो में से किसी एक योग से निरुह बस्ति देकर रुके हुए स्नेह को बाहर निकालना चाहिए । सायंकाल भोजन करने के बाद इसी रास्ना तैल या पीतद्रु तैल से अनुवासन बस्ति देनी चाहिये । निरुह बस्ति के योग इस प्रकार है ।

१. स्निग्ध, अम्ल लवण और उष्ण द्रव्यों का कल्क, गोमूत्र, बृहत् पंचमूल क्वाथ, सौवीर, सुरा, बेर का स्वरस, कुल्थी के क्वाथ से सिद्ध रास्ना तैल इनसे निर्मित निरुह ।

२. स्निग्ध, अम्ल, लवण उष्ण द्रव्यों का कल्क, बृहत् पञ्चमूल क्वाथ, पीतद्रु कल्क, सौवीर, सुरा, बेर का स्वरस, कल्थी क्वाथ से सिद्ध पीतद्रु तैल, इनसे निर्मित निरुह ।

सूत्र का भाषान्तर शब्दश: नहीं है । सुविधा के लिये योग अलग से लिखा है । रास्ना तैल का निर्माण चि. २८ के अनुसार करें । गंगाधर ने निरुह बस्ति के लिये उपरिनिर्दिष्ट द्रव्यों के क्वाथ का तथा तैल के स्थान पर तिल तैल का प्रयोग करने के लिये कहा है । अनुवासन के लिये रास्ना या पीतद्रु तैल का प्रयोग करने के लिये कहा है । चरकाचार्य ने वातावृत्त स्नेह बस्तिव्यापद् लक्षणों में अङ्गमर्द, ज्वर, आध्मान, शैत्य, शरीर में जकराहट, उरप्रदेश में पीड़ा, पार्श्वशूल और शरीर में ऐंठन इन लक्षणों को बताया है । इनके या इनमें से कुछ लक्षणों के उत्पन्न होने पर ही उसकी चिकित्सा करनी चाहिये । यदि स्नेहबस्ति बाहर न निकलती हो, लेकिन वह कुछ उपद्रव भी निर्माण न करती हो तो उसकी उपेक्षा करनी चाहिये । चरकाचार्य ने कहा भी है,

**यस्य नोपद्रवं कुर्यात् स्नेहवस्तिरनिःसृतः ।**
**सर्वोऽल्पो वाऽऽवृतो रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता ।।**

च. सि. ४/४१

सुश्रुताचार्य ने भी २४ घंटे में स्नेह बाहर न निकले और उससे कोई हानि न हो तो वह बस्ति अपने गुण को उत्पन्न करती है और यदि उसका पाचन हो जाय तो अल्प गुण करती है ऐसा कहा है।

**अहोरात्रदपि स्नेहः प्रत्यागच्छन्नदुष्यति ।**
**कुर्याद्बस्तिगुणांश्चापि जीर्णतुल्यगुणो भवेत् ।।** सु. चि. ३७

## ४२. पित्तावृत्त अनुवासन–

**...विद्यात् पित्तावृत्तं स्वादुतिक्तैस्तं बस्तिर्भिहरेत् ।।**

च. सि. ४/३१

(पित्तावृत्त स्नेहबस्ति के लक्षणों को) जानकर मधुर और तिक्त द्रव्यों से निर्मित निरुह बस्ति का प्रयोग कर स्नेह का र्निहरण करना चाहिये।

उदरदाह, बदन पर लालिमा, तृष्णा, मोह, तमकश्वास और ज्वर यह पित्तावृत्त अनुवासन के लक्षण बताये है। इनमें मोह और तमकश्वास को छोड़कर सभी लक्षण पित्तवृद्धि के है। मोह में कफ की और तमकश्वास में वातकफ की प्रधानता रहती है।

## ४३. कफावृत्त अनुवासन–

**कषाय कटुतीक्ष्णोष्णैः सुरामूत्रोपसाधितैः ।**
**फलतैलयुतैः साम्लैर्बस्तिभिस्तं विर्निहरेत् ।।** च. सि. ४/३३

कषाय कटुतीक्ष्ण, उष्ण गुणयुक्त सुरा व मूत्र से सिद्ध फल तैल में अम्ल द्रव्यों को मिलाकर निर्मित निरुह बस्ति से (कफावृत्त अनुवासनका) उसका र्निहरण करना चाहिये।

यहां अम्ल द्रव्यों से खट्टी बेर, अनार इत्यादि का ग्रहण करना चाहिये। इनके कल्क का प्रयोग अपेक्षित है। चक्रपाणि ने 'फलतैलं पूर्वव्याहृतमेव ज्ञेयम्' ऐसा कहकर इसी अध्याय के सत्रहवे श्लोक में वर्णित मदनफल तैल का ग्रहण करने को कहा है। यह प्रसिद्ध कफघ्न तैल है। गंगाधर ने कषाय, कटु, तिक्त उष्ण द्रव्यों के क्वाथ में सुरा, गोमूत्र, मदनफल कल्क, खट्टे बेर तथा खट्टे अनार जैसे अम्ल द्रव्यों का कल्क लेकर आवश्यक मात्रा में तैल (तिल) मिलाकर निरुह बस्ति देने को कहा है।

## ४४. अन्नावृत्त अनुवासन व्यापद चिकित्सा–

**कटूनां लवणानांच क्वाथैश्चूर्णैश्चपाचनम् ।**
**विरेकोमृदरत्रामविहिता च क्रिया हिता ।।** च. सि. ४/३५

कटु तथा लवण द्रव्यों के क्वाथ व चूर्ण से पाचन कराना चाहिये । तत्पश्चात मृदु विरेचन का प्रयोग करें । आमदोषजन्य जो भी चिकित्सा विहित हो उसका भी प्रयोग इस अवस्था में करना चाहिये ।

अन्नावृत्त अनुवासन बस्ति व्यापदों के लक्षणों में वमन, मूर्च्छा, अरुचि, उदरशूल, उदरदाह, निद्राधिक्य, अङ्गमर्द और आमदोष के सभी लक्षणों का अंतर्भाव होता है । इनमें से जो लक्षण प्रधान रूप से व्यक्त होते हो उसके अनुसार पाचन द्रव्यों का व मृदुविरेचकों का चयन करना चाहिये ।

## ४५. मलावृत्त अनुवासन बस्तिव्यापद् चिकित्सा–

**...............स्नेहस्वेदैः सवर्तिभिः ।**
**श्यामाबिल्वादिसिद्धैश्च निरुहैः सानुवासनैः ।**
**निर्हरेद्विधिनासम्यगुदावर्तहरेण च ।।** च. सि. ४/३७

(मलावृत्त अनुवासन के लक्षण उत्पन्न होने पर) स्नेहन, स्वेदन, फलवर्ती, काली निशोथ, बिल्वादि पंचमूल से सिद्ध निरुह और अनुवासन द्वारा उसे (मलावृत्त स्नेह बस्ती को) निकालना चाहिये । उदावर्त रोग के चिकित्सा में वर्णित विधियों द्वारा उसे निकालना चाहिये ।

मल, मूत्र और अपान वायु का रुकना, उदर में शूल, भारीपन, आध्मान और हृद्ग्रह (हृदय में जकड़ने सी अनुभूति) यह लक्षण मलावृत्त अनुवासन में दिखाई देते है । यदि किसी भी प्रकार मलावरोध दूर किया जाय और वातानुलोमन हो जाय तो इस अवस्था में उपशय मिलेगा ।

## ४६. रिक्तकोष्ठ बस्तिप्रयोग व्यापद् चिकित्सा–

**मूत्रश्यामात्रिवृत्सिद्धो यवकोलकुलत्थवान् ।**
**तत्सिद्धतैल इष्टोऽत्र निरुहः सानुवासनः ।।** च. सि. ४/३९

गोमूत्र, काला व सफेद निशोथ के क्वाथ में यव, बेर और कुल्थी का कल्क मिलाकर बनाई गयी निरुह बस्ति का तथा इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध तैल के अनुवासन का प्रयोग रिक्तकोष्ठ पुरुष में दी गयी निरुह बस्ति से होने वाले विकारों में करना चाहिये ।

रिक्तकोष्ठ, अर्थात् खाली पेट अनुवासन देने पर स्नेह कंठ आ पहुँचता है और

नासा, मुख आदि से बाहर निकलने का प्रयास करता है। इस अवस्था में कुछ साधे सरल उपाय भी चरकाचार्य ने बताये है। जैसे मुंह पर शीतल हवा या शीतल जल के छीटे देना, अथवा कंठ को हाथ से दबाना अथवा तीक्ष्ण विरेचन या वमन नाशक चिकित्साओं द्वारा ऊपर से निकलने वाले वेग को अधोगामी करना इत्यादि। कहा भी है-

**कण्ठादागच्छतः स्तम्भकण्ठग्रहविरेचनैः।**
**छर्दिघ्नीभिः क्रियाभिश्च तस्यकार्यं निवर्तनं॥** च. सि. ४/४०

## ४७. विरेचन अतियोग चिकित्सा-

**कुर्याच्चमधुरैस्तत्र शेषमौषधमुल्लिखेत्॥** च. सि. ६/४६

(भूख से पीड़ित तथा मृदुकोष्ठ वाले व्यक्ति में अति तीक्ष्ण संशोधन औषधी का प्रयोग करने पर जो उपद्रव निर्माण होते है उनमें) शेष औषधियों को मधुर द्रव्य द्वारा वमन देकर निकालना चाहिये।

## ४८. संशोधन के अतियोग में कर्तव्य-

**वमने तु विरेकः स्याद्विरेके वमनं पुनः।**
**परिषेकावगाहाद्यैः सुशीतैः स्तम्भयेच्चतत्॥**
**कषायमधुरैः शीतैरन्नपानौषधैस्तथा।**
**रक्तपित्तातिसारघ्नैर्दाहज्वरहरैरपि॥** च. सि. ६/४८

वमन का अतियोग होने पर मृदु विरेचन और विरेचन का अतियोग होने पर मृदु वमन का प्रयोग करना चाहिये। इसके साथ साथ शीतल परिषेक और अवगाह आदि द्वारा उनके वेगों का स्तंभन करना चाहिये तथा कषाय व मधुर रसात्मक शीतल अन्नपान, औषधी द्वारा व रक्तपित्त, अतिसार, दाह, ज्वरहर औषधियों द्वारा वमन और विरेचन के वेगों को रोकना चाहिये।

शीतल परिषेक और अवगाह से वमन तथा विरेचन के वेगों को रोकने में सहायता मिलती है। आगे इसी अध्याय के ५२वे श्लोक में वमन के अतियोग में शीताम्बुपरिषेचन करने के लिये कहा है।

वमनस्यातियोगे तु शीताम्बुपरिषेचितः।

## ४९. वमन अतियोग चिकित्सा-

**वाक्ग्रहानिलरोगेषु घृतमांसोपसाधिताम्।**
**यवागूं तनुकां दद्यात् स्नेहस्वेदौ च बुद्धिमान्॥** च. सि. ६/५६

यदि वमन के अतियोग से वाक् ग्रह अर्थात् वाणी रुक गयी है अथवा अन्य

वातव्याधि उत्पन्न हुए है तो बुद्धिमान् वैद्य ने घृत और मांस रस से सिद्ध यवागू और गले के ऊपर या अन्य रोगाक्रान्त प्रदेश में स्वेदन स्नेहन का प्रयोग करना चाहिये ।

## ५०. संशोधन अयोग व्यापद्-आध्मान–

**अभ्यङ्गस्वेदवर्त्यादि स निरुहानुवासनम् ।**
**उदावर्तहरं सर्वं कर्माध्मातस्य शस्यते ।।** च. सि. ६/६०

अभ्यङ्ग, स्वेदन, फलवर्ती, निरुह तथा अनुवासन बस्ति का प्रयोग तथा उदावर्तहर सभी प्रकार की चिकित्सा (संशोधन के अयोग से उत्पन्न) आध्मान में लाभकर होती है ।

संशोधन के लिए प्रयुक्त औषधी यदि अल्प बलवाली हो तथा अल्प मात्रा में प्रयोग की गयी हो तथा रोगी के शरीर में दोषों की मात्रा अधिक हो, शरीर में रुक्षता हो, मंदाग्नि उदावर्त हो तो व्यापद् के रूप में आध्मान उत्पन्न होता है । फलस्वरूप पीठ, पार्श्व, शिरःशूल, श्वास, मल, मूत्र अपान वायु का सङ्ग इत्यादि लक्षण निर्माण होते है ।

## ५१. संशोधन अयोग व्यापद्-परिस्राव–

**(परिस्रावः स) तं दोषं शमयेद्वामयेदपि ।**
**स्नेहितं वा पुनःस्तीक्ष्णं पाययेतविरेचनम् ।**
**शुद्धे चूर्णासवारिष्टान् संस्कृतांश्च प्रदापयेत् ।।** च. सि. ६/७०

परिस्राव की अवस्था में दोषों का शमन अथवा वमन कराना चाहिये । अथवा स्नेहन कराकर तीक्ष्ण विरेचन का पान कराना चाहिये । जब शरीर शुद्ध हो जाय तो चूर्ण, आसव, अरिष्ट को संस्कृत कर रोगी को देना चाहिये ।

यहां परिस्राव का सरलार्थ है अल्प मात्रा या अल्प वीर्यवाले औषधी के प्रयोग से उत्क्लिष्ट दोषों का थोड़ी भी मात्रा (गुदद्वार से) बाहर निकलना । इसके साथ साथ कंडू, शोफ कुष्ठ, शरीरगौरव, अग्नि का नाश, बल का नाश, जी मिचलाना, स्तैमित्य, अर्थात् शरीर का शिथिल रहना, अरुचि और पाण्डुरोग भी उत्पन्न होते है । इन सभी लक्षणों का अंतर्भाव परिस्राव में होता है ।

यदि परिस्राव में दोष अल्पमात्रा में हो तो शमन चिकित्सा ही काफी है । लेकिन यदि दोष प्रबल हो तो संशोधन (वमन, या विरेचन) करना आवश्यक होता है । चक्रपाणि ने भी इस विषय को इसी प्रकार स्पष्ट किया है । शमयेद्वामयेदपीत्यादौ अल्पदोषे शमनं, बहुदोषे, उर्ध्वगतदोषे तु वमनमिति व्यवस्था । वामयेदपीत्यत्रापि स्नेहितं पुनरिति संबध्यते । चूर्णासवारिष्टा ग्रहण्यर्शश्चिकित्सादिषु ज्ञेयाः । चक्रपाणि

## ५२. संशोधन अयोग व्यापद्-हृद्ग्रह-

**मधुरै पित्तमूर्च्छार्तं कटुभिः कफमूर्च्छितम् ।**
**पाचनीयैस्ततश्चास्य दोषशेषं विपाचयेत् ।**
**कायाग्निं च बलं चास्य क्रमेणोत्थापयेत्ततः ।**
**पवनेनातिवमतो हृदयं यस्य पीड्यते ।**
**तस्मै स्निग्धाम्ललवणं दद्यात् पित्तकफेऽन्यथा ।।**

च. सि. ६/७३-७४-७५

(हृद्ग्रह में) यदि रोगी पित्तज मूर्च्छा से पीडित हो तो मधुर द्रव्यों से और यदि कफज मूर्च्छा से पीड़ित हो तो कटुरसयुक्त द्रव्यों से वमन कराना चाहिये । तत्पश्चात शेष दोषों को पाचन द्रव्यों से पचाना चाहिये । तत्पश्चात अग्नि और बल को क्रमशः बढ़ाना चाहिये । यदि वमन के अतियोग से प्रकुपित वायु हृदय में पीड़ा उत्पन्न करें तो स्निग्ध, अम्ल और लवण द्रव्यों का प्रयोग करे । यदि पित्त और कफ के कारण हृदय में पीड़ा उत्पन्न हो रही हो तो इससे विपरीत (रुक्ष कटु और तिक्त) द्रव्यों का प्रयोग करें ।

हृदग्रह यह मुख्यतः वेगावरोधजन्य व्यापद् है । वमन या विरेचन का वेग आते समय यदि उसे रोकने की चेष्टा की जाय तो वातादि दोष हृदय में जाकर हृद्ग्रह उत्पन्न करते है । हृद्ग्रह का अर्थ है हृदय की गति में रुकावट । इस अवस्था में हिक्का, कास, पार्श्वशूल, दीनता, लालास्राव, अक्षिविभ्रम, जिह्वा को काटना, संज्ञानाश होना, दांत किटकिटाना यह लक्षण दिखाई देते है । यहां चिकित्सा सूत्र में मूर्च्छा इस लक्षण का भी उल्लेख है । पित्तमूर्च्छार्तं से प्रबल पित्त दोष से उत्पन्न मूर्च्छा का ग्रहण करना चाहिये-इति चक्रपाणि । पित्तमूर्च्छार्तमिति पित्तप्रबल दोषजनित मूर्च्छार्तम् ।

सुश्रुत और वाग्भट ने भी इस अवस्था का विस्तार से वर्णन करते हुए धान्यस्वेद से स्वेदन करने, यष्टिमधु सिद्ध तैल से अनुवासन देने (सुश्रुत), तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करने, यष्टिमधु मिश्रित चावल के पानी से वमन देने एवं शेष दोषों का पाचन करने के लिये कहा है ।

## ५३. संशोधन अयोग व्यापद्-अङ्गग्रह-

**तत्रवातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादि कारयेत् ।।** च. सि. ६/७७

(अङ्गग्रह में) वातनाशक सभी क्रियाएं, जैसे स्नेहन स्वेदन इत्यादि का प्रयोग करना चाहिये ।

अङ्गग्रह भी मुख्यतः वेगावरोधजन्य व्यापद् है । संशोधन के वेगावरोध से

अथवा कफ के कारण वेग का अवरोध होकर वायु प्रकुपित होता है और शरीर में स्तम्भ, कम्प, सूचीभेदनवत् पीड़ा, शिथिलता, शरीर में ऐंठन, मथने के समान पीड़ा ऐसे लक्षण उत्पन्न होते हैं।

सुश्रुत व वृद्ध वाग्भट ने उपर्युक्त लक्षणों के साथ साथ पार्श्व, पृष्ठ, श्रोणि, मन्या शूल, मूर्च्छा, भ्रम, संज्ञानाश इत्यादि लक्षणों का उल्लेख किया है। चिकित्सा में यष्टिमधु तैल का अनुवासन, धान्यस्वेद एवं वातहर अन्नपान का प्रयोग बतलाया है। सुश्रुत ने इसे वातशूल कहा है।

## ५४. संशोधन अयोग व्यापद्-स्तम्भ–

**तीक्ष्णं बस्तिं विरेकं वा सोऽर्हो लङ्घितपाचितः ।।**

च. सि. ६/८९

(स्तम्भ की अवस्था में) प्रथम लंघन और पाचन कराने के पश्चात तीक्ष्ण बस्ति या तीक्ष्ण विरेचन के प्रयोग से दोषों को बाहर निकालना चाहिये।

जब संशोधन औषधी की मृदुता के कारण वह दोषों से आवृत्त होकर रुक जाती है तब वातसङ्ग, गुदस्तंभ, गुदशूल तथा थोड़े थोड़े प्रमाण में मल का बाहर निकलना इत्यादि लक्षणों को निर्माण करती है तब उसे स्तम्भ कहते है। तीक्ष्णबस्ति या तीक्ष्ण विरेचन से इसमें उपशय मिलता है।

## ५५. संशोधन अयोग व्यापद्-उपद्रव–

**स्नेहस्वेदाधिकस्तत्र कार्यो वातहरो विधिः ।।** च. सि. ६/९१

(इस उपद्रव की अवस्था में) स्नेहन स्वेदोपरांत वातहर विधियों का प्रयोग करना चाहिये।

रुक्ष एवं दुर्बल व्यक्तियों में रुक्ष द्रव्यों से विरेचन देने से वातप्रकोप के कारण यह अवस्था उत्पन्न होती है। इसके कारण संपूर्ण शरीर में भयङ्कर जकड़ाहट एवं शूल उत्पन्न होता है।

## ५६. संशोधन अयोग व्यापद्-क्लम्–

**....................कुर्यादाशु तदुल्लिखेत्।**
**लङ्घनं पाचनं चात्र स्निग्धं तीक्ष्णं च शोधनम् ।।**

च. सि. ६/९३

(क्लम रोग के उत्पन्न होने पर) तत्काल वमन कराना चाहिये। तत्पश्चात लंघन व पाचन कराकर स्निग्ध तथा तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा शोधन (विरेचन) कराना चाहिये।

क्लम रोग में तन्द्रा, गुरुता, दौर्बल्य व अङ्गसाद, अर्थात् शरीर में शिथिलता यह लक्षण निर्माण होते है। स्निग्ध तथा मृदु कोष्ठ वाले व्यक्ति ने यदि मृदु औषधि का सेवन किया तो वह औषधी कफ तथा पित्त को उत्क्लेशित कर वायु का अवरोध करती है। फलस्वरूप उपरिलिखित लक्षण निर्माण होते है।

## ५७. संशोधन अतियोग व्यापद्-परिकर्तिका–

**लङ्घनं पाचनं सामे रुक्षोष्णं लघुभोजनम्।**
**बृंहणीयो विधिः सर्वः क्षामस्यमधुरस्तथा।।** च. सि. ६/६३
**आमे जीर्णेऽनुबन्धश्चेत् क्षाराम्लं लघु शस्यते।** ६४

साम दोष में लंघन, पाचन तथा रुक्ष उष्ण एवं लघु भोजन (लघु आहार द्रव्यों से भोजन) करना चाहिये। इस अवस्था में बृंहण की सभी विधियां प्रशस्त होती है। शुष्क शरीर में मधुर रस बृंहण होता है। आमदोष का पाचन होने के पश्चात भी परिकर्तिका का अनुबन्ध बना हो तो क्षारीय, अम्ल और लघु आहार करना चाहिये।

परिकर्तिका दो अवस्थाओं में होती है। (१) सुस्निग्ध, क्रूर कोष्ठी तथा साम दोष से युक्त रोगी, या (२) रुक्ष, मृदु कोष्ठी, थका हुआ एवं दुर्बल रोगी इन दोनो रोगियों में यदि तीक्ष्ण विरेचन का प्रयोग किया गया तो वह औषधी गुदा में जाकर सामदोष को तत्काल निकाल देती है। जिसके फलस्वरूप उदर में तीव्रशूल एवं झागदार रक्त के साथ परिकर्तिका रोग उत्पन्न होता है।

## ५८. संशोधन अतियोग व्यापद्-जीवादान–

**तृष्णामूर्च्छामदार्तस्य कुर्यादामरणात् क्रियाम्।**
**तस्य पित्तहरीं सर्वामतियोगे च या हिता।।**

च. सि. ६/८१

तृष्णा, मूर्च्छा और मद यह उपद्रव यदि जीवरक्त के निकलने के कारण निर्माण हो रहे हो तो उनकी मरणपर्यंत चिकित्सा करनी चाहिये। तथा पित्तनाशक सभी चिकित्सा एवं अतियोग में (संशोधन के) जो भी चिकित्सा वर्णित है उन सभी चिकित्साओं का प्रयोग करना चाहिये।

शरीर से किसी भी प्रकार से रक्तस्राव होना घातक होता है। रक्तस्राव को रोकना और नष्ट हुए रक्त की आपूर्ति करना यही इसकी चिकित्सा है।

## ५९. संशोधन अतियोग व्यापद्-गुदभ्रंश, संज्ञानाश एवं विभ्रंश या कंडू–

**गुदंभ्रष्टं कषायैश्च स्तम्भयित्वा प्रवेशयेत्।**

**साम गान्धर्वशब्दांश्च संज्ञानाशेऽस्य कारयेत् ।।**

च. सि. ६/८५

**तदा कुर्वन्ति कण्ड्वादीन् दोषाः प्रकुपिता गदान् ।**
**स विभ्रंशो मतस्तत्र स्याद्यथाव्याधि भेषजम् ।।**

च. सि. ६/८७

विरेचन के अतियोग से गुदभ्रंश हो जाय तो कषाय द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ से गुद प्रक्षालन करके स्तंभन कर अन्दर धकेलना चाहिये जिससे वह पुनः अपने मूलस्थान में स्थापित हो । यदि विरेचन के अतियोग से संज्ञानाश हो जाय तो साम तथा गांधर्व शब्द का गायन करे जिससे मूर्च्छा दूर होगी । विरेचन के अयोग से दोष प्रकोप होकर खुजली आदि रोग उत्पन्न होते है उसे विभ्रंश कहा जाता है । इसकी चिकित्सा व्याधीनुसार करें ।

चक्रपाणि ने साम का अर्थ सान्त्वना और गांधर्व शब्द का अर्थ गीत बताया है । साम सान्त्वनम् । गान्धर्वशब्दो गीतम् । चक्रपाणि । लेकिन अष्टांग हृदय के टीकाकार अरुणदत्त ने साम का अर्थ सामवेद ही लिया है । विसंज्ञं श्रावयेत्साम वेणुगीतादिनिस्वनम् । अ. हृ. क. ३/३९ पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने, विसंज्ञं संपन्नं सामवेदवेणुगीतादीनां निस्वनं श्रावयेदिति । ऐसा कहा है ।

वमन और विरेचन के दस व्यापदों को चरकाचार्य ने गिनाया है । जिसका वर्णन हम ऊपर देख चुके है । अष्टांग संग्रहकार ने १२ व्यापत्तियों का तथा सुश्रुत ने १५ व्यापदों का उल्लेख किया है । वृद्ध वाग्भटोक्त बारह व्यापद् इस प्रकार है । १. प्रतिकूल गतिः (२) पाक (३) ग्रथितत्व (४) गौरव (५) दोषोत्क्लेश (६) आध्मान (७) परिकर्तिका (८) परिस्राव (९) प्रवाहिका (१०) हृद्ग्रह (११) सर्वगात्रपरिग्रह (१२) धातुस्राव । सुश्रुतोक्त १५ व्यापद् इस प्रकार है । (१) सावशेषौधत्वम् (२) जीर्णौषधत्वम् (३) हीनदोषापहृतत्वम् (४) वातशूल (५) अयोग (६) अतियोग (७) जीवादान (८) आध्मान (९) परिकर्तिका (१०) परिस्राव (११) प्रवाहिका (१२) हृदयोपसरण (१३) विबन्ध (१४) वमनस्य अधोगमनम् (१५) विरेचनस्य ऊर्ध्व गमनम् ।

### ६०. निरुहबस्तिव्यापद्-अयोग—

**तत्रोष्णायाः प्रमथ्यायाः पानं स्वेदाः पृथग्विधाः ।**
**फलवर्त्योऽथवाकालं ज्ञात्वा शस्तं विरेचनम् ।।**

च. सि. ७/१०

निरुह के अयोग के लक्षण उत्पन्न होने पर सर्वप्रथम उष्ण प्रमथ्या का पान

करें तथा अन्यान्य प्रकार के स्वेदों का प्रयोग करें । इस अवस्था में फलवर्ती अथवा जब विरेचन प्रशस्त हो तब विरेचन देना चाहिये । (अथवा निरुहदे) चक्रपाणी

निरुह का अयोग निम्नलिखित कारणों से होता है । क्रूर कोष्ठी, जिसके कोष्ठ में वायु अधिक भरी हो, जिसका शरीर रुक्ष या जिसकी प्रकृति वात प्रधान हो ऐसे पुरुष में यदि जो बस्ती ठंडी हो (कवोष्ण न हो) जिसमें नमक या स्नेह कम पड़ा हो, बस्ति गाढ़ी हो, ऐसे बस्ति का प्रयोग करने पर नाभी और बस्ति में वेदना, दाह, हृदय पर लेप जैसी भावना, गुदा में शोथ, खुजली, विवर्णता, अरुचि, मंदाग्नि, मल मूत्रादि का अवरोध इत्यादि लक्षण निर्माण होते है । यह अयोग के लक्षण है ।

प्रमथ्या से अतिसारोक्त प्रमथ्या का ग्रहण करना चाहिये ऐसा चक्रपाणि का मत है । उष्णया: प्रमथ्याया इति अतीसारोक्त प्रमथ्यानां या प्रमथ्या उष्णा तस्या: प्रयोग:, प्रमथ्येति पाचनकषायस्यायुर्वेदसमयसिद्ध संज्ञेति प्रतिपादितमेवातीसारे । चक्रपाणी

## ६१. निरुह बस्तिव्यापद-अतियोग

**तस्य लिङ्गं चिकित्सा च शोधनाभ्यां समा भवेत् ।**

च. सि. ७/१२

उस अतियोग के लक्षण एवं चिकित्सा संशोधन के (वमन विरेचन) अतियोग समान जानना चाहिये । देखिये सूत्र–

मृदु कोष्ठ वाले व्यक्ति में तीक्ष्ण, उष्ण बस्ति प्रयोग से अतियोग उत्पन्न होता है । अतियोग के एक विशिष्ट अवस्था का भी वर्णन चरकाचार्य ने किया है । वह है अतियोग में दाह उत्पन्न होना । इसके लिये पांच बस्तियों का उल्लेख किया है । उसे यथास्थल देखें । च. सि. ७/१३-१४

## ६२. निरुह बस्ति व्यापद्-क्लम

**कुर्यात् स्वेदैर्विरुक्षैस्तं पाचनैश्चाप्युपाचरेत् ।** च. सि. ७/१६

क्लम उत्पन्न होने पर रुक्ष स्वेदन और पाचन से उसकी चिकित्सा करें ।

यह मुख्यत: आमदोषजन्य व्यापद है । रुग्ण शरीर में दोष सामावस्था में हो और मृदु निरुह दी जाय तो पित्त और कफ आमदोष के साथ मिलकर वायु का अवरोध करती है । फलस्वरूप क्लम, विदाह, हृदय में शूल, मोह, उद्वेष्टन, शरीर गौरव जैसे लक्षण निर्माण होते है । चूंकि यह मुख्यत: आमदोषजन्य व्यापद है, रुक्ष स्वेदन और पाचन से ही इसकी चिकित्सा हो सकती है । आगे इसकी चिकित्सा में चरकाचार्य ने पिप्पल्यादि क्वाथ, वचादि योग, दर्व्यादि योग, दशमूलगोमूत्र बस्ति, माधुतैलिक बस्ति इत्यादि का वर्णन किया है उसे यथास्थल देखें ।

### ६३. निरुह बस्तिव्यापद्–आध्मान–

चिकित्सा सूत्र–गुदवर्ती तथा निरुह व अनुवासन बस्ति का प्रयोग ही इसकी चिकित्सा है

फलवर्ति, बिल्वादि निरुह व सरलदेवदारु तैल के अनुवासन का वर्णन च. सि. ७/२४, २५, २६ में देखें।

### ६४. निरुह बस्तिव्यापद्-हिक्का–

**(कुर्याद्धिक्कां) हितं तस्मै हिक्काघ्नं बृंहणं च यत् ।**

निरुह बस्तिव्यापद् के रूप में यदि हिक्का निर्माण हो तो हिक्कारोगनाश एवं बृंहण चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये ।

मृदुकोष्ठवाले एवं दुर्बल व्यक्ति में यदि अतितीक्ष्ण बस्ती दी जाय तो वह दोषों को अधिक रूप से निकालती हुई हिक्का को उत्पन्न करती है। इस स्थिति में हिक्कानाशक तथा बृंहण चिकित्सा, बलादि तैल का अनुवासन, पिप्पली तथा सैंधव का गर्म जल के साथ सेवन तथा वातनाशक धूम, अवलेह, मांस रस, दूध, स्वेदन तथा अन्नपान का प्रयोग करें। अष्टांग संग्रहकार ने भी इसी को दोहराया है ।

### ६५. निरुह बस्तिव्यापद्-हृदयप्राप्ति–

**तत्रकाशकुशैत्कटैः । स्यात् साम्ल लवणस्कंध करीरबदरीफलैः ।**
**शृतैर्वस्तिर्हितः सिद्धं वातघ्नैश्चानुवासनम् ।।** च. सि. ७/३१

इस (हृदयप्राप्ति की) अवस्था में काश, कुश, इत्कट, अम्ल, लवण स्कंध के द्रव्य तथा करीर एवं बेर फल से सिद्ध निरुह तथा वातशामक तैल से सिद्ध अनुवासन बस्ति देनी चाहिये ।

अष्टांग संग्रहकार ने भी इसी को दोहराया है ।

### ६६. निरुह बस्तिव्यापद्-उर्ध्वगमन–

यहां ऊर्ध्वगमन से उत्पन्न चार अवस्थाओं का वर्णन किया है। (१) मूर्च्छा (२) बस्ति द्रव्य का पक्वाशय में जाना (३) बस्तिद्रव्य का उरःप्रदेश में जाना और (४) बस्तिद्रव्य का शिरःप्रदेश में जाना। निरुह बस्ति देने के बाद निर्माण हुए वायु, मूत्र तथा मल वेग को यदि धारण कर लिया जाय अथवा बस्तिपुटक को अतितीव्र गति से दबाकर बस्ति दी जाय तो यह ऊर्ध्वगमन की अवस्था उत्पन्न होती है।

#### १. मूर्च्छा–

**मूर्च्छाविकारं तस्यादौ दृष्ट्वाशीताम्बुनामुखम् ।**

सिञ्चेत् पार्श्वोदरं चाधःप्रमृज्याद्वीजयेच्चतम् ।।
केशोष्वालम्ब्य चाकाशे धुनुयाआसयेच्चतम् ।
गोखराश्वगजैः सिंहै राजप्रेष्यैस्तथोरगैः ।।
उल्काभिरेवमन्यैश्च भीतस्यधः प्रवर्तते ।
वस्त्रपाणिग्रहैः कण्ठं रुन्ध्यान्न मियते यथा ।।
प्राणोदाननिरोधाद्धि प्रसिद्धतरमार्गवान् ।
अपानः पवनो बस्तिं तमाश्वेवापकर्षति ।।
ततःक्रमुककल्काक्षं पाययेताम्लसंयुतम् ।
औष्ण्यातैक्ष्ण्यात् सरत्वाच्च बस्तिं सोऽस्यानुलोमयेत् ।।

च. सि. ७/३३-३७

(निरुह बस्तिव्यापद् स्वरूप) यदि मूर्च्छा विकार उत्पन्न हो जाय तो सर्व प्रथम शीतल जल से मुख पर छींटे मारना चाहिये। तथा पार्श्व व उदर प्रदेश को अधः दिशा में मर्दन करें तथा शीतल पंखे से हवा दें। खुले स्थान में बालों को झकझोरना चाहिये। सांड, गधा, घोड़ा, हाथी, सिंह, राजपुरुष, सर्प, उल्का आदि से डराना चाहिये। डरने से ऊपर गया औषध का वेग नीचे की ओर आता है। अथवा गला कपड़े से लपेटकर या हाथ से गला ऐसे दबाएं कि रोगी की मृत्यु न हो लेकिन प्राण उदान का अवरोध हो जाय। जिसके फलस्वरूप अपान वायु अपने प्रसिद्ध मार्ग (गुदा) में चली जाती है और ऊर्ध्वगामी बस्ति को नीचे खींच लाती है। इसके बाद सुपारी के कल्क को एक अक्ष की मात्रा में लेकर कांजी के साथ पिलावे। यह उष्ण, तीक्ष्ण, सर गुण युक्त होने के कारण बस्ति का अनुलोमन करता है।

## २. पक्वाशयस्थ निरुह व्यापद्-चिकित्सा–

**पक्वाशयस्थिते स्विन्ने निरुहो दाशमूलिकः ।**
**यव कोलकुलैत्थैश्च विधेयो मूत्रसाधितः ।।**

यदि बस्ति द्रव्य पक्वाशयस्थित होता है अर्थात् पक्वाशय में जाकर रुकता है तो (उदर भाग पर) स्वेदन कराकर दशमूल से सिद्ध निरुह का प्रयोग करना चाहिये। अथवा यव, बेर, कुलथी इन्हें (गो) मूत्र में साधित कर बनाई हुई बस्ति का निरुह देना चाहिये।

## ३. वक्षस्थित निरुह व्यापद् चिकित्सा–

**बिल्वादि पञ्चमूलेन सिद्धो बस्तिकरःस्थिते ।**

यदि बस्तिद्रव्य उरःप्रदेश में जाकर रुकता है तो बिल्व आदि बृहत् पंचमूल के क्वाथ से सिद्ध निरुह का प्रयोग करना चाहिये।

## ४. शिरःस्थित निरुह व्यापद् चिकित्सा–

**शिरःस्थे नावनं धूमः प्रच्छाद्यं सर्षपैः शिरः ।**

यदि बस्तिद्रव्य शिरःस्थ हो गया हो तो नस्य धूमपान तथा सरसों के कल्क का सिरपर लेप इनका प्रयोग करना चाहिये ।

## ६७. निरुहबस्तिव्यापद् प्रवाहिका–

**स्वेदाभ्यङ्गान्निरुहांश्च शोधनीयानुलोमिकान् ।**
**विदध्यल्लङ्घयित्वा तु वृत्तिं कुर्याद्विरिक्तवत् ।।** च. सि. ७/४२

इस (प्रवाहिका की) अवस्था में प्रथम लंघन कराएं । तत्पश्चात् स्वेदन व अभ्यङ्ग कराकर शोधन तथा अनुलोमन करनेवाले निरुह बस्ति का प्रयोग करें । अंत में विरेचन के बाद दिये जानेवाले आहार विहार का प्रयोग करें ।

इस व्यापद् में प्रवाहण के साथ साथ मूत्राशय तथा गुदा में शोथ, जंघा और उरु प्रदेश में शिथिलता व अपान वायु का अवरोध यह लक्षण निर्माण होते है । बस्ति का अयोग यह इसका मूल कारण है । चक्रपाणि के मतानुसार इस सूत्र में 'शोधनीय' शब्द से त्रिवृतादि शोधन द्रव्यों का व 'आनुलोमिका' से क्षीर तथा इक्षुरस का ग्रहण करना चाहिये । शोधनीयानुलोमिकानित्यत्र शोधनीयानिति त्रिवृतादिशोधनद्रव्ययुक्तान्; आनुलोमिकानिति अनुलोमनक्षीरेक्षुरसयुक्तान् । चक्रपाणि । वृद्धवाग्भट ने इस व्यापद् को 'वाहन' कहा है । चिकित्सा में कोई अंतर नहीं है ।

## ६८. निरुह बस्तिव्यापद्-शिरःशूल–

**कुर्यादभ्यञ्जनं तैललवणेन यथाविधि ।**
**युञ्ज्यात् प्रधमनैर्नस्यैर्धूमैरस्यविरेचयेत् ।**
**तीक्ष्णानुलोमिकेनाथ स्निग्धं भुक्तेऽनुवासयेत् ।।**

च. सि. ७/४५-४६

इस (शिरःशूल की) अवस्था में नमक और तैल का विधिपूर्वक अभ्यङ्ग करना चाहिये । तत्पश्चात् प्रधमन नस्य और वैरेचनिक धूम का प्रयोग करना चाहिये । इसके बाद स्निग्ध तथा जिसका भोजन हुआ है ऐसे पुरुष को तीक्ष्ण एवं वातानुलोमक द्रव्यों से सिद्ध स्नेह से अनुवासन बस्ति देनी चाहिये ।

दुर्बल, क्रूरकोष्ठी तथा अधिक दोषवाले व्यक्तियों में पतली, मृदु, शीतल तथा अल्पमात्रा में दी गई निरुह बस्ति के दोषों से आवृत्त होने के कारण यह व्यापद् निर्माण होता है । इसमें शिरःशूल के साथ साथ ग्रीवा और मन्या में जकडाहट, कंठ में

भेदनवत् पीडा, बाधिर्य, कर्णनाद, पीनस, नेत्रभ्रम यह लक्षण भी निर्माण होते है। अष्टांगसंग्रहकार ने भी इसी को दोहराया है। लेकिन '...प्रधमनैर्नस्यैर्धूमैरस्यविरेचयेत्' की जगह पर '...प्रधमनैर्नस्यैर्धूमैरास्यविरेचयेत्' ऐसा पाठ देकर तीक्ष्ण द्रव्यों का कवल धारण कर मुख से लालास्त्राव करवाने के लिये कहा है।

## ६९. निरुह बस्तिव्यापद्-अंगमर्द–

**तं तैल लवणाभ्यक्तं सेचयेदुष्णवारिणा।**
**एरण्डपत्रनिष्क्वाथैः प्रस्तरैचोपपादयेत्।।**
**यवान् कुलत्थ्यान् कोलानि पञ्चमूलेतथोमये।**
**जलाढकद्वये पक्त्वा पादशेषेण तेन च।।**
**कुर्यात् सबिल्वतैलोष्णलवणेन निरुहणम्।**
**तं निरुढं समाश्वस्तं द्रोण्यां समवगाहयेत्।।**
**ततोभुक्तवतस्तस्य कारयेदनुवासनम्।**
**यष्टीमधुकतैलेन बिल्वतैलेन वा भिषक्।।**

च. सि. ७/५०-५३

निरुह बस्तिव्यापद् से उत्पन्न अंगमर्द में शरीर पर तेल और लवण की मालिश कर (या लवणयुक्त तैल से मालिश कर) गरम जल से परिषेक स्नान कराना चाहिये। तथा एरंडपत्रक्वाथ से तथा प्रस्तर स्वेद से (या एरंडपत्रक्वाथ पत्थर पर छिड़ककर प्रस्तर स्वेद से) स्वेदन करना चाहिये। यव, कुलत्थ, बेर, लघुपंचमूल तथा बृहत् पंचमूल से दो आढक जल में चतुर्थांश काढा बनाएं। इस क्वाथ में उष्ण बिल्वतेल व सेंधानमक मिलाकर निरुह बस्ति दें। बस्ति निकल जाने पर रोगी को आश्वस्त कर द्रोणी में अवगाहन कराएं। तत्पश्चात रुग्ण को भोजन कराकर यष्टिमधु अथवा बिल्वतैल से अनुवासन बस्ति दें।

बिना स्नेहन स्वेदन कराये यदि गुरु, तीक्ष्ण तथा अधिक मात्रा में निरुह बस्ति का प्रयोग किया जाता है तो फलस्वरूप अत्यधिक निरुहण होकर उदर में स्तब्धता व उदावर्त उत्पन्न होता है। इस प्रकार बस्ति के विलोम गति से वातप्रकोप होकर अंगों में वेदना, ऐंठन, तोद, भेद, जृम्भा आदि लक्षण उत्पन्न होते है। इसलिये मुख्यतः मार्गावरोध दूर करनेवाली तथा वातशामक चिकित्सा का वर्णन किया है।

## ७०. निरुह बस्तिव्यापद-परिकर्तिका–

**स्वादुशीतौषधैस्तत्र पय इक्ष्वादिभिः शृतम्।**
**यष्ट्याह्वतिलकल्काभ्यां र्वस्तिस्यात् क्षीरभोजिनः।।**

**ससर्ज रसयष्ट्यह्वजिङ्गिनी कर्दमाञ्जनम् ।**
**विनय दुग्धे बस्तिः स्यात् व्यक्ताम्ल मृदुभोजिनः ।।**

च. सि. ७/५६-५७

निरुहबस्तिव्यापद् स्वरूप उत्पन्न परिकर्तिका में इक्षु आदि मधुर तथा शीतल द्रव्यों से सिद्ध दूध में यष्टिमधु और तिलकल्क मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। और रोगी को दुग्धाहार पर रखना चाहिये। अथवा राल, मुलेठी, कमल का कीचड़, रसवत को दूध में मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। इस बस्ति के बस्तिकाल में रोगी को अम्ल द्रव्यों को जिसमें मिलाया है ऐसे मृदुभोजन का प्रयोग करना चाहिये।

यह भी मुख्यत: मात्राधिक्य के कारण उत्पन्न व्यापद् है। वृद्ध वाग्भट ने इस अवस्था में अन्य चिकित्सा के साथ साथ पिच्छिल तथा मधुर द्रव्यों से सिद्ध स्नेह की बस्ति का प्रयोग करने के लिये कहा है।

## ७१. निरुह बस्तिव्यापद्-परिस्राव–

**आर्द्रशाल्मलिवृन्तेस्तु क्षुण्णैराजं पयः शृतम् ।**
**सर्पिषा योजितं शीतं बस्तिमस्मैप्रदापयेत् ।।**
**वटादि पल्लवेष्वेष कल्पो यवतिलेषु च ।**
**सुवर्चलोपोदिकयोः कर्बुदारे च शस्यते ।।**
**गुदे सेकाः प्रदेहाश्च शीताः स्युर्मधुराश्रये ।**
**रक्तपित्तातिसारघ्नी क्रिया चात्र प्रशस्यते ।।**

च. सि. ७/६०-६२

इस (परिस्राव की) अवस्था में गीले सेमल के वृन्त को बकरी के दूध में पकाकर, घृत मिलाकर निरुह बस्ति दें। इसी प्रकार कोमल वटपत्रों को बकरी के दूध में पकाकर, घृत मिलाकर बस्ति देनी चाहिये। इसी प्रकार जौ, तिल, सुवर्चला, पोई का साग तथा कचनार के फूल इन्हें अलग अलग बकरी के दूध में पकाकर, घृत मिलाकर निरुह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। गुदा के बाह्य भाग में शीतल और मधुर द्रव्यों के क्वाथ से परिषेक तथा शीत और मधुर द्रव्यों के कल्क से प्रदेह लगाना चाहिये। रक्तपित्त तथा अतिसारघ्न उपक्रम भी इस अवस्था में लाभकर होते है।

पित्तरोगी में अम्ल, उष्ण, तीक्ष्ण तथा लवण युक्त निरुह देने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। इसके फलस्वरूप, गुददाह, रक्तपित्त, मूर्च्छा जैसे लक्षण उत्पन्न होते है। अष्टांगसंग्रहकार ने इसी को दोहराया है।

### ७२. अन्यबस्तिव्यापद्-जडिभूतबस्ति–

**मृदुबस्ति जडीभूते तीक्ष्णोन्यो बस्तिरिष्यते ।**
**तीक्ष्णैर्विकषिते स्वादु प्रत्यास्थापनमिष्यते ।।** च. सि. ८/१५

यदि मृदुबस्ति (शोधन करने में असमर्थ होकर) जडीभूत हो गई हो तो उसे निकालने के लिये तीक्ष्ण बस्ति का प्रयोग करना चाहिये । और यदि तीक्ष्ण बस्ति के फलस्वरूप अधिक मल निकल जा रहा है तो मधुर द्रव्यों से सिद्ध निरुह का प्रत्यास्थापन देना चाहिये ।

सिद्धिस्थान के छठे अध्याय में चरकाचार्य ने तीक्ष्ण व मृदु बस्ति के अर्थ को स्पष्ट किया है ।

**तीक्ष्णत्वं मूत्रपिल्वग्निलवणक्षारसर्षपैः ।**
**प्राप्तकालं विधातव्यं क्षीराद्यैः मादर्व तथा ।।** च. सि. ७/६३

गोमूत्र, पीलू, चित्रक, सेंधानमक, यवक्षार, सरसों इनके प्रयोग से बस्ति तीक्ष्ण होती है । तथा दूध आदि मधुर द्रव्यों से सिद्ध बस्ति मृदु होती है । चिकित्सक को आवश्यकतानुसार इसका प्रयोग करना चाहिये ।

चक्रदत्त ने मधुर द्रव्य से द्राक्षादि का ग्रहण करने के लिये कहा है । स्वादु प्रत्यास्थापनमिष्यत इत्यत्र स्वादु द्राक्षादिद्रव्यकृतम् । चक्रपाणि । प्रत्यास्थापन से निरुह का ग्रहण करना चाहिये ऐसा मत चक्रपाणि ने प्रदर्शित किया है । आस्थापनं लक्षीकृत्य दीयत इति प्रत्यास्थापनम् । चक्रपाणि ।

### ७३. अन्यबस्तिव्यापद्-गुददाह–

**वातोपसृष्टस्योष्णैः स्युर्गुददाहादयोयदि ।**
**द्राक्षाम्बुना त्रिवृत्कल्कं दद्याद्दोषानुलोमनम् ।।**
**तद्धिपित्तशकृद्वातान् हृत्वादाहादिकाञ्जयेत् ।**
**शुद्धश्चापि पिबेच्छीतां यवागूं शर्करायुताम् ।।**

च. सि. ८/१६,१७

वातरोगी में उष्णबस्ति का प्रयोग करने से दाह उत्पन्न होता है । इस अवस्था में द्राक्षारस याक्वाथ में त्रिवृत् कल्क मिलाकर देने से दोषों का अनुलोमन होता है । फलस्वरूप पित्त मल और वायु का शमन कर दाहादि उपद्रवों को जीतता है । इस योग के प्रयोग से शरीर शुद्ध हो जाने पर चीनी मिलाकर शीतल यवागू का पान कराना चाहिये ।

### ७४. अन्यबस्तिव्यापद्-मलक्षय–

**अथवाऽतिविरिक्तः स्यात् क्षीणविट्कः स भक्षयेत् ।**
**माषयूषेण कुल्माषान् पिबेन्मध्वथवा सुराम् ।।**
च. सि. ८/१८

रुग्ण को अतिविरेचन होने पर अथवा अतिविरेचन से मलक्षय होने पर उसे उडद के यूष के साथ कुल्माष खाने के लिये या दही अथवा मदिरा पीने के लिये देना चाहिये ।

### ७५. अन्यबस्तिव्यापद् आमजशूल–

**सामं चेत् कुणपं शूलैरुपविशेदरोचकी ।**
**स घनातिविषाकुष्ठनतदारुवचाः पिबेत् ।।** च. सि. ८/१९

बस्ति के अनुचित प्रयोग से उदर में शूल तथा मुर्दे की गंध जैसा साममल निकल रहा हो तथा रोगी अरोचक से पीड़ित हो तो नागरमोथा अतीस, कूठ, तगर, देवदारु और वच इनसे सिद्ध क्वाथ का पान कराना चाहिये ।

यह निरुह के मिथ्यायोग से उत्पन्न व्यापद है । इसमें आमदोष का ही विशेष रूप से अतिसरण होता है । चरकाचार्य ने इसी अध्याय में आमातिसार की स्वतंत्र चिकित्सा भी बताई है ।

### ७६. अन्य बस्तिव्यापद्-अतिसार–

**शकृद्वातमसृक् पित्तं कफं वा योतिसार्यते ।**
**पक्वं तत्र स्ववर्गीयैर्बस्तिः श्रेष्ठं भिषग्जितम् ।।** च. सि. ८/२०

यदि बस्ति के मिथ्यायोग से मलातिसार, वातातिसार, पित्तातिसार, कफातिसार हो जाय और प्रत्येक अतिसार में मल का पाचन हो जाय तो अपने अपने वर्ग की औषधी से सिद्ध बस्ति का प्रयोग करना ही उसकी चिकित्सा है ।

इस सूत्र में चरकोक्त पांच सौ महाकषायों में वर्णित द्रव्यों का प्रयोग अपेक्षित है । उदा. पुरीष संग्रहणीय औषधियों का वातातिसार में शोणितस्थापन वर्ग में वर्णित औषधियों से सिद्ध बस्ति रक्तातिसार में प्रयोग इत्यादि ।

### ७७. बस्ति व्यापद्-आमातिसार–

**तत्रामेऽन्तरषानं स्यात् व्योषाम्ललवणैर्युतम् ।**
**पाचनं शस्यते वस्तिरामे हि प्रतिषिध्यते ।।** च. सि. ८/२२

केवल आमदोषातिसार हो तो सोंठ, पीपर, मरिच, अनार, अम्लवेतस जैसे

अम्ल द्रव्य तथा सेंधानमक से सिद्ध (काञ्जी इत्यादि) का पान कराना चाहिये । या आमपाचन का प्रयोग हितकर होता है । इस अवस्था में बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

## ७८. बस्तिव्यापद-शकृदतिसार एवं वातज अतिसार–

**वातघ्नैर्ग्राहिवर्गीयैर्बस्तिः शकृति शस्यते ।**
**स्वाद्वम्ललवणैः शस्तः स्नेहवस्तिः समीरणे ।।** च. सि. ८/२४

वातनाशक या ग्राही वर्ग के औषधियों से विधिपूर्वक क्वाथ बनाकर बस्ति देने से शकृदतिसार में उत्तम लाभ होता है । वातज अतिसार में मधुर तथा अम्ल द्रव्यों में नमक मिलाकर सिद्ध किये हुए स्नेह से अनुवासन बस्ति देना उत्तम होता है ।

यहां वातनाशक से दशमूल का व ग्राही वर्ग से सूत्रस्थान के चौथे अध्याय में वर्णित पुरीष संग्रहणीय वर्ग का ग्रहण करना चाहिये । समीरणे शब्द से केवल वातातिसार का ग्रहण करना चाहिये ऐसा चक्रपाणि का मत है । वातघ्नैरित्यादौ वातघ्नं दशमूलं; ग्राहिवर्गश्च षड्विरेचनशताश्रितीयोक्त एव । समीरणे इति केवलवातातिसारे । चक्रपाणि

## ७९. बस्तिव्यापद्-रक्त, पित्त तथा कफातिसार–

**रक्ते रक्तेन, पित्ते तु कषायस्वादुतिक्तकैः ।**
**सार्यमाणे कफे बस्तिः कषायकटुतिक्तकैः ।।** च. सि. ८/२५

रक्तातिसार में ताजे रक्त से, पित्तातिसार में कषाय मधुर और तिक्त द्रव्यों से सिद्ध तथा कफातिसार में कषाय, कटु एवं तिक्त द्रव्यों से सिद्ध बस्ति का प्रयोग करना चाहिये ।

## ८०. बस्तिव्यापद्-विभिन्न संसर्गोत्पन्न अतिसार मे पाचन चिकित्सा–

**शकृता वायुना वाऽऽमे तेनवर्चस्यथानिले ।**
**संसृष्टेऽन्तरपानं स्याद्व्योषाम्ललवणैर्युतम् ।।** च. सि. ८/२६

(१) शकृत् के साथ आम की प्रधानता (२) वायु के साथ आम की प्रधानता (३) आम के साथ मल की प्रधानता तथा (४) आम के साथ वायु की प्रधानता इन चार अवस्थाओं में सोंठ, मरिच, पीपर, लवण और अम्ल द्रव्यों को मिलाकर पाचन के लिये देना चाहिये ।

**८१. पित्तेनामेऽसृजा वाऽपि तयोरामेन वा पुनः ।**
**संसृष्टयोर्भवेत् पानं सव्योषस्वादुतिक्तकम् ।।** च. सि. ८/२७

(१) पित्त के साथ आम की प्रधानता (२) रक्त के साथ पित्त की प्रधानता (३)

आम के साथ पित्त की प्रधानता (४) आम के साथ रक्त की प्रधानता इन चार अवस्थाओं में सोंठ, मरिच, पिप्पली का चूर्ण मधुर और तिक्त द्रव्यों के क्वाथ में मिलाकर पिलाना चाहिये।

**८२. तथाऽऽमे कफसंसृष्टे कषायव्योषतिक्तकम्।**
**आमेन तु कफे व्योष कषायलवणैर्युतम्।।** च. सि. ८/२८

(१) कफ के साथ आमदोष की प्रधानता होने से अतिसार हो तो कषाय द्रव्यों तथा सोंठ, पीपर, मरिच और तिक्त द्रव्यों से निर्मित चूर्ण अथवा क्वाथ का प्रयोग करना चाहिये। (२) यदि आम के साथ कफ की प्रधानता होने से अतिसार हो तो सोंठ पीपर मरिच कषाय एवं लवण द्रव्य से निर्मित चूर्ण अथवा क्वाथ का प्रयोग करना चाहिये।

**८३. वातेन विशि पित्ते वा विट्पित्ताभ्यां तथाऽनिले।**
**मधुराम्लकषायः स्यात् संसृष्टे बस्तिरुत्तमः।।**

च. सि. ८/२९

(१) वायु के साथ पित्त की प्रधानता (२) मल के साथ वायु की प्रधानता (३) पित्त के साथ वायु की प्रधानता तथा (४) रक्त के साथ वायु की प्रधानता, इन चार अवस्थाओं के परिणामस्वरूप अतिसार हो तो मधुर, अम्ल और कषाय द्रव्यों से निर्मित बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

**८४. शकृच्छोणितयोः पित्तशकृतो रक्तपित्तयोः।**
**बस्तिरन्योन्यसंसर्गे कषायस्वादुतिक्तकः।।** च. सि. ८/३०

मल और रक्त के संसर्ग से, पित्त और मल के संसर्ग से, रक्त और पित्त के संसर्ग से अतिसार हो तो कषाय, मधुर और तिक्त द्रव्यों से सिद्ध निरुह का प्रयोग करना चाहिये।

**८५. कफेनविशिपित्ते वा कफे विट् पित्तशोणितैः।**
**व्योषतिक्तकषायः स्यात् संसृष्टे बस्तिरुत्तमः।।**

च. सि. ८/३१

कफ और मल के संसर्ग से, कफ और पित्त के संसर्ग से, मल और कफ के संसर्ग से, पित्त और कफ के संसर्ग से, एवं रक्त और कफ के संसर्ग से यदि अतिसार हो तो सोंठ, पीपर, मरिच, तिक्त एवं कषाय द्रव्यों से निर्मित क्वाथ का बस्ति में प्रयोग करें।

८६. **मारुते कफसंसृष्टे व्योषाम्ललवणोभवेत् ।**
**बस्तिर्वातेन पित्ते तु कार्यः स्वाद्वम्लतिक्तकः ।।** च. सि. ८/३३

कफ के साथ वायु की प्रधानता होने से उत्पन्न अतिसार में सोंठ, पीपर, मरिच, अम्ल तथा लवणरस से निर्मित बस्ति का प्रयोग करना चाहिये । और यदि वायु के साथ रक्त की प्रधानता हो तो मधुर, अम्ल और तिक्त द्रव्यों से सिद्ध बस्ति का प्रयोग करना चाहिये ।

## ८७. सामता में पाचन व अन्य अवस्थाओं में बस्ति–

**युगपत् षड्रसं षण्णां संसर्गे पाचनं भवेत् ।**
**निरामाणां तु पञ्चानां बस्तिः षाड्रसिकोमतः ।।** च. सि. ८/३५

यदि आम और मल आदि का संसर्ग हो तो षड्रसों से युक्त पाचन औषधी का प्रयोग करना चाहिये । और यदि मल, तीनो दोष और रक्त यदि आम से रहित हो तो षड्रसों से युक्त बस्ति का प्रयोग करना चाहिये ।

## ८८. बस्तिव्यापद् अतिसार चिकित्सा–

**स्निग्धाम्ललवणमधुरं पानं बस्तिश्च मारुते कोष्णः ।**
**शीतं तिक्तकषायं मधुरं पित्ते च रक्ते च ।।** ४३
**तिक्तोष्णकषायकटुश्लेष्मणि संग्राही वातनुच्छकृति ।**
**पाचनमामेपानं पिच्छासृग्बस्तयो रक्ते ।।** ४४
**अतिसारं प्रत्युक्तं मिश्रं द्वन्द्वादियोगजेष्वपि च ।**
**तत्रोद्रेकविशेषाद्दोषेषूपक्रमः कार्यः ।।**
च. सि. ८/४३-४५

(a) वातज अतिसार– स्निग्ध, अम्ल, लवण, मधुर द्रव्यों के कल्क का उष्ण जल से पान, या इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ की कोष्ण बस्ति ।

(b) पित्त तथा रक्तजन्य अतिसार– शीतल, तिक्त, कषाय और मधुर रस से सिद्ध बस्ति का प्रयोग अथवा चूर्ण या क्वाथ का पान ।

(c) कफज अतिसार– तिक्त, उष्ण, कषाय एवं कटु द्रव्यों से सिद्ध बस्ति का प्रयोग या इन्हीं द्रव्यों से निर्मित क्वाथ या चूर्ण का प्रयोग ।

(d) शकृदतिसार– वातनाशक संग्राही द्रव्यों से सिद्ध बस्ति या उन्हीं द्रव्यों के चूर्ण या क्वाथ का पान ।

आमातिसार में पाचन द्रव्यों का पान तथा रक्तातिसार में पिच्छाबस्ति, रक्तबस्ति

का प्रयोग करना चाहिये । इन अतिसारों के संसर्ग में चिकित्सा भी दो या तीन प्रकार की मिलाकर करना चाहिये । जिस दोष की प्रधानता होती है उसी दोषनाशक औषधियों का मिश्रण कर चिकित्सा करनी चाहिए ।

## ८९. महादोषकरभाव चिकित्सा–उच्चभाषण

**तत्रोच्चैर्भाष्यातिभाष्यजानामभ्यङ्गस्वेदोपनाहधूमनस्योपरिभक्तस्नेहपान रसक्षीरादिर्वातहरः सर्वो विधिर्मौनं च;**

उच्चभाषण तथा अतिभाषण से उत्पन्न रोगों में अभ्यङ्ग स्वेदन, उपनाह, धूम्रपान, नस्य, भोजनोत्तर घृतपान, मांसरस, दूध तथा वातहर सर्व उपक्रमों का प्रयोग व मौन हितकर होता है ।

संशोधन के पश्चात रोगी जब तक प्रकृतिप्राप्त लक्षणों से युक्त न हो तब तक उसने पथ्य का पालन करना चाहिये । उसमें चरकाचार्य ने आठ महादोषकर भावों का विशेष रूप से उल्लेख किया है । इसमें ऊंचे स्वर में बोलना, रथ जैसे क्षोभ उत्पन्न करनेवाले वाहन से सवारी करना, अतिचंक्रमण, एक ही आसन में अधिक बैठना, अजीर्ण भोजन, अहितकर भोजन, दिन में सोना एवं मैथुन इनका अंतर्भाव होता है । इनमें से उच्चस्वर में भाषण करने पर शरीर के ऊर्ध्व भाग में रोग होते है, रथ पर सवारी या अधिक चलने से, बैठने से शरीर के मध्य भाग में रोग होते है, अजीर्ण में भोजन करने से आमज रोग, अहित भोजन से वातादि दोष जनित रोग एवं मैथुन से धातु क्षयजन्य रोग होते है । इसका आगे विस्तार चरकाचार्य ने किया है ।

## ९०. रथक्षोभ, अतिचंक्रमण अत्यासन–

**रथक्षोभातिचङ्क्रमणात्यसनजानां, स्नेहस्वेदादि वातहरं कर्म सर्वं निदान वर्जनं च ।।** च. सि. १२/१५

रथ जैसे क्षोभ निर्माण करनेवाले वाहनों पर सवारी करने से, अधिक चलने से तथा अधिक बैठने से उत्पन्न होनेवाले व्याधियों में वातनाशक स्नेह स्वेदादि सभी उपक्रमों का पालन करना चाहिये । तथा निदान परिवर्जन करना चाहिये ।

रथक्षोभ से उत्पन्न रोगों में संधिशैथिल्य, हनु, नासिका, कर्ण एवं शिरःशूल, कुक्षी में क्षोभ, आटोप, आंत्रकूजन, आध्मान, हृदयगति में रुकावट, इंद्रियों का विषय ग्रहण सामर्थ्य कम होना, नितम्ब, पार्श्व, वंक्षण, अंडकोष, कटि, पृष्ठ वेदना, संधि, स्कंध, ग्रीवा दुर्बलता, पाददाह, शोथ, शून्यता पादहर्ष इत्यादि का अंतर्भाव होता है । नितम्ब वेदना से पादहर्ष तक के बताए हुए रोग अधिक बैठने से भी उत्पन्न होते है । अतिचंक्रमण से जंघा, उरु, जानु, वंक्षण, श्रोणिप्रदेश, पृष्ठशूल, पादशैथिल्य,

वेदना, पिंडिकोद्वेष्टन, अंगमर्द, अंसप्रदेश में जलन, सिरा, धमनी हर्ष, श्वास, कास आदि रोग होते है।

## ९१. अजीर्णभोजन तथा अध्यशन–

**अजीर्णाध्यशनजानां निखशेषतश्चर्दनं रुक्षः स्वेदो लङ्घनीय पाचनीय दीपनीयौषधावचारणं च।** च. सि. १२/१५

अजीर्ण एवं अध्यशन से उत्पन्न रोगों में जबतक अन्न पूर्ण रूप से न निकल जाय तबतक वमन कराना चाहिये। तत्पाश्चात रुक्ष स्वेद कराकर लङ्घनीय, पाचनीय, दीपनीय औषधों का प्रयोग करना चाहिये।

अजीर्णभोजन तथा अध्यशन से उत्पन्न रोगों में मुखशोष, आध्मान, शूल, निस्तोद (सुई चुभने सी पीड़ा), पिपासा, गात्रसाद, वमन, अतिसार, मूर्च्छा, ज्वर, प्रवाहण और आमविष जैसे रोगों का अंतर्भाव होता है।

## ९२. विषम तथा अहित भोजन–

**विषमाहिताशनजानां यथास्वं दोषहराः क्रियाः।** च. सि. १२/१५

विषम तथा अहित भोजन से उत्पन्न रोगों में दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

विषम तथा अहित भोजन के परिणाम व्यक्ति व भोजन द्रव्यों के अनुसार भिन्न होंगे। इसलिये जो दोष प्रकुपित हो उसके अनुसार चिकित्सा करने के लिये कहा है। इस प्रकार के भोजन से भोजन की इच्छा न होना, दुर्बलता, विवर्णता, कंडू, पामा, ग्रहणी, अर्श आदि रोग दिखाई देते है।

## ९३. दिवास्वाप–

**दिवास्वाप्नजानां धूमपान लङ्घनवमन शिरोविरेचनव्यायामरुक्षाशनारिष्टदीपनपाचनीयौषधोपयोगः प्रघर्षणोर्न्मदनपरिषेचनादिश्च श्लेष्महरः सर्वो विधिः;**

दिवास्वाप से उत्पन्न रोगों में धूमपान, उपवास, वमन, शिरोविरेचन, व्यायाम, रुक्षाहार सेवन, अरिष्टों का पान, दीपनीय औषधियों का सेवन, (कफनाशक चूर्णों का) प्रघर्षण, (कफनाशक तैलों का) मर्दन, (कफनाशक क्वाथों से) परिषेचन तथा अन्य सभी कफनाशक विधियों का प्रयोग करना चाहिये।

दिवास्वाप से उत्पन्न रोगों में अरुचि, अविपाक, अग्निनाश, स्तैमित्य, पाण्डुरोग, खुजली, पामा, दाह, वमन, अङ्गमर्द, हृस्तम्भ, जड़ता, तन्द्रा, निद्राधिक्य,

ग्रन्थिरोग, दुर्बलता, मूत्र और नेत्र रक्तवर्ण के होना, तालु प्रदेश में कफ का लिप्त होना आदि रोगों का अन्तर्भाव होता है।

## ९४. मैथुन–

**मैथुनजानां जीवनीयसिद्धयोः क्षीरसर्पिषोरुपयोगः, तथा वातहराः स्वेदाभ्यङ्गोपनाहावृष्याश्चाहाराः स्नेहाः स्नेहविधयो यावनाबस्तयोऽनुवासनं च; मूत्र वैकृत बस्तिशूलेषुचोत्तरबस्तिर्विदारीगन्धादिगण जीवनीय क्षीरसंसिद्धं तैलं स्यात्** । च. सि. १२/१५

मैथुनोत्पन्न रोगों में जीवनीय गण में वर्णित औषधियों के साथ विधिपूर्वक सिद्ध किये दूध और घृत का प्रयोग, वातनाशक स्वेद, अभ्यङ्ग तथा उपनाहका प्रयोग, वृष्य आहार, स्नेहपान का विधिपूर्वक पालन, यापन बस्ति प्रयोग, अनुवासन बस्ति प्रयोग करना लाभकर होता है। यदि मैथुनाधिक्य से मूत्र विकार तथा मूत्राशय में शूल होने लगे तो विदारिगन्धादि एवं जीवनीय गण की औषधियों से एवं दूध से सिद्ध तैल की उत्तरबस्ति देनी चाहिये।

अतिमैथुनजन्य रोगों में शीघ्र बलनाश, उरुसाद, शिर, बस्ति, गुदा, लिङ्ग, वंक्षण प्रदेश, उरु, जानु, जंघा पैर में शूल, हृदय में धड़कन, नेत्रवेदना, अङ्गशिथिलता, सरक्तशुक्रप्रवृत्ति, कास, श्वास, रक्तष्ठीवन, स्वरभेद, कटि में दुर्बलता, एकाङ्ग तथा सर्वाङ्ग में रोग होना, अण्डकोष में शोथ जैसे अनेक रोगों का व लक्षणों का अन्तर्भाव होता है।

•

## षष्ठोऽध्यायः

# प्राणवह स्त्रोतस

## प्रतिश्याय एवं पीनस

### १. प्रतिश्याय में वेदना–

**शङ्खमूर्धललाटार्तौ पा[illegible]स्वेदोपनाहनम् ।**
**स्वभ्यक्ते क्षवथुस्त्रावरोधादौ संकरादयः ।।** च. चि. २६/१३७

(प्रतिश्याय से पीड़ित रोगी में) यदि शंख प्रदेश, मस्तक तथा ललाट में शूल हो तो हथेली को गरम करके शूलस्थान का सेंक करना चाहिये, अथवा उपनाह बांधना चाहिये। यदि छींक, स्त्राव तथा रोध (नासाप्रतिनाह) हो गया हो तो स्नेहन कर संकरस्वेद का प्रयोग करना चाहिये।

यहां चक्रपाणिदत्त ने रोध शब्द से नासाप्रतिनाह का ग्रहण करने को कहा है। क्षवथुस्त्रावरोधादावित्यत्र रोधशब्देन प्रतिनाहोऽभिधीयते। चरकाचार्य ने प्रतिश्याय के सामान्य चिकित्सासूत्र का वर्णन नहीं किया है। प्रतिश्याय से संबंधित सभी चिकित्सा सूत्र आवस्थिक है। प्रतिश्याय के सामान्य चिकित्सा का वर्णन सुश्रुत, काश्यप भावप्रकाश व चक्रदत्त ने किया है। प्रतिश्याय में वात और कफ प्रमुख दोष है। इसलिये स्वेदन से लाभ होना स्वाभाविक है। यह रसप्रदोषज विकार है। लेकिन सुश्रुत ने इसमें रक्तदुष्टी भी मानी है। प्राण और उदान स्थान की व्याधि होने से प्राणावृत्त उदान में भी प्रतिश्याय एक लक्षण बताया है। प्रतिश्याय के आशुकारीत्व तथा चिरकारित्व का उल्लेख भी चरकाचार्य ने अप्रत्यक्ष रीति से किया है।

### २. वातज प्रतिश्याय में शोष–

**स्त्रोतः श्रृंङ्गाटनासाक्षि शोषे तैलं च नावनम् ।** च. चि. २६/१३९

नासास्त्रोत, श्रृंगाटक, नासिका और नेत्र में शोष अर्थात् सूखापन अनुभव होता हो तो नावन तैल नस्य देना चाहिये। यह वातज प्रतिश्याय की एक अवस्था है।

आशुकारी कारणों से वातप्रकोप होकर जो प्रतिश्याय होता है उसमें कई बार शोष यह लक्षण मिलता है। वातप्रधान प्रकृति वाले कई व्यक्ति हमेशा सुखी सर्दी की बात करते है। यही शोष लक्षण है। चरकाचार्य ने इस अवस्था के लिये अणुतैल को सर्वोत्तम माना है। आयुर्वेद में प्रतिश्याय के पांच भेद बताये है। वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज तथा रक्तज। रसरत्नसमुच्चयकार ने 'मलसंचयजनित प्रतिश्याय' ऐसा भी एक प्रकार बताया है। अष्टांग हृदयकार ने नासाशोष में बलातैल पान,

मांसरस सेवन तथा स्नैहिक धूम का प्रयोग व स्वेदन करने के लिये कहा है। वैसे ही वातज प्रतिश्याय के सामान्य चिकित्सा में भी वातघ्न औषधी अथवा पंचलवण अथवा विदार्यादिगण के द्रव्यों से सिद्ध घृतपान, स्वेदन, नस्य तथा अर्दित समान उपचार करने को कहा है।

## ३. पित्तज प्रतिश्याय–

**पैत्तेसर्पिः पिबेत् सिद्धं शृंगबेरश्रृतं पयः ।**
**पाचनार्थं पिबेत् पक्वे कार्यमूर्धविरेचनम् ।।** च. चि. २६/१४४

पित्तज प्रतिश्याय में दोषों के पाचनार्थ अदरख सिद्ध घृत अथवा अदरख सिद्ध दूध का पान करना चाहिये। तत्पश्चात शिरोविरेचन (नस्य) का प्रयोग करना चाहिये।

पित्तज प्रतिश्याय में ज्वर, तृष्णा, उष्णपीतस्राव, कृशता, तालुशोथ, भ्रम, पाण्डुता इत्यादि लक्षण दिखाई देते है। इसलिये उपचार के प्रथम चरण के रूप में दोषों के पाचनार्थ आर्द्रक सिद्ध घृत अथवा दुग्ध का प्रयोग करने के लिये कहा है। गंगाधर ने यहां अदरख की जगह पित्तशामक द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग करने को कहा है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने पित्तज प्रतिश्याय में मधुरौषधियों से सिद्ध घृतपान तथा शीतवीर्य द्रव्यों से शीत परिषेक और प्रदेह करने को कहा है।

## ४. कफज पीनस–

**गौरवारोचकेष्वादौ लङ्घनं कफपीनसे ।**
**स्वेदाः सेकाश्च पाकार्थं लिप्ते शिरसि सर्पिषा ।।**

च. चि. २६/१४९

यदि गौरव व अरोचक यह दो लक्षण कफज पीनस में हो तो सर्वप्रथम लंघन कराना चाहिये। तत्पाश्चात दोषपाचनार्थ घी का सर पर लेप करके स्वेदन और परिषेक करना चाहिये।

पीनस के और दुष्ट प्रतिश्याय के लक्षण करीब करीब समान ही रहते है। लेकिन पीनस के लक्षण उग्र व चिरकारी होते है। अष्टांग हृदयकार ने कफज प्रतिश्याय में भी लंघन, सफेद राई का लेप, यवक्षार मिश्रित घृतपान के पश्चात वमन तथा तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करने के लिये कहा है।

## ५. कफज पीनस में धूम्रपान तथा अवपीडन नस्य–

**अपीनसे पूतिनस्ये घ्राणस्रावे स कंडुके ।**
**धूमः शस्तोऽवपीडस्य कटुभिः कफ पीनसे ।।**

च. चि. २६/१५१

अपीनस, पूतिनस्य, नासास्राव और कफज प्रतिश्याय में यदि कंडू हो तो कटु द्रव्यों से निर्मित धूमपान तथा अवपीडन नस्य का प्रयोग हितकर होता है।

## ६. कफज पीनस में वमन

**स्निग्धस्य व्याहते वेगे च्छर्दनं कफपीनसे।** च. चि. २६/११५

पीनस का वेग मंद होने पर कफज पीनस में वमन करवाना चाहिये।

## ७. वातज पीनस–

**वातात् सकासवस्वर्ये सक्षारं पीनसे घृतम्।**
**पिबेद्रसं पयश्चोष्णं स्नैहिकं धूममेव वा।।** च. चि. २६/१३४

वातज पीनस में यदि कास और स्वरभेद यह लक्षण भी हो तो उष्ण गोघृत में यवक्षार मिलाकर पिलाना चाहिये तथा उष्ण मांस रस या दूध का सेवन अथवा स्नैहिक धूमपान कराना चाहिये।

प्रतिश्याय/पीनस में धूम्रपान वर्जित है। लेकिन स्नैहिक धूमपान इसका अपवाद है। इसे स्पष्ट करते हुए चक्रपाणि ने कहा है, "प्रतिश्याये धूमस्य निषेधो वैरेचनिक धूमाभिप्रायेणकृतः, तेनेह स्नैहिक धूमाभिधानं न विरोधि। यहां वैरेचनिक धूम्रपान का निषेध अपेक्षित है न कि स्नैहिक धूमपान का।

## ८. वातज पीनस में निरुह–

**स्निग्धस्यास्थापनैर्दोषं निर्हरेद्वातपीनसे।** च. चि. २६/१४१

वातज पीनस में स्नेहन के पश्चात् स्थापन (निरुह) बस्ति के प्रयोग से दोषों का निर्हरण करना चाहिये।

## ९. नूतन प्रतिश्याय में धूम्रपान–

**अथवा सघृतान् सक्तून् कृत्वामल्लकसंपुटे।**
**नवप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत्।।** च. चि. २६/१३६

नवप्रतिश्याय से पीड़ित रोगियों को वैद्य ने जौ के सत्तु में घृत मिलाकर चिलम पर रखकर धूमपान कराना चाहिये।

## १०. पूयरक्त चिकित्सा–

**पूयास्रो रक्तपित्तघ्नाः कषाया नावनानि च।**
**पाकदाहाढ्य रुक्षेषु शीता लेपाः ससेचनाः।।** ३०

**घ्रेयनस्योपचाराश्च कषायाः स्वादुशीतलाः ।**
**मन्दपित्ते प्रतिश्याये स्निग्धैः कुर्याद्विरेचनम् ।।**

च. चि. २६/१४६, १४७

पूयरक्त में रक्तपित्तनाशक कषाय तथा नस्य का प्रयोग करना चाहिये । यदि प्रतिश्याय में नासापाक हुआ हो, दाह अधिक हो, रुक्षत्व निर्माण हुआ हो तो शीतल द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ से परिषेचन तथा शीत लेपों का प्रयोग करना चाहिये । तथा कषाय मधुर और शीतल द्रव्यों के कपड़छान चूर्ण का नस्य करना चाहिये । यदि पित्त अल्प मात्रा में कुपित हो तो स्निग्ध द्रव्यों के साथ विरेचन देना चाहिये ।

मन्दपित्ते इति ईषत् पित्ते ऐसा चक्रपाणि ने कहा है । अष्टांग हृदयकार ने नव्य पूयरक्त में रक्तज पीनस के समान और अतिप्रवृद्ध होने पर नाडीव्रण के समान चिकित्सा करने को कहा है। पूयरक्ते नवेकुर्याद्रक्तपीनसवत्क्रियाम् । अतिप्रवृद्धे नाडीवद्... । अ. हृ. चि. २१/२३

### ११. दुष्ट पीनस–

**सर्वजित् पीनसे दुष्टे कार्यं शोफे च शोफजित् ।**
**क्षारोऽर्बुदाधिमांसेषु क्रिया शेषेष्ववेक्ष्य च ।।**

च. चि. २६/१५७

दुष्ट पीनस रोग में त्रिदोषनाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये । नासाशोफ में शोफनाशक चिकित्सा तथा नासार्बुद व अधिमांस में क्षारक्रिया करनी चाहिये । जिन रोगों की चिकित्सा का उल्लेख यहा नहीं है उन रोगों में दोष और उपद्रवों को देखकर चिकित्सा करनी चाहिये ।

यहां शोफ शब्द से नासाशोफ का ग्रहण चक्रपाणि के अनुसार किया है । शोफे चेति नासाशोफे । अष्टांगहृदयकार के अनुसार दुष्ट पीनस की चिकित्सा क्षय रोग व कृमी के अनुसार करनी चाहिये । यक्ष्मकृमिक्रमं कुर्वन् यापयेद्दुष्टपीनसे । नासार्श व नासार्बुद में वाग्भट ने दग्ध करने के लिये कहा है और तत्पश्चात् वर्ति प्रयोग व नस्य कर्म करने के लिये कहा है ।

## कास

### १. वातज कास चिकित्सा–

**रुक्षस्यानिलजं कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत् ।**
**सर्पिर्भिर्वस्तिभिः पेयायूषक्षीर रसादिभिः ।।**

**वातघ्नसिद्धैः स्नेहाद्यैर्धूमैर्लेहैश्च युक्तितः ।**
**अभ्यङ्गैः परिषेकैश्च स्निग्धैः स्वेदैश्च बुद्धिमान ।।**
**बस्तिर्भिबद्धविड्वातम् शुष्कोर्ध्वं चोर्ध्वभक्तिकैः ।**
**घृतैः सपित्तं सकफं जयेत् स्नेह विरेचनैः ।।**

च. चि. १८/३२-३४

जिनका शरीर रुक्ष है ऐसे व्यक्तियों में होनेवाले वातजन्य कास में पहले स्नेहन का प्रयोग करना चाहिये । स्नेहनार्थ वातशामक द्रव्यों से सिद्ध घृत, बस्ति, पेया, यूष, क्षीर, मांसरस आदि का प्रयोग करना चाहिये तथा स्निग्ध धूम, अवलेह, अभ्यङ्ग, परिषेक द्वारा युक्तिपूर्वक स्नेहन करना चाहिये । सम्यक् स्नेहन के बाद स्वेदन करना चाहिये । जिन रोगियों में मल तथा अपान की प्रवृत्ति उचित रूप से नहीं होती हो उन्हें अनुवासन बस्ति द्वारा स्नेहन का प्रयोग करना चाहिये । यदि मल सुख गया हो और अपान वायु की गति ऊपर हो गयी हो उन्हें भोजन के बाद घृत सेवन कराना चाहिये । जिनमें वातज कास पित्तानुबंधी या कफानुबंधी हो तो स्नेहयुक्त विरेचन का प्रयोग करना चाहिये ।

अष्टांग संग्रहकार ने करीब करीब इन्हीं चीजों को दोहराया है । सिर्फ पित्तानुबंधी वातज कास में भोजनानंतर घृतपान तथा दुग्धपान करने के लिये कहा है । इसी को अष्टांग हृदयकार ने दोहराया है । सुश्रुत ने वातज कास में स्निग्धविरेचन, आस्थापन अनुवासन, स्नैहिक धूमपान, दूध सहित घृतपान इत्यादि का प्रयोग करने के लिये कहा है ।

## २. वातज, वातकफज कास–

**वाते कफानुबन्धे तु कुर्यात् कफहरीं क्रियाम् ।**
**पित्तानुबन्धयोर्वात कफयोः पित्तनाशिनीम् ।।**

च. चि. १८/१३२

वातज कास में कफ का अनुबन्ध हो तो कफनाशक चिकित्सा करनी चाहिये । और वातकफज कास यदि पित्तानुबन्धी हो तो पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये ।

अष्टांग संग्रहकार ने वातज कास में कफ का अनुबन्ध रहने पर स्निग्ध विरेचन का प्रयोग, पित्त का अनुबंध रहने पर भोजनांतर घृतपान तथा दुग्धपान व मल तथा अपान वायु का अवरोध हो तो स्निग्ध बस्ति का प्रयोग करने को कहा है ।

**बस्तिभिर्बद्धविड्वातं सपित्तं तूर्ध्वभक्तकैः ।**
**घृतैः क्षीरैश्च सकफं जयेत्स्नेहविरेचनैः ।।** अ. सं. चि. ४/२

### ३. पित्तज कास चिकित्सा-आवस्थिक–

**पैत्तिके सकफे कासे वमनं सर्पिषा हितम्।**
**हृत्दोषस्ततः शीतं मधुरं च क्रमं भजेत्।।**

च. चि. १८/८३-८४

पित्तज कास में यदि कफ का अनुबंध हो तो वामक द्रव्यों से सिद्ध घृतपान कराकर वमन कराना हितकर होता है। जब वमन द्वारा दोषर्निहरण हो जाय तो शीतल अथवा मधुर क्रम का अर्थात् पेया विलेपी आदि का सेवन करना चाहिये।

अष्टांग हृदय, अष्टांगसंग्रहकार ने 'पित्तकासे तु सकफे वमनं सर्पिषा हितम्' कहकर चरकाचार्य का अनुमोदन किया है।

### ४. पित्तज कास चिकित्सा-आवस्थिक–

**पैत्ते तनुकफे कासे त्रिवृतां मधुरैर्युताम्।**
**दद्याद्घनकफे तिक्तैर्विरेकार्थे युतां भिषक्।।** च. चि. १८/८५

पित्तज कास में यदि कफ पतला हो तो विरेचन के लिये निशोथ चूर्ण में चीनी या अन्य मधुर द्रव्य मिलाकर सेवन करना चाहिए। और यदि कफ गाढ़ा हो तो तिक्त रस वाले द्रव्यों के साथ निशोथ का सेवन कराकर विरेचन कराना चाहिये।

इस सूत्र में पित्तज कास की दो अवस्थाओं का वर्णन है। एक में कफ पतला है और दूसरे में गाढ़ा। पित्त का अनुबन्ध मुख्य होने से विरेचन प्रधान चिकित्सा है। मधुर रस वातपित्त शामक होने से पतले कफ में मधुर रस अनुपान या सहपान के रूप में प्रयोग बताया है। तिक्त रस भी कफ की घनता जादा रहने पर सहपान के रूप में उपयोगी है। इसके साथ साथ चरकाचार्य ने पतले कफ में स्निग्ध शीतल व गाढे कफ में रुक्ष शीतल आहार द्रव्यों का प्रयोग करने के लिये कहा है। अष्टांग हृदय तथा संग्रहकार ने इसी को दोहराया है।

### ५. कफज कास चिकित्सा–

**बलिनं वमनैरादौ शोधितं कफकासिनम्।**
**यवान्नैः कटुरुक्षोष्णैः कफघ्नैश्चाप्युपाचरेत्।।** च. चि. १८/१०८

कफज कास का रोगी यदि बलवान हो तो सर्वप्रथम वमन कराकर कफनाशक जौ और कटु रुक्ष उष्ण अन्न का पथ्य देते हुए चिकित्सा करनी चाहिये।

कफज कास में वमन से होने वाला लाभ सर्वविदित है। शिशुओं में यह हमे कई बार देखने को मिलता है। मात्र दोनों वाग्भटों ने स्नेहन, वमन, विरेचन, शिरोविरेचन व संसर्जन क्रम इस चिकित्सा क्रम को अपनाया है।

### ६. कफज कास-आवस्थिक–

**तमकः कफकासे तु स्याच्चेत् पित्तानुबन्धजः ।**
**पित्तकास क्रियां तत्र यथावस्थं प्रयोजयेत् ।।**

च. चि. १८/१३१

कफज कास में यदि पित्त का अनुबन्ध रहने पर तमकश्वास हो जाय तो अवस्थानुरूप पित्तज कास की चिकित्सा करनी चाहिए ।

इस कफज कास की अवस्था में तमकश्वास उपद्रवस्वरूप निर्माण हुआ है । चक्रपाणिदत्त ने कहा भी है, तमकः कासोपद्रवरूपः । पित्तानुबन्धयोरित्यत्रापि वातकफयोरनुबन्धत्वं, पित्तस्य तु प्राधान्यम्; अतएव पित्तनाशिनी क्रियोक्ता तत्र । इस अवस्था का संग्रह तथा हृदयकार ने उल्लेख नहीं किया है ।

### ७. धूमपान–

**धूमांस्तानेव दद्याच्च ये प्रोक्ता वातकासिनाम् ।** चि. १८/१३०

वातज कास में जिन धूमों का प्रयोग बताया है उन्हीं धूमों का प्रयोग कफज कास में भी करना चाहिये ।

चरकाचार्य ने कास रोग में प्रतिश्याय की अवस्था में भी धूमपान करने को कहा है । इसमें वर्णित प्रपौण्डरीकादि तथा मनःशीलादि धूमपान मुख्यतः वैरेचनिक धूमपान है जो कफ को काटकर निकालता है । यह धूम तीव्र होने के कारण नाक से निकालने पर नेत्र को हानि पहुँचाता है । इसलिये बैरेचनिक धूम को मुख से लेकर मुख से ही बाहर निकालना चाहिये । हमारे देश के ग्रामीण भाग में आज भी वातकफज कास में अजवाइन तथा धतुरे के पत्तों से धूमपान होता है ।

### ८. धूमपान-आवस्थिक–

**शिरसः पीडने स्रावे नासायाहृदिताम्यति ।**
**कासप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत् ।।** च. चि. १८/६५

कास या प्रतिश्याय से पीड़ित रुग्ण के सिर में पीड़ा, नासिका से जलस्राव तथा हृदय में तम की अधिकता हो तो वैद्य ने उस रुग्ण में धूमपान का प्रयोग करना चाहिये ।

धूमपान का विस्तृत वर्णन सूत्रस्थान में है, उसे वहीं देखें । सुश्रुत ने पांच प्रकार के धूम बताये है । स्नेहन, प्रायोगिक, वैरेचनिक, कासघ्न एवं वामनीय । लेकिन चरकाचार्य को कास रोग में वैरेचनिक धूमपान ही अपेक्षित है ऐसा प्रतीत होता है ।

अष्टांग संग्रहकार ने सभी प्रकार के कास में शमन धूमपान का तथा कफ प्रधान कास में शोधन धूमपान का प्रयोग करने के लिये कहा है।

**शमनं च पिबेद्धूमं शोधनं बहुले कफे।** अ. सं.

## ९. विभिन्न कास में पथ्यकर आहार–

**आर्द्रेविरुक्षणम् शुष्के स्निग्धं वात कफात्मके।**
**कासेऽन्नपानं कफजे सपित्ते तिक्तसंयुतम्।।**

च. चि. १८/१३३

वातकफज कास आर्द्र होने पर रुक्ष अन्नपान का और शुष्क होने पर स्निग्ध अन्नपान का प्रयोग करना चाहिये। कफज कास में पित्त का अनुबन्ध होने पर तिक्त रस प्रधान अन्नपान का सेवन करना चाहिये।

## १०. क्षतज कास–

**कासमात्ययिकं मत्वा क्षतजं त्वरया जयेत्।**
**मधुरैर्जीवनीयैश्च बलमांसविवर्धनैः।।** च. चि. १८/१३४

क्षतज कास को आत्यधिक अवस्था मानकर उसे तुरंत जीतना चाहिये। मधुर वर्ग के द्रव्य जीवनीय गण के द्रव्य और बल तथा मांसवर्धक द्रव्य से उसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

यहां क्षतज कास का अर्थ उरःक्षत है। उरःक्षत की तत्काल चिकित्सा न करने पर वह यक्ष्मा में परिवर्तित हो सकता है ऐसा विद्वानों का कहना है।

## ११. क्षतज कास–

**क्षतकासाभिभूतानां वृत्तिः स्यात् पित्तकासिकी।**
**क्षीरसर्पिर्मधुप्राया संसर्गे तु विशेषणम्।।**

च. चि. १८/१३८

क्षतज कास से अभिभूत अर्थात पीडित व्यक्ति की चिकित्सा पित्तज कास के समान करनी चाहिये। विशेषकर दूध, घृत और मधु का प्रयोग करना चाहिये। सुश्रुत ने भी पित्तज, क्षतज और क्षयज कास की चिकित्सा समान बताई है।

## १२. क्षतज कास-आवस्थिक–

**वातपित्तार्दितेऽभ्यङ्गो गात्रभेदेघृतैर्हितः।**
**तैलैर्मारुतरोगघ्नैः पीड्यमाने च वायुना।।** च. चि. १८/१३९

वात पित्तज कास से पीड़ित रोगी के शरीर में वेदना हो तो घृत से अभ्यङ्ग और केवल वातवृद्धि से शरीर में पीड़ा हो तो वातनाशक तैलों का अभ्यङ्ग, मर्दन हितकर होता है।

अष्टांग संग्रहकार ने भी इसी को दोहराया है।

## १३. क्षतज कास में रक्तनिष्ठीवन एवं पार्श्वशूल–

**हृत्पार्श्वार्तिषु पानं स्यात् जीवनीयस्य सर्पिषः ।**
**सदाहं कासिनो रक्तं ष्ठीवतः सबले नले ।।** च. चि. १८/१४०

यदि क्षतज कास का रोगी बलवान अग्नि वाला हो लेकिन वह रक्तनिष्ठीवन करता हो, उसके शरीर में दाह हो और उसके हृदय तथा पसलियों में पीड़ा हो तो जीवनीयगण से सिद्ध घृत (वातरक्त प्रकरण में वर्णित) का पान करना चाहिये।

इसी सूत्र को अष्टांग संग्रहकार ने दोहराया है।

## १४. क्षतज कास में स्राव–

**रक्ते स्त्रोतोभ्य आस्याद्वाऽप्यागते क्षीरजं घृतम् ।**
**नस्यं पानं यवागूनां श्रान्ते क्षामे हतानले ।।**

च. चि. १८/१४२

यदि क्षतज कास के रुग्ण को स्रोतस या मुख से रक्तस्राव होता हो तो दूध से निकाले गये घृत का नस्य और पान कराना चाहिये। यदि क्षतज कास का रुग्ण थका हुआ क्षीण हो और उसकी अग्नि दुर्बल हो तो यवागू का सेवन कराना चाहिये।

इसके साथ साथ चरकाचार्य ने क्षतज कास के रोगी के शरीर में यदि जकड़ाहट हो तो उत्तम मात्रा में घृतपान या वातनाशक चिकित्सा जो रक्त एवं पित्त के अविरोधी हो, उसका प्रयोग करने के लिये कहा है।

## १५. क्षतज कास में धूमपान–

**निवृत्ते क्षतदोषे तु कफे वृद्ध उरःक्षते ।**
**दाल्यते कासिनो यस्य स धूमान्ना पिबेदिमान् ।।**

च. चि. १८/१४४

जब क्षतज कास की चिकित्सा पूर्ण होने पर सारे क्षत के दोष दूर हो जाय पर कफ के बढ़ जाने से सीने में क्षतस्थान में फाड़ने जैसी वेदना हो तो धूमपान का प्रयोग करना चाहिये।

### १६. क्षयज कास-सामान्य चिकित्सा सूत्र–

**दीपनं बृंहणं चैव स्त्रोतसां च विशोधनम् ।**
**व्यत्यासात्क्षयकासिभ्यो बल्यं सर्वं हितं भवेत् ।।**

च. चि. १८/१८७

क्षयज कास से आक्रान्त रोगियों को दीपन, बृंहण एवं स्त्रोत:शोधन औषधियों का प्रयोग व्यत्यास से अर्थात् एक के बाद दूसरा इस क्रम से करना चाहिये । जो औषधियां एवं आहार बलवर्धक हो वे सभी आहार एवं औषधी क्षयज कास में हितकर होते है ।

व्यत्यसादिति क्रिया परिवर्तनात् । चक्रपाणि–व्यत्यास का मतलब है क्रिया परिवर्तन । अर्थात् दीपन के बाद बृंहण व पुन: दीपन यह दीपन और बृंहण का व्यत्यास हुआ । इसके पश्चात् स्त्रोत:शोधन व पुन: दीपन इत्यादि ।

### १७. क्षयज कास में त्रिदोषज चिकित्सा–

**सन्निपातभवोऽप्येष क्षयकास: सुदारुण: ।**
**सन्निपातहितं तस्मात् सदाकार्यं भिषग्जितम् ।।**

च. चि. १८/१८८

क्षयज कास सन्निपातज एवं दारुण होता है । वैसे यह असाध्य माना गया है । सिर्फ नूतन क्षयज कास को प्रत्याख्येय माना है । चरकाचार्य ने दुर्बल व संपूर्ण लक्षणों से युक्त क्षयज कास के रोगी में चिकित्सा न करने के लिये कहा है ।

### १८. नूतन क्षयज कास में बृंहण–

**तस्मै बृंहणमेवादौ कुर्यादग्नेश्चदीपनम् ।**
**बहुदोषाय सस्नेहं मृदुदद्याद्विरेचनम् ।।** च. चि. १८/१५०

नूतन क्षयज कास में सर्वप्रथम बृंहण एवं दीपन औषधियों का प्रयोग करना चाहिये । यदि शरीर में दोषाधिक्य हो तो स्नेह के साथ मृदु विरेचन देना चाहिये ।

क्षयज कास के सामान्य चिकित्सासूत्रानुसार ही यह चिकित्सा सूत्र है । देखिये सू. १६ । आगे चरकाचार्य ने सस्नेह मृदुविरेचनों का वर्णन किया है ।

## हिक्का एवं श्वास

### १. सामान्य चिकित्सा सूत्र–

**हिक्काश्वासादितं स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत् ।**
**आक्तं लवणतैलेन नाडी प्रस्तर संकरै: ।।**

**तैरस्य ग्रथितःश्लेष्मा स्रोतःस्वभिविलीयते ।**
**खानिमार्दवमायान्ति ततो वातानुलोमता ।।**

च. चि. १७/७१-७२

हिक्का या श्वास से पीड़ित मनुष्य को सर्वप्रथम सेंधानमक तिल तैल में मिलाकर वक्षस्थल पर मर्दन करना चाहिये । तत्पश्चात स्निग्ध द्रव्यों से युक्त नाड़ी स्वेद, संकर स्वेद या प्रस्तर स्वेद से स्वेदन करना चाहिए । इस स्नेहन स्वेदन से स्रोतसों में गांठ के समान बना हुआ कफ पिघलता है । फलस्वरूप स्रोतस मृदु हो जाते है और वातानुलोमन होता है ।

श्वास मुख्यत: वातकफज व्याधि होने से स्नेहन स्वेदन से उपशय होना स्वाभाविक है । वमन के पूर्वकर्म के रूप में भी स्नेहन स्वेदन का प्रयोग होता है । अष्टांग संग्रहकार ने हिक्का तथा श्वास रोग में स्वेदन परमावश्यक माना है । यहां तक की स्वेदन के लिये अयोग्य व्यक्ति को भी अल्प स्वेदन करने को कहा है ।

**अवश्यं स्वेदनीयानामस्वेद्यानामपि क्षणम् ।** अ. सं. चि. ६/१४

सुश्रुत तथा अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी चरकाचार्य के इसी सूत्र को दोहराया है । देखिये सु. उ. ५१/४८, अ. हृ. चि. अध्याय ४

## २. श्वास रोग में वमन–

**स्विन्नं ज्ञात्वा ततस्तूर्णं भोजयेत् स्निग्धमोदनम् ।**
**ततः श्लेष्मणि सवृध्दे वमनं पाययेत्तुतम् ।** च.चि. १७/७६

सम्यग् स्नेहन स्वेदन हो गया है ऐसा जानकर रुग्ण को स्निग्ध द्रव्यों के साथ भात खिलाना चाहिये । जब कफ की वृद्धि हो जाय तब वमन देना चाहिये ।

सुश्रुत ने किसी अन्य आचार्यो का हवाला देते हुए श्वास रोग में वमन और विरेचन का प्रयोग करने के लिये कहा है । श्वास रोग में वमन तो सर्वविदित है लेकिन कई रुग्णों में विरेचन से भी लाभ दिखाई देता है । सुश्रुत ने बलवान रोगियों में वमन के पश्चात् विरेचन का प्रयोग करने के लिये कहा है । अष्टांग संग्रहकार ने भी स्नेहन स्वेदन के पश्चात जो वातवर्धक न हो ऐसे द्रव्यों से मृदु वमन का प्रयोग करने को कहा है । विशेषत: हिक्का या श्वास के साथ जब कास, छर्दी, हृद्ग्रह या स्वरभेद हो तो वमन अवश्य करवाएं । अष्टांग संग्रहकार ने विरेचन का भी प्रयोग करने को कहा है । आध्मान व उदावर्त में विरेचन का प्रयोग करना चाहिये ।

३. **लीनश्चेद्दोषशेषः स्याद् धूमस्तं र्निहरेद् बुधः ।** च. चि. १७/७७

(हिक्का और श्वास रोग में वमन कराने के बावजूद) दोष स्रोतसों में लीन होने

के कारण शेष रह जाए तो उसे धूमपान कराकर निकालना चाहिये।

सुश्रुत ने स्नेहन स्वेदन के पश्चात कफोत्क्लेशक अन्न का सेवन कर धूमपान करने को कहा है चरकोक्त धूमपान वमनोपरांत है। वमन कफ के शोधन के लिये किया जाता है। इसलिये यहां लीन दोष से कफ का ग्रहण करना चाहिये और धूमपान भी मुख्यत: कफशामक होना चाहिये। वह वातवर्धक न हो इसका भी ख्याल रखना चाहिये। अष्टांग हृदयकार ने स्पष्ट रूप से वमनोपरांत लक्षणों में उपशय न मिलने पर धूमपान करने को कहा है। अशान्तौ कृतसंशुद्धेर्धूमैर्लीनं मलं हरेत्। इति अष्टांग संग्रहकार ने भी यहीं कहा है।

## ४. श्वास में स्वेदन वर्ज्य–

**न स्वेद्यः पित्तदाहार्ता रक्तस्वेदातिवर्तिनः।**
**क्षीण धातु बला रुक्षा गर्भिण्यश्चापि पित्तलः।।**

च. चि. १७/८२

हिक्का व श्वास रोग में पित्त की प्रबलता, दाह, रक्तस्राव, स्वेदाधिक्य, धातु व बल क्षीणता, रुक्षत्व इन अवस्थाओं में तथा गर्भिणी एवं पित्तप्रकृति का व्यक्ति इन्हें स्वेदन नहीं देना चाहिये।

यहां स्वेदन का निषेध बताकर भी आगे चरकाचार्य ने इन अवस्थाओं में मृदु स्वेदन का प्रयोग करने के लिये कहा है। सुश्रुत व वाग्भट ने इसी को दोहराया है।

## ५. श्वास में संशोधन वर्ज्य–

**अनुत्क्लिष्टकफास्विन्न दुर्बलानां विशोधनात्।**
**वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोष्याशु हरेदसून्।।** च. चि. १७/९१

जिन हिक्का एवं श्वास रोगियों में कफोत्क्लेश न हुआ हो, जिनका स्वेदन न हुआ हो, जो अत्यन्त दुर्बल हो ऐसे व्यक्तियों में संशोधन करने पर वात प्रकोप को अवसर प्राप्त होता है और यह प्रकुपित वायु मर्म प्रदेश को सुखाकर शीघ्र प्राण को नष्ट कर देते है।

## ६. हिक्का-श्वास में रोगी बल–

**कफाधिके बलस्थे च वमनं स विरेचनम्।**
**कुर्यात् पथ्याशिने धूमलेहादि शमनं तथा।।** च. चि. १७/८९

यदि हिक्का अथवा श्वास रोगी बलवान हो, उसमें कफाधिक्य हो तो पथ्य आहार विहार का प्रयोग करते हुए वमन विरेचन द्वारा दोषों का संशोधन कराकर हिक्का श्वास नाशक धूम व अवलेह आदि का प्रयोग करना चाहिये।

### ७. रोगी बल–

**वातिकान् दुर्बलान् बालान् वृद्धांश्चानिलसूदनैः ।**
**तर्पयेदेव शमनैः स्नेह यूष रसादिभिः ।।**

च. चि. १७/९०

हिक्का व श्वास से पीडित रुग्ण यदि वातप्रकृतिवाला, दुर्बल, बाल या वृद्ध हो तो उसे वातनाशक औषधियों का प्रयोग करते हुए हिक्का व श्वास को शान्त करनेवाले स्नेह, यूष, मांस रस आदि से तर्पण कराना चाहिये ।

### ८. श्वास में बृंहण–

**दृढान् बहुकफांस्तस्माद्रसैरानूपवारिजैः ।**
**तृप्तान् विशोधयेत् स्विन्नान् बृंहयेदितरान् भिषक् ।।**

च. चि. १७/९२

चिकित्सक ने जो रोगी दृढ़ हो, बलवान हो, जिसके शरीर में कफ अधिक प्रमाण में हो, उन्हें आनूप और औदक पशुपक्षियों के मांस रस से तृप्त कराकर स्वेदन कराएं । तत्पश्चात शोधन कराएं । अन्य सभी रुग्णों में बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये ।

यहां अन्य सभी रुग्णों से दुर्बल व जिनमें कफ प्रकोप के लक्षण नहीं दिखते ऐसे रुग्णों का ग्रहण करना चाहिये । सामान्य रूप से रोगी बलवान व कफ प्रधान हो तो वमन विरेचनादि अपतर्पण चिकित्सा और यदि रोगी दुर्बल व श्वास वातप्रधान हो तो संतर्पण चिकित्सा करनी चाहिये ।

### ९. श्वास में बृंहण–

**सर्वेषां बृंहणेह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत् ।**
**नात्यर्थं शमनेऽपायो भृशोशक्यश्च कर्शने ।।** च. चि. १७/१४९

सभी हिक्का श्वास से पीड़ित रोगियों में बृंहण चिकित्सा करने से यह रोग या इनके उपद्रव अल्पशक्य अर्थात् सुखसाध्य होते है । वैसे ही शमन चिकित्सा से अपाय होने का भय नहीं रहता । लेकिन यदि कर्षण चिकित्सा की जाय तो यह दोनों रोग असाध्य हो जाते है ।

श्वास यह आमाशयोत्पन्न व्याधी है । अत: सामान्यत: आमपाचनार्थ लंघन यह इसकी चिकित्सा होनी चाहिये । लेकिन इसका अधिष्ठान प्राणवह स्रोतस और विकृति प्राण वायु की होने से किसी भी प्रकार से वातप्रकोप इसमें उपद्रवकारी हो सकता है । इसलिये सामान्य नियम से हटकर यहां बृंहण चिकित्सा बतायी है । बृंहण से यदि कुछ अपाय होता भी है तो उसका उपाय भी आसान है । लेकिन यदि श्वास की

अवस्था में लंघनोपचार या कर्शण चिकित्सा में थोड़ा भी अतियोग होता है तो वह ज्यादा दु:खदायक व चिकित्सा के लिये कठिन होता है। इसलिये श्वासरोग में शमन चिकित्सा ही मध्यममार्ग है।

### १०. श्वास-हिक्का में बृंहण–

**तस्माच्छुद्धानशुद्धांश्च शमनैर्बृंहणैरपि।**
**हिक्काश्वासार्दिताञ्जन्तून् प्रायशः समुपाचरेत्॥**

च. चि. १७/१५०

अत: शरीर शुद्ध कराया गया हो अथवा न कराया गया हो, हिक्का तथा श्वास से पीड़ित रोगियों में प्राय: शमन और बृंहण क्रियाओं द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

दुबारा वहीं चीज कहना प्रतिज्ञा है।

### ११. हिक्का व श्वास में शमन चिकित्सा–

**यत्किंचित् कफवातघ्नमुष्णंवातानुलोमनम्।**
**भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वास हिक्किने॥** च. चि. १७/१४७

जो कोई भी द्रव्य कफवातशामक, उष्ण तथा वातानुलोमक हो वे सभी औषधी, पान और अन्न का प्रयोग हिक्का व श्वास रोगी के लिये हितकर होता है।

### १२. शमन चिकित्सा का नियम–

**वातकृद्वाकफहर कफकृद्वाऽनिलापहम्।**
**कार्यं नैकान्तिकम् ताभ्यां प्रायः श्रेयोऽनिलापहम्॥**

च. चि. १७/१४८

वातकारक एवं कफनाशक या कफकारक एवं वातनाशक औषधी या अन्नपान से चिकित्सा करनी चाहिये। परंतु एकान्तिक अर्थात् केवल वातनाशक अथवा केवल कफनाशक औषधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। इन दोनों में प्राय: वातशामक चिकित्सा उत्तम होती है।

इस सूत्र में तथा इसके पहले के सूत्र को मिलाकर तीन प्रकार की चिकित्साओं का यहां उल्लेख आया है। (१) वातकफ शामक (२) वातकारक एवं कफनाशक व (३) कफकारक एवं वातनशाक दोषों के अवस्थानुरूप जो भेद होते है उसके अनुसार यह चिकित्सा बतायी गई है। जब दोनों दोष समान बलवाले हो तब वातकफ शामक चिकित्सा, जब वायु का मार्ग कफ से आवृत्त हो तब वातकारक व कफनाशक चिकित्सा और जब संशोधन कराना हो तब कफोत्क्लेश के लिये

कफकारक व वातनाशक चिकित्सा करने का उपदेश किया गया है। केवल वातनाशक अथवा केवल कफनाशक चिकित्सा में केवल वातशामक चिकित्सा केवल कफशामक चिकित्सा से प्रशस्त है। चक्रपाणि के मत से इन तीनों में कफवातशामक चिकित्सा प्रधान है।

## १३. श्वासरोग चिकित्सा आवस्थिक–

**नवज्वरामदोषेशु रुक्षस्वेदं विलङ्घनम्।**
**समीक्षोल्लेखन वाऽपि कारयेल्लवणाम्बुना।।** च. चि. १७/८५

नवज्वर तथा आमदोष से पीड़ित रोगियों में उनके शरीरबल तथा दोषबल की समीक्षा कर रुक्षस्वेद और लङ्घन कराना चाहिये। अथवा सैंधव नमक मिलाये हुए उष्ण जल का पान कराकर वमन कराना चाहिये।

## १४. वमन के अतियोग में वातशमन–

**अतियोगोद्धतंवातं दृष्ट्वा वातहरैर्भिषक्।**
**रसाद्यैर्नातिशीतोष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत्।।** च. चि. १७/८६

हिक्का व श्वासरोग में वमन के अतियोग से वायु प्रबल हो गयी हो तो वातनाशक मांसरस आदि के साथ भोजन करना चाहिये। तथा शीतोष्ण वातनाशक द्रव्यों से अभ्यङ्ग कराकर वायु की शान्ति करनी चाहिये।

## १५. श्वासरोग में उदावर्त-आध्मान–

**उदावर्ते तथाऽध्माने मातुलुङ्गाम्लवेतसैः।**
**हिङ्गुपीलुबिडैश्चान्नं युक्तं स्यादनुलोमनम्।।** च. चि. १७/८७

हिक्का तथा श्वास रोगी में उदावर्त एवं आध्मान उत्पन्न होने पर बिजौरे नीम्बूका रस, अम्लवेतस का चूर्ण, घृतभर्जित हिंगु, पीलुफल चूर्ण तथा बिड नमक से युक्त वातानुलोमन करनेवाला अन्न खिलाना चाहिये।

## १६. श्वास में कास तथा स्वरभंग–

**कासिनेच्छर्दनं दद्यात् स्वरभङ्गे च बुद्धिमान्।**
**वातश्लेष्महरैर्युक्तं तमके तु विरेचनम्।।** च. चि. १७/१२१

श्वास रोग में यदि कास व स्वरभङ्ग यह लक्षण दिखते हो तो बुद्धिमान् वैद्य को वमन का प्रयोग कराना चाहिये। यदि रोगी तमकश्वास से पीड़ित हो तो कफवात नाशक द्रव्यों के प्रयोग से विरेचन कराना चाहिये।

मार्गावरोध में शोधन आवश्यक है। अतः श्वास रोग में कास या स्वरभेद

अनुबन्ध के रूप में हो तो वमन कराना चाहिये। यदि तमकश्वास हो तो विरेचन दें। गंगाधर ने स्वरभेद युक्त श्वास में भी विरेचन देने को कहा है।

## १७. हिक्का व श्वास में घृतप्रयोग–

**हिक्काश्वासानुबन्धा ये शुष्कोरः कण्ठतालुकाः ।**
**प्रकृत्या रुक्षदेहाश्च सर्पिभिस्तानुपाचरेत् ।।**

च. चि. १७/१३९

हिक्का व श्वास के उपद्रवस्वरूप यदि उर:कण्ठ और तालु में शुष्कता आ गयी हो अथवा जो रोगी स्वभाव से ही रुक्ष प्रकृति वाले हो ऐसे रोगियों की चिकित्सा घृतों से करनी चाहिये।

रुक्ष गुण के विपरीत यहां स्निग्ध गुण का प्रयोग किया है। लेकिन तैल या वसा या मज्जा का प्रयोग न कर घृत प्रयोग का आदेश दिया है।

## १८. मार्गावरोध की चिकित्सा का महत्व–

**उदीर्यते भृशतरं मार्गरोधाद्वहज्जलम् ।**
**यथातथाऽनिलस्तस्य मार्गं नित्यं विशोधयेत् ।।**

च. चि. १७/१२२

जिस प्रकार बहते जल को रोकने पर वह बढ़ते हुए अपने वेग से बांध को तोड़ देता है व अधिक मात्रा में बढ़ता है उसी प्रकार कफ द्वारा अवरुद्ध वायु अत्यन्त कुपित होकर हानि पहुँचानेवाला होता है। इसलिये वायु के मार्ग को निरन्तर शुद्ध करना चाहिये।

स्रोत:शोधन ही अवरोधजन्य संप्राप्ति भंग का उपाय है यह ध्यान में रखें।

## १९. हिक्का व श्वास में निदान परिवर्तन–

**हिक्काश्वास विकाराणां निदानं यत् प्रकीर्तितम् ।**
**वर्ज्यमारोग्यकामैस्तद्धिक्काश्वास विकारभिः ।।**

च. चि. १७/१३८

हिक्का व श्वासरोग से पीड़ित जो व्यक्ति आरोग्य की अपेक्षा करता है उसने हिक्का व श्वासरोग को उत्पन्न करनेवाले कारणों का त्याग करना चाहिये।

संक्षेपत: क्रियायोगे निदानं परिवर्जनम्। यह चिकित्सा का सामान्य नियम है। श्वासरोग में वह विशेष रूप से लागू होता है। जिन व्यक्तियों को विशिष्ट कारणों से श्वास वेग प्रारंभ होता हो उन्हें निदान परिवर्तन से विशेष लाभ दिखाई देता है।

### २०. हिक्का वेग शामक उपाय–

**शीताम्बु सेकः सहसा त्रासोविस्मापनं भयम् ।**
**क्रोधहर्ष प्रियोद्वेगा हिक्काप्रच्यावना मताः ।।**

च. चि. १७/१३६

हिक्का रोग का वेग जिस समय प्रबल हो उस समय शीतल जल की छींटे चेहरे पर मारने से, आकस्मिक त्रास उत्पन्न करने से, आश्चर्य उत्पन्न करने से, प्राण आदि का भय उत्पन्न करने से, क्रोध, हर्ष, प्रिय वस्तु की प्राप्ति या उद्वेग के कारण हिक्का रोग शान्त होता है ।

यह सभी प्रयोग मन को विचलित करने वाले है । जिससे रोग पर का ध्यान हट जाता है व उपशय मिलता है ।

### २१. उपद्रव स्वरूप श्वास रोग की चिकित्सा–

**स्वरक्षीणातिसारासृक्पित्तदाहानुबंधजान् ।**
**मधुरस्निग्धशीताद्यैहिक्काश्वासानुपाचरेत् ।।** च. चि. १७/८१

यदि स्वरक्षीण, अतिसार,. रक्तपित्त, दाह, रोग के उपद्रवस्वरूप हिक्का या श्वास रोग उत्पन्न हुआ हो तो उसकी चिकित्सा मधुर, स्निग्ध, शीतल आदि औषधियों से करनी चाहिये ।

यहां स्वरक्षीण के स्थान पर वाग्भट ने क्षतक्षीण अर्थात् उरःक्षत रोग को गिनाया है ।

## स्वरभेद

### १. वातज स्वरभेद–

**सर्पीष्युपरिभक्तानि स्वरभेदेऽनिलात्मके ।**
**तैलैश्चतुष्पयोगैश्च बलारास्नामृताह्वयैः ।।** च. चि. २६/२८३

वातज स्वरभेद में भोजन से पहले घृतपान कराना चाहिये । तथा बला रास्ना अमृता आदि चार प्रयोगवाले तैलों के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ।

स्वरभेद के दो प्रकार है । उपद्रव स्वरूप व स्वतंत्र व्याधि स्वरूप । चरकाचार्य ने चिकित्सास्थान अध्याय ८ राजयक्ष्माध्याय में यक्ष्मा के एक रूप में स्वरभेद का वर्णन किया है । इस अध्याय में उन्होंने वात, पित्त, कफ, रक्त, कासवेग तथा पीनस से स्वरभेद होता है ऐसा कहा है । लेकिन आगे चिकित्सास्थान अध्याय छब्बीस, त्रिमर्मिय अध्याय में वातज, पित्तज, कफज, रक्तज व सन्निपातज स्वरभेद की

चिकित्सा का वर्णन किया है। किसी रोग के उपद्रवस्वरूप उत्पन्न स्वरभेद में मूल रोग की चिकित्सा सर्वप्रथम करनी चाहिये। इन सूत्रों में वर्णित स्वरभेद चिकित्सा स्वतंत्र व्याधिरूप स्वरभेद की है ऐसा मेरा मत है।

सुश्रुताचार्य ने वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातिक, क्षयज व मेदोज ऐसे छह प्रकार के स्वरभेदों का वर्णन किया है। वाग्भट ने भी निदानस्थान अध्याय पांच में दोषैर्व्यस्तैस्समस्तैश्च क्षयात् षष्ठश्च मेदसा, ऐसा कहकर सुश्रुत का अनुमोदन किया है। सुश्रुत ने सन्निपातज एवं मेदज स्वरभेद को असाध्य माना है।

चरकाचार्य ने स्वरभेद का कोई सामान्य चिकित्सा सूत्र नहीं बताया है। लेकिन सुश्रुत ने स्वरभेद का सामान्य चिकित्सा सूत्र बताते हुए सर्वप्रथम स्नेहन कराकर यथाविधि संशोधन करने को कहा है। तत्पश्चात् नस्य, अवपीडन, मुखधावन, धुमपान, अवलेह एवं नाना प्रकार के कवलग्रह से चिकित्सा करने को कहा है। वैसे ही श्वास कास के सामान्य चिकित्सानुसार स्वरभेद की भी चिकित्सा करने को कहा है। विशेष रूप से वातज स्वरभेद में तीन प्रकार के घृत व गुडौदन प्रयोग से चिकित्सा करने के लिये कहा है। अष्टांग हृदयकार ने स्वरभेद में विशेष रूप से नस्य व धूम का प्रयोग करने के लिये कहा है। विशेषात्स्वरसादेऽस्य नस्यधूमादि योजयेत्।

## २. पित्तज स्वरभेद–

**पैत्तिके तु विरेकः स्यात् पयश्च मधुरःश्रृतम्।**
**सर्पिर्गुडा घृतं तिक्तं जीवनीयं वृषस्य वा।।** च. चि. २६/२८५

पित्तज स्वरभेद में विरेचन देकर चिकित्सा आरंभ करनी चाहिये। तत्पश्चात मधुरौषधि सिद्ध दूध या सर्पिगुड (क्षतक्षीण चिकित्सा में वर्णित), या तिक्त घृत (कुष्ठ चिकित्सा में वर्णित), या जीवनीय घृत (वातरक्त प्रकरण), या वासासिद्ध घृत (रक्तपित्त प्रकरण) का प्रयोग करना चाहिये।

पित्ते विरेचनीयः इस नियम से सर्वप्रथम विरेचन करवाने को कहा है। अन्य चिकित्सा में प्राधान्य से विभिन्न घृतों का प्रयोग किया है। सुश्रुत ने भी पित्तज स्वरभेद में दूध के अनुपान के साथ घृतसेवन तथा पथ्य के रूप में यष्टिमधुपायसम् का प्रयोग करने को कहा है। तथा काकोल्यादिगण की औषधियों का शतावरी व बला के साथ प्रयोग करने को कहा है। अष्टांग हृदयकार ने वटोदुम्बर, अश्वत्थ इनके अंकुरों से सिद्ध घृत का पान करने के लिये कहा है। यष्टिमधुपायसम् का भी पथ्य के रूप में प्रयोग बताया है।

### ३. कफज स्वरभेद–

**कफजे स्वरभेदेतु तीक्ष्णंमूर्धविरेचनम् ।**
**विरेकोवमनंधूमो यवान्नकटुसेवनम् ।।** च. चि. २६/२८६

कफज स्वरभेद में तीक्ष्ण शिरोविरेचन नस्य, विरेचन, वमन, धूम्रपान और जौ से निर्मित भक्ष्य पदार्थ एवं कटुरसवाले द्रव्यों का सेवन हितकर होता है।

नस्य, विरेचन, वमन, धूम्रपान इन सभी कर्मों का प्रयोग कफ का निष्कासन हो इस दृष्टि से करना चाहिये। यवान्न एवं कटु रस का सेवन भी कफ के शमन के लिये बताया है।

सुश्रुत ने कफज स्वरभेद की चिकित्सा में कटु रस को विशेष महत्व दिया है। उन्होंने कटु द्रव्यों को (जैसे त्रिकटु इ.) गोमूत्र, मधु व तैल के अनुपान में सेवन करने को कहा है। अष्टांग हृदयकार ने भी इसी का अनुमोदन किया है। रुक्ष भोजन का पथ्य के रूप में उल्लेख है।

### ४. रक्तज स्वरभेद–

**यच्चोक्तं क्षयकासघ्नं तच्च सर्वं चिकित्सितम् ।**
**पित्तजस्वरभेदघ्नं सिरावेधश्च रक्तजे ।।** च.चि. २६/२८९

क्षयज कास की तथा पित्तज स्वरभेद की चिकित्सा और सिराव्यध से रक्तमोक्षण यही रक्तज स्वरभेद की चिकित्सा है।

पित्तज व रक्तज स्वरभेद के लक्षणों में कुछ भिन्नता है। पित्तज स्वरभेद में तालु और कण्ठ में दाह होता है और न बोलने से शान्ति महसूस होती है। इसलिये रोगी बोलना पसन्द नहीं करता। लेकिन रक्तज स्वरभेद में रोगी का स्वर रुका हुआ व बड़े कष्ट के साथ निकलता है। रक्त की दुष्टि होने से पित्त की चिकित्सा का प्रयोग स्वाभाविक ही है। क्षयज कास में दीपन, बृंहण व स्रोत:शोधन चिकित्सा का प्रयोग व्यत्यास से करने के लिये कहा है। वैसे ही क्षयज कास असाध्य या कष्ट साध्य होने से संन्निपातज कास जैसी उसकी चिकित्सा करने के लिये चरकाचार्य ने कहा है। लेकिन इन चिकित्साओं के बावजूद भी रक्तमोक्षण करना रक्त के शोधन के लिये परमावश्यक है।

### ५. सन्निपातज स्वरभेद–

**सन्निपाते हिताः सर्वाः क्रिया न तु सिराव्यधः ।।**

च. चि. २६/२९०

सन्निपातज स्वरभेद में सिरावेध को छोड़कर वातपित्त और कफज रोगों में जो क्रिया कही गई है वह हितकर होती है।

सिराव्यध का सन्निपातज स्वरभेद में निषेध अपने आप में एक महत्वपूर्ण संकेत है। बस्ती को छोड़कर अन्य सभी शोधन कर्मो का प्रयोग, घृतपान, कटुरस सेवन इत्यादि का प्रयोग यहां पर अपेक्षित है। कंठ के आश्रित व प्राणोदान से कार्यप्रवृत्त होकर स्वरोत्पत्ति करनेवाले स्रोतस में दोष संचित होकर यह व्याधि उत्पन्न होता है। स्वरभेद में प्राणोदान यह वायु व रस रक्त तथा मांस यह दूष्य रहते है। इसलिये स्वरभेद यह रसरक्तोभ्दव व्याधि है ऐसा हम कह सकते है। जहां दूष्य रक्त हो वहां सिराव्यध का निषेध क्यो ? शायद यह दृढ़ बल का व्यक्तिगत चिकित्सकीय अनुभव रहा होगा।

## राजयक्ष्मा

### १. राजयक्ष्मा में पीनस–

**पीनसे स्वेदमभ्यङ्गं धूममालेपनानि च।**
**परिषेकावगाहांश्च यावकं बाह्यमेव च।।** च. चि. ८/६५

पीनस रोग में स्वेद, अभ्यङ्ग, धूम, शिर में आलेप, परिषेक व अवगाह का प्रयोग करना चाहिये। आहार में जौ से बने पदार्थ (यावक), व जौ की दलिया के भात (वाट्य) का प्रयोग करना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने पीनस में स्निग्ध व उष्ण औषधियों का प्रयोग व विशेष रूप से अभ्यङ्ग व स्वेदन करने को कहा है।

**विशेषात्पीनसेऽभ्यङ्गान् स्नेहान् स्वेदांश्च शीलयेत्।**
अ. चि. ६/६४

### २. यक्ष्मा में स्वेदन–

**कृशरोत्कारिकामाषकुलत्थयवपायसैः।**
**संकरस्वेदविधिना कण्ठं पार्श्वमुरः शिरः।।** च. चि. ८/७१
**स्वेदयेत् पत्रभङ्गेन शिरश्चपरिषेचयेत्।**

यक्ष्मा मे कृशरा, उत्कारिका, माष, कुलथी, यव, पायस व संकरस्वेद से रोगी के कंठ पार्श्व, उरःप्रदेश व शिर का स्वेदन करना चाहिये। वैसे ही वातनाशक पत्रों के क्वाथ से शिर का परिषेक करना चाहिये।

चरकाचार्य ने नाडीस्वेद का व उपनाह स्वेद का अलग से वर्णन किया है। उसके लिये मुख्यतः बल्य व वातशामक द्रव्यों का प्रयोग किया है।

### ३. यक्ष्मा में नस्य आदि–

**नावनं धूमपानानि स्नेहाश्चौत्तर भक्तिकाः ।**
**तैलान्यभ्यङ्गयोगीनि बस्तिकर्मतथा परम् ।।** च. चि. ८/८१
**शृङ्गालाबुजलौकोभिः प्रदुष्टं व्यधनेन वा ।**
**शिरःपार्श्वांसशूलेषु रुधिरं तस्य र्निहरेत् ।।** च. चि. ८/८२

यक्ष्मा रोगी में यदि शिरःशूल, पार्श्वशूल व अंसशूल हो तो आवश्यकतानुसार नस्य, धूमपान, भोजनोत्तर स्नेहपान, तैल व अभ्यङ्ग के अनेक योग, बस्तिकर्म, शृंग, अलाबु, जलौका, सिरावेध से रक्तमोक्षण करना चाहिये ।

### ४. यक्ष्मा में वमन और विरेचन–

**दोषाधिकानां वमनं शस्यते स विरेचनम् ।**
**स्नेहस्वेदोपपन्नानां सस्वेदं यन्न कर्शनम् ।।** च. चि. ८/८९
**शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्त्रंसनादपि ।**
**अबलापेक्षिणीं मात्रां किं पुनर्यो विरिच्यते ।।** च. चि. ८/८८

दोषों की अधिकता होने पर यक्ष्मा में वमन व विरेचन का प्रयोग करना चाहिये । ऐसे रोगियों में स्नेहन, स्वेदन पश्चात् मृदु वमन व वमन के बाद पुनः बल प्राप्त होने पर स्नेहन स्वेदन के बाद स्नेहयुक्त विरेचन देना चाहिये । इससे कर्षण न हो इसका भी ध्यान रखना चाहिये । क्योंकि मल के निकल जाने से रोगी की मृत्यु होती है ।

### ५. राजयक्ष्मा में घृतपान–

**शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासनिबर्हणम् ।**
**प्रयुज्यमानं बहुशो घृतं चौत्तरभक्तिकम् ।।** च. चि. ८/९२

यक्ष्मा में भोजनोपरांत अधिक मात्रा में व नियमित (सिद्ध) घृत का पान करने से शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास व श्वास नष्ट होते है ।

इस घृतपान के लिये चरकाचार्य ने दशमूलाद्य घृत, रास्नाघृत या बलाघृत का प्रयोग करने को कहा है ।

### ६. यक्ष्मा में कफप्रसेक की चिकित्सा–

**श्लेष्मणोऽतिप्रसेकेन वायुः श्लेष्माणमस्यति ।**
**कफप्रसेकं तं विद्वान् स्निग्धोष्णेनैव निर्जयेत् ।।** च.चि. ८/१२१

कुपित वायु जब कफ को बार बार बाहर निकालती है उसे कफप्रसेक कहते है। इस कफप्रसेक को विद्वान वैद्य ने स्निग्ध व उष्ण द्रव्यों के प्रयोग से जीतना चाहिये।

कफ प्रसेक में कभी कभी वमन भी हो सकता है। उसमें इसी चिकित्सा का प्रयोग करें व वमन होने पर मनोनुकूल, वातनाशक व लघु अन्नपान का सेवन करना चाहिये।

### ७. यक्ष्मा में अतिसार की चिकित्सा–

**तस्याग्निदीपनान् योगानतीसारनिबर्हणान्।**
**वक्त्रशुद्धिकरान् कुर्यादरुचिप्रतिबाधकान्॥** च. चि. ८/१२४

यक्ष्मा रोगी में अतिसार होने पर अग्निदीपक, अतिसारनाशक, मुखशुद्धिकारक और अरुचिनाशक योगों का प्रयोग करना चाहिये।

### ८. यक्ष्मा में मांस प्रयोग–

**शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवित्।**
**परिषेकावगाहांश्च यावकं बाह्यमेव च॥** च. चि. ८/१४९

यक्ष्मा में जिन रोगियों का शरीर सुख रहा हो, क्षीण हो रहा हो उन्हें मांस भक्षण करनेवाले पशुपक्षियों का मांस देना चाहिये। यह मांस विशेष रूप से बृंहण होता है।

### ९. यक्ष्मा में मद्यपान–

**मांसमेवाश्नतः शोषो माध्वीकं पिबतोऽपि च।**
**नियतानल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति॥** च. चि. ८/१६३

मांसाहार करनेवाले, माध्विक नामक मद्य का सेवन करनेवाले नियत और उदार मन वाले रोगी के शरीर में यक्ष्मा ज्यादा दिन तक वास नहीं करता।

## हृद्रोग

### १. सामान्य चिकित्सा सूत्र–

**तन्महत् ता महामूलास्तच्चौजः परिरक्षता।**
**परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः॥**
**हृद्यं यत् स्याद्यदौजस्यं स्रोतसां यत् प्रसादनम्।**
**तत्तत् सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च॥**

च. चि. ३०/१३-१४

उस हृदय, महामूलवाली सिराओ और उस ओज की रक्षा हो ऐसी इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को विशेषकर मन को दु:खी करनेवाले कारणों का परित्याग कर देना चाहिये। तथा जो आहारविहार हृदय के लिये तथा ओज के लिये हितकर हो उनका सेवन करना चाहिये। वैसे ही शान्ति तथा ज्ञान का भी प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये।

यह हृदय के रोगावस्था का चिकित्सा सूत्र नहीं है। यह मुख्यत: हृद्रोग न हो इसके लिये क्या करना चाहिये इसका दिशानिर्देश करनेवाला सूत्र है। तनावयुक्त जीवन का तथा अहृद्य खानपान तथा विहार का हृदय रोगों से संबंध अभी नि:संशय प्रस्थापित हुआ है। हृद्रोग यह जीवन पद्धति से निगडित रोग है। इसी सूत्र के आगे चरकाचार्य ने प्राणवर्धन करनेवाले पदार्थ में अहिंसा, बलवर्धक पदार्थों में वीर्य, बृंहण करनेवाले पदार्थ में विद्या, मन को आनंद देनेवाले पदार्थों में इंद्रियों पर विजय, मन को प्रसन्न करनेवाले पदार्थों में तत्वज्ञान और विभिन्न मार्गों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है ऐसा कहा है। यह सभी विषय जीवन पद्धति से निगडीत है।

इस सूत्र में हृदय के साथ साथ उससे जुड़ी रक्तवाहिनियां तथा ओज का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। यह एक मेक से संबद्ध चीजे है। गंभीर हृद्रोग से पीड़ित रोगी कैसे दीन व निस्तेज दिखता है यह सभी चिकित्सको ने अनुभव किया ही होगा। हृदय साधक पित्त का स्थान है। साधक पित्त पर प्रभाव पड़ने से दैन्य निर्माण होता है। चरकाचार्य ने हृदय को पर ओज का स्थान माना है। और हृदय में ही चेतना के आश्रयभूत भावों का संग्रह है ऐसा कहा है। तत् परस्यौजस: स्थानं तत्र चैतन्य संग्रह:। इसलिये इस ओज व चैतन्य के आधारभूत हृदय का प्रयत्नपूर्वक संरक्षण करना चाहिये यहीं इस सूत्र का संदेश है। इस ओज पर प्रभाव पड़ने से मृत्यु होती है। हृदय रसवह स्रोतस का मूलस्थान भी है। अत: उसमें संगात्मक विकृति आने पर रस की एकदेशीय वृद्धि के रूप में पादशोफ यह लक्षण मिलता है। रसक्षय के रूप में हृद्द्रवत्व यह लक्षण भी मिलता है। प्राणवह स्रोतस का मूल भी हृदय ही है। अत: हृद्रोग में श्वासकष्ट लक्षण उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। हृदय में अवलंबक कफ भी रहता है। जिसके विकृति से या जिस पर प्रभाव पड़ने से हृत्शून्यता यह लक्षण उत्पन्न होता है।

## २. वातज हृद्रोग–

चरकाचार्य ने वातज हृद्रोग का कोई सामान्य चिकित्सा सूत्र नहीं बताया है। सीधे औषधी प्रयोगों का ही वर्णन है। लेकिन सुश्रुत व वाग्भट ने संक्षेप में चिकित्सा सूत्र बताए है।

**वातोपसृष्टे हृदये वामयेत् स्निग्धमातुरम्।** सु. उ. ४३/११

अर्थात् वातज हृद्रोगी में सर्वप्रथम स्नेहन करके वमन कराना चाहिये। वातदोष प्रधान होने के बावजूद वमन कैसे ? ऐसा प्रश्न मन में आना स्वाभाविक है। इसका उत्तर टीकाकार ने बड़े ही सटीक ढंग से दिया है। वे कहते है, हृदयस्थ श्लेष्मस्थानत्वात् श्लेष्मणिच वमनार्हत्वात् स्थानिवभ्दावाद्वा वमनं साधु। तथा चोक्तम्-

**कफस्य च विनाशार्थं वमनं शस्यते बुधैः।**
**स्थानिस्थानगतं दोषं स्थानिवत् समुपाचरेत्।।**

संक्षेप में, हृदयस्थ श्लेष्मा का शोधन आवश्यक है क्योंकि स्थानिक दोष की चिकित्सा भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी रोगकारक दोष की।

अष्टांग संग्रहकार ने वातज हृद्रोग में सामान्यतः स्निग्ध स्वेद व संस्कृत या सिद्ध घृत लाभ करते है ऐसा कहा है। स्निग्धाश्चेह हिताःस्वेदाः संस्कृतानि घृतानि च। अ. सं. चि. ८/४२

चरकाचार्य ने वातज हृद्रोग के वेपथु (धड़कन), वेष्टन (ऐठन) स्तम्भ (हृदय गति में रुकावट), प्रमोह (मूर्च्छा), दर (दरदर या मरमर ध्वनि की हृदय में प्रतीती होना) यह लक्षण बताये है। सुश्रुत ने आयम्यते (हृदय में खिंचावट) तुद्यते (सुई चुभने समान पीड़ा), निर्मथ्यते (मथने जैसी भावना), दीर्यते (हृदय को आरी से चीरना), स्फोटयते (फटना), पाट्यते (कुल्हाड़ी से टुकड़े करने) ऐसी वेदना वातज हृद्रोग में होती है ऐसा कहा है। कुछ विद्वान आयाम्यते का अर्थ विस्तार होना ऐसा भी करते है। इसपर से चरकाचार्य ने मुख्यतः वेदना व्यतिरिक्त अन्य लक्षणों का (जैसे गति, मूर्च्छा, हृध्वनि इ.) व सुश्रुत ने मुख्यतः विभिन्न प्रकार की वेदनाओं का उल्लेख किया है। वातज हृद्रोग की कई अवस्थाओं का, उन अवस्थाओं में उत्पन्न लक्षणों का व चिकित्साओं का वर्णन भी ग्रंथकारों ने किया है। उदा. कफानुबन्धे तस्मिंस्तु रुक्षोष्णामाचरेत्क्रियाम्। अर्थात् वातज हृद्रोग में कफ का अनुबंध रहने पर रुक्ष उष्ण चिकित्सा करनी चाहिये ऐसा अष्टांग हृदयकार ने कहा है। इन सभी अवस्थाओं की संप्राप्ति व लक्षण निर्मिती तथा संप्राप्ति भंग के उपाय का भी अध्ययन करना चाहिये।

### ३. पित्तज हृद्रोग-

**शीताः प्रदेहाः परिषेचनानि तथा विरेको हृदि पित्त दुष्टे।**
**द्राक्षासिताक्षौद्रपरुषकैः स्या च्छुद्धेतु पित्तापहमन्नपान।।**

च. चि. २६/९०

हृदय के पित्तज दुष्टी में शीतल द्रव्यों को पीसकर प्रदेह और शीतल द्रव्यों के

क्वाथ से परिषेचन करना चाहिये । तथा मुनक्का, मिश्री, मधु व फालसा के रस के साथ विरेचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये । इस प्रकार जब हृदय शुद्ध हो जाय तो पित्तनाशक अन्न व पान का सेवन करना चाहिये ।

इस सूत्र में चरकाचार्य ने पित्तेविरेचनीय: इस सामान्य नियम का उपयोग किया है और पित्त के शोधन के पश्चात् पित्तशामक चिकित्सा का प्रयोग करने के लिये कहा है । लेकिन इस पित्तज हृद्रोग की अवस्था में सुश्रुत ने वमन का प्रयोग करने के लिये कहा है । वमन के पश्चात काकोल्यादि अथवा जीवनीय गणके द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग व पित्तज ज्वर में वर्णित चिकित्सा का प्रयोग करने को कहा है । इसके व्यतिरिक्त आभ्यन्तर स्नेहन, मांस रस का प्रयोग कर यष्टिमधु सिद्ध तैल में शहद मिलाकर बस्ती का प्रयोग करने के लिये कहा है । हृदय यह मर्मस्थान है और सभी मर्मस्थानों की रक्षा बस्ती से करनी चाहिये । मर्मों का वायु से रक्षण करने का यह एकमात्र कारीगर उपाय है ।

## ४. कफज हृद्रोग–

**स्विन्नस्य वान्तस्य विलङ्‌घितस्य क्रिया कफघ्नी कफमर्मरोगे ।।**

च. चि. २६/९६

स्वेदन, वमन आदि कफनाशक क्रीयाएं कफज हृद्रोग में करनी चाहिये ।

इसके बाद चरकाचार्य ने विभिन्न कफनाशक कल्पों एवं आहार कल्पनाओं का वर्णन किया है । इतना ही नहीं तो जल भी तीक्ष्ण द्रव्यों से सिद्ध कर पीने को कहा है । वैसे ही शिलाजीत, च्यवनप्राश, अगस्त्य हरितकी, ब्राह्मी रसायन इत्यादि रसायनों का प्रयोग करने के लिये कहा है । इसके विपरीत सुश्रुत ने वमनोपरांत वातज हृद्रोग में वर्णित चिकित्सा का प्रयोग करने के लिये कहा है । इसके अतिरिक्त काली निशोथ का घृत के साथ विरेचनार्थ प्रयोग व मूढगर्भ चिकित्साप्रकरण में वर्णित बला तैल बस्ति का प्रयोग करने के लिये कहा है । अष्टांग हृदयकार ने मुख्यत: कफनाशक चिकित्सा का ही वर्णन किया है । वैसे ही श्लेष्मज गुल्म में वर्णित घृत व क्षार का प्रयोग हितावह कहा है । कफज हृद्रोग में सुश्रुत ने बतलाए रसायनों का प्रयोग भी अष्टांग हृदयकार ने बतलाया है ।

## ५. त्रिदोषज हृद्रोग–

**त्रिदोषजे लङ्‌घनमादित: स्यादन्नं च सर्वेषु हितं विधेयम् ।**
**हीनातिमध्यत्वमवेक्ष्य चैव कार्यं त्रयाणामपि कर्म शस्तम् ।।**

च. चि. २६/१००

त्रिदोषज हृद्रोग में सर्वप्रथम लंघन कराना चाहिये। तत्पश्चात त्रिदोषों के लिये जो अन्न हितकर हो उसका प्रयोग दोषों के हीनमध्याधिकत्व को देखकर करें।

हृदय यह कफस्थान होने से कफ की चिकित्सा सर्व प्रथम करना अपेक्षित है। इसलिये त्रिदोषज हृदय रोग में सर्वप्रथम लङ्घन का विधान है। चक्रपाणि ने कहा भी है, "त्रिदोषजे आदौ लङ्घनविधानं हृदयस्य कफस्थानतया तद्गते त्रिदोषजेऽपि कफ एवादौ लङ्घनेन जेय इति मत्वा कृतम्। वस्तुतः लक्षण समुच्चय को देखते हुए ऐसा लगता है कि त्रिदोषज हृद्रोग एक गंभीर व्याधि अवस्था है। इसलिये लंघन से चिकित्सा की शुरुआत का अर्थ लंघन सहित अन्य औषधी चिकित्सा ऐसा करना चाहिये। सुश्रुत ने त्रिदोषज हृद्रोग का कोई नामोल्लेख नहीं किया है। लेकिन वाग्भट ने यह उल्लेख कर इसे कृमिज हृद्रोग से भिन्न माना है। सुश्रुत के कुछ टीकाकारों ने कृमिज हृद्रोग पर टिप्पणी करते हुए उस सूत्र में त्रिदोषज हृद्रोग का वर्णन पहले श्लोकार्ध में है ऐसा कहा है। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'उत्क्लेशः ष्ठीवनं तोदः' इस कृमिज हृद्रोग के श्लोक में सभी लक्षण सन्निपातज हृदय रोग के है। लेकिन यह मत भी सही नहीं है। चरक सुश्रुत व वाग्भट में जबरन सामंजस्य दिखाने के बजाय सुश्रुत ने त्रिदोषज हृद्रोग का वर्णन नहीं किया है यह मान्य करना चाहिये।

### ६. कृमिज हृद्रोग–

**प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः प्रकुपत्यामाशये शोधनमेवतस्मात्।**
**कार्यं तथा लङ्घनपाचनं च सर्वं कृमिघ्नं कृमिहृद्गदेच।।**

च. चि. २६/१०३

प्रायः जब मार्गावरोध से वायु की गति रुद्ध हो जाती है तो वह वायु आमाशय में जाकर कुपित होता है। अतः उसका शोधन, करना हितकर होता है। इसलिये लंघन, पाचन आदि कार्य और कृमिघ्न औषधों का प्रयोग कृमिज हृद्रोग में करना चाहिये।

चरकाचार्य ने यह भी एक शीघ्र प्राणघातक रोग है ऐसा कहा है। अतः इसकी चिकित्सा तत्काल करनी चाहिये। यह रोग त्रिदोषज रोग में, तिल, दूध व गुड़ का कुपथ्य करने से होता है। इसके कारण हृदय में एक ग्रंथी बनती है व उसमें क्लेद उत्पन्न होकर कृमि निर्माण होते है ऐसा कहा है। चरकाचार्य ने इस रोग के लक्षणों में मुख्यतः हृदय मे वेदना और कंडू का वर्णन किया है। सुश्रुत ने उत्क्लेश, ष्ठीवन, तोद, शूल, हल्लास, तम (आंखों के सामने अंधेरा), अरुचि, श्यावनेत्रत्व एवं शोफ यह कृमिज हृद्रोग के लक्षण बताये है।

### ७. हृदयशूल चिकित्सा-आवस्थिक–

**जीर्णेऽधिके स्नेहविरेचनंस्यात् फलैर्विरेच्यो यदि जीर्यतिस्यात्।**

**त्रिष्वेवकालेष्वधिकेतु शूले तीक्ष्णं हितं मूलविरेचनं स्यात् ।।**

च. चि. २६/१०२

भोजन पचने के बाद हृदय में शूल हो तो स्नेहन द्रव्यों से विरेचन का प्रयोग करना चाहिये। यदि भोजन के पच्यमानावस्था में शूल अधिक हो तो मुनक्का आदि फलों के रसों द्वारा विरेचन कराना चाहिये। और यदि इन तीनों कालों में अर्थात् भोजन के पच जाने पर, पच्यमानावस्था में व प्रारंभ में शूल हो तो तीक्ष्ण मूल (त्रिवृत् आदि) द्वारा विरेचन कराना चाहिये।

संक्षेप में, हृत् शूल में विरेचन कराना चाहिये। अवस्थानुसार विरेचन द्रव्यों में बदल करना चाहिये। अष्टांग संग्रहकार ने भी सोदाहरण हृद्रोगजन्य शूल की चिकित्सा का वर्णन किया है। इसमें मुख्यतः वातानुलोमन पर ज्यादा ध्यान दिया है। अष्टांग हृदयकार ने इसे ही स्नेह विरेचन, फल विरेचन व मूल विरेचन कहा है।

●

# सप्तमोऽध्याय:

# उदकवह स्त्रोतस

# तृष्णा

## १. वातज तृष्णा–

> वातघ्नमन्नपानं मृदु लघु शीतं च वाततृष्णायाम् ।
> क्षयकासनुच्छ्रतं क्षीरघृतमूर्ध्ववाततृष्णाघ्नम् ।।

च. चि. २२/४०

वातज तृष्णा से पीड़ित रुग्ण में वातनाशक, मृदु, लघु और शीतल अन्नपान का सेवन हितकर होता है । तथा क्षयज कास में प्रयुक्त सिद्ध दूध एवं घृत का प्रयोग ऊर्ध्ववात एवं तृष्णारोग को नष्ट करनेवाला होता है ।

चक्रपाणि ने यहां ऊर्ध्ववात का अर्थ श्वास लिया है । ऊर्ध्ववात: श्वास: । चरक ने तृष्णा रोग का कोई सामान्य चिकित्सा सूत्र नहीं बताया है । लेकिन अष्टांग संग्रहकार ने चिकित्सास्थान के आठवे अध्याय में 'तृष्णासु वातपित्तघ्नो विधि: प्रायेण शस्यते'' से लेकर, ''महासरितह्रदादीनां दर्शनं स्मरणादि च'' तक तृष्णा रोग की सामान्य चिकित्सा का ही वर्णन किया है । इसमें उन्होंने बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रयोगों का वर्णन किया है । सुश्रुत ने भी पित्तशामक चिकित्सा, वमन और लालास्राव उत्पन्न करनेवाले द्रव्यों का प्रयोग करने के लिये कहा है ।

चरक संहिता में अन्य रोगों में तृष्णा यह लक्षण मिलता है । लेकिन जब दोषों की विकृति से शरीरस्थ उदक का क्षय होता है तब इसे स्वतंत्र व्याधि के रूप में वर्णन किया है । चरकाचार्य ने वातज, पित्तज, आमज, क्षयज एवं उपसर्गज ऐसे पांच प्रकार के तृष्णा रोग बताये है । इसके व्यतिरिक्त अन्नजा एवं मद्यजा तृष्णा का भी वर्णन है । लेकिन इनका परिगणन नहीं किया है । संभवत: अन्नजा तृष्णा वातपित्तज होने से व मद्यजा तृष्णा पित्तवातज होने से व इन दोनों से उत्पन्न तृष्णा का वर्णन पहले ही करने के कारण पुनरुक्ति दोष टालने हेतु इनकी गणना रोग के मुख्य प्रकारों में नहीं की है ।

इनमें से वातज एवं पित्तज यह दोषज एवं अन्य तीन आवस्थिक तृष्णा रोग है । इस रोग की संप्राप्ति का वर्णन, करते समय भी चरकाचार्य ने 'पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान्धातूंश्च शोषयत:' ऐसा कहते हुए इन दो दोषों की इस रोग में महत्ता का स्पष्ट उल्लेख किया है । आगे भी इसी अध्याय में (च. चि. २२/१९) बिना अग्नि और

वायु के तृष्णा रोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती ऐसा स्पष्ट रूप से कहा है। सुश्रुत ने कफज तृष्णा को भी गिनाया है लेकिन कफ उदक के समान गुणधर्म वाला होने से उदक का क्षय करना संभव नहीं है। अतः तृष्णा रोग की उत्पत्ति में कफ का कर्तुत्व स्पष्ट नहीं है। लेकिन पित्त अपने उष्ण गुण से व वायु रुक्ष गुण से उदक को सुखा सकते है। इस रोग में वात पित्त यह दोष, दूष्य उदक, स्रोतस, उदकवह, अधिष्ठान तालु है। यह आमाशयोत्थ व्याधि है।

## २. पित्तज तथा वातपित्तज तृष्णा–

**स्याज्जीवनीय सिद्धम् क्षीरघृतं वातपित्तजे तर्षे।**
**पैत्ते द्राक्षाचन्दन खर्जूरोशीरमधुयुतं तोयं।।**

च. सू. २२/४१

वातपित्तजन्य तृष्णा रोग में जीवनीय गण से सिद्ध दूध तथा घृत का प्रयोग करना चाहिये। वैसे ही पित्तज तृष्णा में द्राक्षा, सफेद चन्दन, खजूर और खस से सिद्ध 'जल को शीतल हो जाने पर मधु मिलाकर पीना चाहिये।

अग्निगुणप्रधान पित्त से अप्‌धातु संतप्त होकर जो तृष्णा निर्माण होती है उसमें उष्णता व दाह यह दो लक्षण विशेष रूप से रहते है। इसलिये चंदन, खस इत्यादि दाहशामक द्रव्यों के प्रयोग का विधान बताया गया है। सुश्रुत ने भी पित्तशामक उत्पलादि गण, सारिवादि गण और काकोल्यादि गण की औषधियों के क्वाथ में मधु और शर्करा मिलाकर प्रयोग करने के लिये कहा है। इसी प्रकार जीवनीय गण के औषधियों का प्रयोग करने के लिये भी कहा है। अष्टांग संग्रहकार ने,

**तद्विधैश्च गणैः शीतकषायान् ससितामधून्।**
**मधुरैरौषधैस्तद्वत्क्षीरीवृक्षैश्च कल्पितान्।।** अ. सं. चि. ८/८०

कहकर अन्यान्य शीतवीर्य या पित्तशामक गणों के शीत कषाय, अर्थात् हिम शर्करा व मधु मिलाकर पीने के लिये तथा मधुर औषधियों व वट आदि क्षीरी वृक्षों की छाल से निर्मित हिम बनाकर पीने के लिये कहा है।

अष्टांग हृदयकार ने पक्व उदुंबर फल का रस या हिम या क्वाथ का शर्करा सहित प्रयोग अथवा सारिवादि गण में वर्णित द्रव्यों से सिद्ध जल मधु व शर्करा के साथ, अथवा क्षीरि वृक्षों के छाल का हिम इत्यादि चिकित्सा का वर्णन किया है। लेकिन प्रधान दोष पित्त रहने के बावजूद किसी ग्रंथकार ने विरेचन का उल्लेख नहीं किया है।

## ३. आमज तृष्णा–

**व्योष, वचाभल्लातकतिक्तकषायास्तथाऽऽमतृष्णाघ्नाः।**

**यच्चोक्तं कफजायां वम्यां तच्चैव कार्यं स्यात् ।।**

च. सू. २२/४७

सोंठ, वचा, भल्लातकादि तिक्त द्रव्यों के कषाय का प्रयोग आमज तृष्णा का नाश करनेवाला होता है। वैसे ही कफज वमन रोग की चिकित्सा में वर्णित औषधि योगों का प्रयोग भी आमज तृष्णा में करना चाहिये।

आमपाचन एवं दोषर्निहरण यह इस चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य है। इस अवस्था में यदि स्तंभ, अरुचि, अविपाक, आलस्य और वमन यह लक्षण उत्पन्न हो रहे हो तो कफ का अनुबन्ध है यह जानकर वमन करना चाहिये। अष्टांङ्ग संग्रह व हृदयकार ने त्रिदोषज व आमजन्य तृष्णा में त्रिदोषघ्न व पाचन चिकित्सा कराकर त्रिकटु, भल्लातक, वचा व अम्ल फलों के रसों का उष्ण जल व दधिमस्तु के साथ प्रयोग कर वमन कराने के लिये कहा है।

### ४. क्षयज तृष्णा–

**क्षयकासेन तु तुल्या क्षयतृष्णा सा गरीयसी नृणाम् ।**
**क्षीणक्षयशोषहितैस्तस्मात्तां भेषजैः शमयेत् ।।**

च. सू. २२/५०

मनुष्यों में क्षयज कास के समान ही भयंकर क्षयज तृष्णा रोग होता है। उसकी चिकित्सा क्षतक्षीण व शोष रोग जैसी कराकर उसका शमन करना चाहिये।

चरकाचार्य ने क्षयज तृष्णा की तुलना क्षयज कास से करके उसकी असाध्यता का संकेत दिया है। उसकी चिकित्सा भी क्षतक्षीण व शोष समान रहना स्वाभाविक ही है। वाग्भट ने भी, 'क्षयजायां क्षयहितं सर्वं बृंहणमौषधम्' कहकर क्षयज तृष्णा में क्षय रोग में प्रयुक्त होने वाले बृंहण औषधियों का प्रयोग करने के लिये कहा है। सुश्रुत ने भी, 'क्षयोत्थितां क्षीरघृतं निहन्यान् मांसोदकं वा मधुकोदकं वा। अर्थात् घृत, अथवा दूध व घृत, अथवा मांसोदक अथवा मुलेठी से सिद्ध जल का प्रयोग करने के लिये कहा है।

### ५. भक्तज तृष्णा–

**भक्तोपरोधतृषितः स्नेहतृष्वातोऽथवा तनुयवागूम ।।**

च. चि. २२/५१

उपवास, अर्थात् भोजन का उपरोध करने से अथवा स्नेहपान करने से उत्पन्न तृष्णा रोग में पतले यवागू का प्रयोग करना चाहिये।

मण्ड, पेया आदि पतले आहार कल्प यहां अपेक्षित है। भक्तोपरोधज तृष्णा

में सुश्रुत ने दो अवस्थाएं बतायी है। (१) वातप्रधान भक्तोपरोधज तृष्णा व पित्तप्रधान भक्तोपरोधज तृष्णा। वातप्रधान भक्तोपरोधज तृष्णा में उष्ण यवागु व पित्तप्रधान भक्तोपरोधज तृष्णा में सत्तू को ठंडे पानी में घोलकर उसमें घृत व बरफ मिलाकर पीने के लिये कहा है।

वाग्भट ने स्नेह से उत्पन्न तृष्णा रोग की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है। (१) तीक्ष्णाग्नि व्यक्ति में स्नेहपान से उत्पन्न तृष्णा (२) स्नेह का ठीक ढंग से पाचन न होने पर उत्पन्न तृष्णा (३) स्नेहपाचन होने के बाद उत्पन्न तृष्णा व (४) स्निग्ध अन्नपान के सेवन से उत्पन्न तृष्णा। इसमें पहली अवस्था में शीतल जल, दूसरी अवस्था में उष्ण जल, तीसरी अवस्था में मंड व चौथी अवस्था में बरफ जैसे शीतल जल में गुड मिलाकर प्रयोग करने के लिये कहा है।

### ६. गुरुभोजनोत्पन्न तृष्णा–

**प्रतिवेद् गुरुणा तृषितो भुक्तेन तदद्धरेद् भुक्तम्।**
**मद्याम्बुवाऽम्बु कोष्णं बलवांस्तृषितः समुलिल्लखेत्पीत्वा।**
**मागधिका विशदमुखः सर्शकरं वा पिबेन्मन्थम्।।**

च. सू. २२/५३

खाये हुए भुक्त पदार्थ का वमन द्वारा निहरण करना ही गुरु भोज्य पदार्थ से उत्पन्न तृष्णा रोग की चिकित्सा है। यदि रोगी बलवान हो तो जल में मद्य मिलाकर अथवा उष्ण जल का सेवन कराकर वमन कराना चाहिये। अथवा रोगी ने पीपर के दाने चबाने चाहिये। पीपर के दाने चबाने से जब मुख विशद हो जाय तब यव के सत्तु को जल में घोलकर चीनी मिलाकर पीना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने, 'गुर्वाद्यन्नेन तृषितः पीत्वोष्णाम्बु तदुल्लिखेत्। अर्थात् गुरुभोजनोत्पन्न तृष्णा में उष्ण जल का पान कर वमन कराना चाहिये ऐसा कहकर चरकाचार्य का अनुमोदन किया है। तृष्णारोग में वाग्भट ने तृष्णा रोग की अनेक अवस्थाओं का वर्णन कर चिकित्सा का वर्णन किया है। उसे मूल ग्रंथ में ही देखना चाहिये।

### ७. तृष्णा रोग में ऐन्द्र जल–

**अपां क्षयाद्धि तृष्णा संशोष्य नरं प्रणाशयेदाशु।**
**तस्मादैन्द्रं तोयं समधु पिबेत्तद्गुणं वाऽन्यत्।।**

च. सू. २२/२५

जलीय धातुओं का क्षय होने से तृष्णा रोग मनुष्य को सुखाकर शीघ्र ही मार

डालती है । अत: शरीरस्थ जलीयांश की वृद्धि के लिये मधु मिलाकर ऐन्द्र जल का सेवन करना चाहिये । ऐन्द्र जल न मिलने पर समान गुणवाले किसी अन्य जल में मधु मिलाकर सेवन करना चाहिये ।

ऐन्द्र जल, अर्थात् वर्षा जल उपलब्ध न होने पर जो जल कषाय अनुरस युक्त हो, पतला हो, सुपाच्य हो, शीतल हो, सुगंधित हो, उत्तम रस युक्त हो व कफ कारक न हो ऐसे जल का प्रयोग करना चाहिये ऐसा चरकाचार्य ने कहा है । इसके व्यतिरिक्त तृणपंचमूल जैसे अन्यान्य द्रव्यों से सिद्ध जल का प्रयोग चरकाचार्य ने समय समय पर बताया है ।

## अतिसार

### १. अतिसार में दीपन, पाचन तथा लङ्घन–

**प्रमथ्यां मध्यदोषाणां दद्याद्दीपनपाचनीम् ।**
**लङ्घनं चाल्पदोषाणां प्रशस्त मतिसारिणाम् ।।** च. सू. १९/१९

यदि अतिसार में दोष प्रकोप मध्यम रूप में हो तो दीपन और पाचन द्रव्यों से सिद्ध प्रमथ्या का प्रयोग करना चाहिये । यदि दोष अल्पमात्रा में कुपित हो तो लंघन का प्रयोग करना चाहिये ।

चरकाचार्य ने अतिसार की अलग अलग अवस्थाओं का वर्णन कर उनके सामान्य चिकित्साओं का वर्णन किया है । इस सूत्र में मध्यम बल तथा अल्प बल दोष प्रकोप हो तो क्रमश: दीपन पाचन प्रमथ्या का प्रयोग व लंघन करने के लिये कहा है । यहां प्रमथ्या से दीपन पाचन क्वाथ का ग्रहण करना चाहिये । ऐसे कुछ प्रमथ्या, क्वाथों का वर्णन चरकाचार्य ने किया है । अतिसार में मुख्य भय रस धातुक्षय का रहता है । यदि अतिसार तीव्र न हो तो मल वेग अपने आप रुक जाते है । इस अवस्था में पेट भी अस्वस्थ रहता है । इसलिये सामान्य रूप से अग्निमांद्य, अरुचि आदि लक्षण दिखाई देते है । यह कुपित दोष अपने आप शरीर द्वारा बाहर डाले जाते है । यह शरीर की एक नैसर्गिक प्रक्रिया है । इस प्रक्रिया को दीपन पाचन प्रमथ्या का सेवन अथवा लंघन सहायभूत होता है । इसलिये चिकित्सकों ने दोषों के बल को जानकर उसके अनुसार अतिसार में चिकित्सा करना आवश्यक है ।

### २. अतिसार में शोधन–

**दोषाः सन्निचिता यस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः ।**
**अतीसारायकल्पन्ते भूयस्तान् संप्रवर्तयेत् ।।**
च. सू. १९/१४

विदग्ध आहार के कारण कुपित हुए दोषों का शरीर में संचय होकर अतिसार रोग उत्पन्न होता है। अतिसार की चिकित्सा में सर्वप्रथम उन दोषों को निकालना चाहिये।

यहां विदग्ध शब्द से आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण और रसशेषजीर्ण इन चारों अजीर्णो का ग्रहण करना चाहिये ऐसा चक्रपाणि का मत है। विदग्धशब्देनात्रा-पक्वाहारवाचिना चतुर्विधमप्यामं, विदग्धं, विष्टब्धं, रसशेषं चाजीर्णं गृह्यते। चक्रपाणि अर्थात् किसी भी प्रकार के अजीर्ण से उत्पन्न अतिसार में शोधन अर्थात् विरेचन कराना चाहिये। लेकिन यह विरेचन तीक्ष्ण न हो इसका भी ध्यान रखना चाहिये। विरेचन के पश्चात दोष निकल जाने पर यथावश्यक स्तंभन चिकित्सा का भी प्रयोग करना चाहिये। अन्यथा विरेचन का अतियोग होकर शरीर में रसक्षय की अवस्था उत्पन्न हो सकती है। यह सामावस्था है इसे ध्यान में रखना चाहिये।

अष्टांग हृदयकार ने इस विषय में थोड़ा भिन्न मत प्रदर्शित किया है। वे कहते है,

**दोषाः सन्निचिता ये च विदग्धाहारमूर्च्छिताः।**
**अतिसाराय कल्प्यन्त तेषूपेक्षैवभेषजम्।**
**भृशोत्क्लेशप्रवृत्तेषु स्वयमेव चलात्मसु।।**

अ. हृ. चि. ९/२-३

अर्थात्; जब संचित वातादि दोष अर्धपक्व आहार से मिश्रित होकर अतिसार उत्पन्न करते है तब अत्यन्त उत्क्लेश के कारण स्वतः प्रवृत होकर वह बाहर निकल जाते है। इसलिये इनकी उपेक्षा करना ही इनकी चिकित्सा है।

## ३. अतिसार में संग्राही औषध प्रयोग वर्ज्य–

**न तु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे।।** च. चि. १९/१५

आमातिसार में पहले संग्राही औषधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। आमातिसार में आमपाचन किये बगैर संग्राही औषधों का प्रयोग करना नवीन रोगों को निमंत्रण देना है। यदि आमातिसार के प्रारंभ में ही संग्राही औषधों का प्रयोग किया जाता है तो जिन रोगों की उत्पत्ति हो सकती है ऐसे रोगों की एक तालिका ही चरकाचार्य ने दी है। उसमें दण्डालसक, आध्मान, ग्रहणी, अर्श, शोथ, पाण्डु, प्लीहा, कुष्ठ, गुल्म, उदर, ज्वर इत्यादि का अंतर्भाव होता है। आज आधुनिक वैद्यक शास्त्र भी अतिसार में संग्राही औषधों के प्रयोग का निषेध करता है। इस पर टिप्पणी

करते हुए चक्रपाणि ने दो अवस्थाए बताई है । यदि बलवान रोगी में बलवान आम हो तो संग्राही औषधों का प्रयोग कतई नहीं करना चाहिये । लेकिन यदि रोगी क्षीणबल हो और आम भी अल्पमात्रा में हो तो प्रथम उसकी उपेक्षा कर बाद में संग्राही औषधों का प्रयोग करना आवश्यक है । अन्यथा बलभ्रंश होकर रोगी की मृत्यु हो सकती है । इसमें वैद्य का अनुभव सबसे महत्वपूर्ण है । एक अन्य मत का उल्लेख करते हुए चक्रपाणि ने कहा है कि संग्राही औषध में कुटजादि संग्राही द्रव्य का प्रयोग वर्ज्य है । लेकिन मुस्ता जैसे पाचन और संग्राही द्रव्यों का प्रयोग इस अवस्था में प्रशस्त है ।

इसी को दोहराते हुए अष्टांग हृदयकार ने प्रयोज्यं न तु संग्राहि पूर्वमामातिसारिणी, ऐसा कहा है । सुश्रुत ने भी आमातिसारिणां कार्य्यं नादौ संग्रहणं नृणाम् ऐसा कहकर आमातिसार के रोगियों में प्रारंभ में संग्राही औषध के प्रयोग का निषेध किया है । इस नियम का पालन न करने पर उत्पन्न रोगों का वर्णन भी सुश्रुताचार्य ने किया है ।

४. **तस्मादुपेक्षेतोत्क्लिष्टान् वर्तमानान् स्वयं मलान् ।**
**कृच्छ्रं वा वहतां दद्यादभयां संप्रवर्तिनीम् ।।**

च. चि. १९/१७

अत: उत्क्लिष्ट होकर स्वयं निकलने वाले दोष की चिकित्सक ने उपेक्षा करनी चाहिये । अथवा यदि दोष कठिनतापूर्वक बाहर निकल रहे हो तो हरड़ का प्रयोग कर उन्हें बाहर निकालना चाहिये ।

प्रकुपित दोषों का अपने आप र्निहरण होना अतिसार की विशेषता है । इसका सम्यक् शोधन होने के पश्चात कई बार अपने आप ही अतिसार शांत हो जाता है । यदि संचित आमदोष पूर्ण रूप से न निकलता हो तो हरड़ का चूर्ण देकर उसे बाहर निकालना चाहिये ।

अतिसार की इस अवस्था का वर्णन अष्टांग हृदयकार ने भी किया है ।

**अपि चाध्मानगुरुताशूलस्तैमित्य कारिणि ।**
**प्राणदाप्राणदा दोषे विबद्धे संप्रवर्तिनी ।।** अ. हृ. चि. ९/४

अर्थात्, आध्मान, गुरुता, शूल, स्तैमित्य इन लक्षणों के साथ यदि थोड़ी थोड़ी और कष्टपूर्वक मल प्रवृत्ति हो रही हो तो हरड़ का प्रयोग ही उसके लिये प्राणदायक होता है । अर्थात् इस अवस्था में हरड़ से विरेचन कराना चाहिये ।

सुश्रुताचार्य ने भी यदि शूल के साथ, बारंबार, कठिनाई से रुकरुककर मलप्रवृत्ति हो रही हो तो ऐसे रुग्ण में आमादि दोषों का र्निहरण करने के लिये हरितकी (हरड़) का प्रयोग करने के लिये कहा है ।

## ५. पित्तज अतिसार चिकित्सा–

**पित्ततिसारं पुनर्निदानोपशया कृतिभिरामान्वयमुपलभ्य ।**
**यथाबलं लङ्घन पाचनाभ्यामुपाचरेत् ।।**

च. चि. १९/५०

यदि अतिसार के रुग्ण में पित्तज अतिसार के निदान, उपशय और लक्षण मिलते हो और उसमें आमदोष का सम्बन्ध हो तो रुग्ण ने अपने बलानुसार लंघन और पाचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये ।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि ने कहा है कि पित्तातिसार कि सामावस्था में दोषों के शोधन का सामान्य नियम अतियोग के भय के कारण लागू नहि होता । किसी अवस्था विशेष में विरेचन आवश्यक हो तो भी विशेष विचार कर उसका प्रयोग करना चाहिये । इसलिये पित्तज अतिसार की चिकित्सा का प्रारंभ रोगी के बलानुसार लंघन पाचन से ही करना चाहिये ।

इस विषय में अष्टाङ्ग हृदयकार ने पैत्ते तु सामे तीक्ष्णोष्ण वर्ज्यं प्रागिव लङ्घनम् अर्थात् साम पित्तातिसार में तीक्ष्ण उष्ण द्रव्यों को वर्ज्य कर पूर्ववर्णित लङ्घन चिकित्सा का प्रयोग करने के लिये कहा है । सुश्रुत ने भी कहा है,

**तीक्ष्णोष्णवर्ज्यमेनन्तु विदध्यात्पित्तजे भिषक् ।**
**यथोक्तमुपवासान्ते यवागूश्च प्रशस्यते ।।** सु. उ. ४०/५८

अर्थात् पित्तातिसार में तीक्ष्ण उष्ण औषधियों को वर्जित कर पूर्व वर्णित अतिसारहर योगों का प्रयोग करना चाहिये । तथा पित्तातिसार में आम का संबंध रहने पर उसके पाचन के लिये उपवास कराने के पश्चात यवागू का सेवन प्रशस्त होता है ।

६. **सांसर्ग्यां क्रियमाणायां शूलं यद्यनुवर्तते ।**
**स्रुतदोषस्य तं शीघ्रं यथावदनुवासयेत् ।।** च. चि. १९/६१

विरेचन द्वारा दोषों के निकल जाने के बाद संसर्जन क्रम का प्रयोग भी कराया गया हो और फिर भी शूल लगातार रहता हो तो शीघ्र ही दोषानुसार अनुवासन बस्ति देनी चाहिये ।

'शूलं च विगुणोऽनिलः' अर्थात् विगुण हुआ वात ही शूल की निर्मिती करता है ऐसा वाग्भट ने कहा है । यहां विगुण से वायु के प्रतिलोम गति का ग्रहण करना चाहिये । और वायु की गति प्राकृत करने के लिये बस्ति से ज्यादा प्रभावशाली और क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है । अष्टांग हृदयकार ने भी इसी को दोहराया है ।

**संसर्ग्या क्रियमाणायां शूलं यद्यनुवर्तते ।**
**स्रुतदोषस्य तं शीघ्रं यथा वन्ह्यनुवासयेत् ।।** अ. हृ. चि. ९/७०

अर्थ स्पष्ट है । सिर्फ फरक इतना ही है कि चरकाचार्य ने दोषानुसार व वाग्भट ने अग्नि का विचार कर अनुवासन बस्ति का प्रयोग करने के लिये कहा है ।

७. **कृतानुवासनस्यास्य कृतसंसर्जनस्य च ।**
**वर्तते यद्यतीसारः पिच्छाबस्तिरतः परम् ।।** च. चि. १९/६३

पित्तज अतिसार में अनुवासन बस्ति व तत्पश्चात् संसर्जन क्रम सेवन कराने के बाद भी यदि अतिसार का वर्तन (पुनरुद्भव) हो रहा हो तो पिच्छा बस्ति का प्रयोग करना चाहिये ।

इस पिच्छाबस्ति के प्रयोग से पित्तज अतिसार, ज्वर, शोथ, गुल्म, जीर्ण अतिसार, जीर्ण ग्रहणी, विरेचन एवं आस्थापन बस्ति के अतियोग से निर्माण होने वाले उपद्रव भी शांत होते है ऐसा चरकाचार्य ने कहा है ।

अशान्तावित्यतीसारे पिच्छा बस्तिः परं हितः ऐसा कहकर वाग्भट ने भी इसका अनुमोदन किया है ।

८. **पवनोऽतिप्रवृत्तो हि स्वे स्थाने लभतेऽधिकम् ।**
**बलं तस्य स पित्तस्य जयार्थेबस्तिरुत्तमः ।।**

च. चि . १९/९६

अतिसार में अधिक मल निष्कासन से वायु स्व स्थान में प्रकुपित हो जाती है । इसके साथ पित्त भी कुपित हो जाता है । उस पित्त के साथ बलवान् वायु को जीतने के लिये बस्ति ही उत्तम औषधी है ।

स्वे स्थाने इति पक्वाशय कट्यादौ । बस्तिरिति सामान्यवचनादनुवासनं निरुहश्च ज्ञेयः । चक्रपाणि । प्रकुपित वायु की सर्वोत्तम चिकित्सा बस्ति है । यहां वायु के साथ साथ पित्त भी प्रकुपित हो जाता है ऐसा कहा है । इसलिये बस्ति में प्रयुक्त द्रव्य वातपित्तघ्न हो यह अपेक्षित है । वैसे वातपित्तघ्न बस्ति में अनुवासन बस्ति का प्रयोग अपेक्षित है । विशेषतः घृत युक्त अनुवासन का प्रयोग इस अवस्था में लाभप्रद रहेगा । लेकिन चक्रपाणि ने अनुवासन व निरुह इन दोनों बस्तियों का प्रयोग करने के लिये कहा है । यह अवस्था रक्तज अतिसार से संबंधित है इसका ध्यान रहे ।

९. **अल्पाल्पं बहुशो रक्तं सशूलमुपवेश्यते ।**
**यदावायुर्विबद्धश्च कृच्छ्रं चरति वा न वा ।।**

**पिच्छाबस्तिं सदा तस्य यथोक्तमुपकल्पयेत् ।**
**प्रपौण्डरीकसिद्धेन सर्पिषाचानुवासयेत् ।।**

च. चि. १९/९३-९४

जब रक्तातिसार का रुग्ण वेदना के साथ रक्तमिश्रित थोड़े थोड़े मल को बारबार त्यागता है और कोष्ठ में वायु रुकी रहती है अथवा कठिनता से भ्रमण करती है तब पूर्व वर्णित पिच्छा बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। तत्पश्चात पुण्डरिया काठ से सिद्ध घृत से अनुवासन बस्ति देनी चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी श्लोक को दोहराकर चरकमत का अनुमोदन किया है। सुश्रुत ने भी अतिसार की इस अवस्था में पिच्छाबस्ति का प्रयोग करने के लिये कहा है, लेकिन तत्पश्चात अनुवासन बस्ती के प्रयोग का उल्लेख नहीं किया है।

## १०. अधिक रक्तस्राव की चिकित्सा–

**यथोक्तैः सेचनैः शीतैः शोणितेऽतिस्रवत्यपि ।**
**गुदवंक्षण कट्यूरु सेचयेत् घृतभावितम् ।।**

च. सि. १९/९१-९२

यदि रक्तातिसार में रक्त अधिक मात्रा में निकल रहा हो तो जिन शीतल कषायों का पहले वर्णन आ चुका है उनके द्वारा गुद प्रदेश, वंक्षण, कटि, उरु प्रदेश पर घृत लेपन कर परिषेचन करना चाहिये।

रक्तातिसार में कई कल्पों का वर्णन चरकाचार्य ने किया है उसे यथास्थल देखें। चंदनादि तैल अथवा शतधौत घृत से भी गुद व वंक्षण भाग पर सेचन करने के लिये कहा है।

## ११. कफज अतिसार–

**श्लेष्मातिसारे प्रथमं हितं लङ्घनपाचनम् ।**
**योज्यश्चामातिसारघ्नो यथोक्तो दीपनो गणः ।।**

च. चि. १९/१०२

श्लेष्मातिसार में सर्वप्रथम लंघन और पाचन औषधियों का प्रयोग लाभकर होता है। तत्पश्चात आमातिसार नाशक दीपन गण, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है, उसका प्रयोग करना चाहिये।

'लङ्घनात् लघुभोजनम्'। अर्थात् लङ्घन से लघु भोजन का ग्रहण करना चाहिये। अतिसार में निराहार रहना अपेक्षित नहीं है। इस लघु भोजन के साथ ही

पाचन औषधियों का प्रयोग क्रिया जा सकता है। पाचन द्रव्यों से सिद्ध यवागू इस अवस्था में उपयोगी सिद्ध होगी। सुश्रुत ने कहा भी है,

**तृष्णाऽपनयनी लध्वी दीपनी बस्तिशोधनी।**
**ज्वरे चैवातिसारे च यवागू सर्वदा हिता।।** च. उ. ४०/१५८

वैसे सभी अतिसार की चिकित्सा स्वाभाविक रूप से लङ्घन से ही शुरू होती है।

**तत्रादौ लङ्घनं कार्यमतिसारेषु देहिनाम्।**
**ततः पाचन संयुक्तो यवाग्वादिक्रमोहितः।।** सु. उ. ४०/२५

अर्थात्, अतिसार में सर्वप्रथम लङ्घन देना चाहिये व तत्पश्चात पाचक औषधियों से मिश्रित अथवा सिद्ध यवागू आदि का प्रयोग करना हितकर होता है।

अष्टांग हृदयकार ने भी, श्लेष्मातिसारे वातोक्तं विशेषादामपाचनम्। अर्थात् वातातिसार में वर्णित आमपाचन चिकित्सा का प्रयोग कफातिसार में विशेष रूप से करना चाहिये ऐसा कहा है।

**१२. लङ्घितस्यानुपूर्व्या च कृतायां च निवर्तते।**
**कफजो यद्यतीसारः कफघ्नैस्तमुपाचरेत्।।** च. चि. १९/१०३

लङ्घन के पश्चात् आनुपूर्वी चिकित्सा, अर्थात् पाचन कराने के बाद भी कफज अतिसार नष्ट न हुआ हो तो कफघ्न औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

सामान्यतः लङ्घन, पाचन से ही कफज अतिसार नियंत्रण में आ जाता है। यदि लङ्घन पाचन के प्रयोग के बावजूद अतिसार नियंत्रण में न आ रहा हो तो कफघ्न औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। यह पक्वावस्था होने के कारण इसमें स्तंभक औषधियों का भी प्रयोग कर सकते है। इसलिये अष्टाङ्ग हृदयकार ने इस अवस्था में प्रयोज्य जो योग बताये है उसमें बिल्व, कुडाछाल, नागरमोथा, चित्रक, पिप्पली इत्यादि का अंतर्भाव है।

**१३. पिच्छाबस्ति का प्रयोग–**

**वातश्लेष्मविबन्धेता कफे वाऽतिस्रवत्यपि।**
**शूले प्रवाहिकायां वा पिच्छाबस्तिंप्रयोजयेत्।।**

च. चि. १९/११७

(कफज अतिसार में) यदि वात और कफ का विबन्ध हो, अथवा मल के साथ कफ का अत्यधिक स्राव हो रहा हो अथवा शूल हो या प्रवाहिका हो तो पिच्छा बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

सूत्र आठ में रक्तातिसार में भी पिच्छाबस्ति का प्रयोग करने के लिये कहा है। वहां भी वायु का विबन्ध एवं मल के साथ थोड़ा थोड़ा रक्तस्राव होना ऐसी दो अवस्थाएं बतायी है। इस पर से हम ऐसा निष्कर्श निकाल सकते है कि अतिसार में वायु अथवा कफ का विबन्ध हो और थोड़ी थोड़ी मात्रा में मलत्याग हो रहा हो तब पिच्छा बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

इसी सूत्र को दोहराकर अष्टाङ्ग हृदयकार ने चरकमत का अनुमोदन किया है।

## १४. वृद्ध वायु की चिकित्सा–

**स्वे स्थाने मारुतोऽवश्यं वर्धते कफसंक्षये।**
**स वृद्धः सहसा हन्यात्तस्मात्तं त्वरया जयेत्।।**

च. चि. १९/१२१

जब कफ का क्षय होता है तब वायु अपने स्वस्थान में अर्थात् पक्वाशय में निश्चित रूप से बढ़ती है। यह बढ़ी वायु रोगी को मार डालती है। इसलिये वृद्ध वायु को शीघ्र ही जीतना चाहिये।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि ने कहा है कि सभी अतिसार पक्वाशय से संबंधित रहते है इसलिये वायु का बढ़ना स्वाभाविक है। वैसे ही कफसंक्षय से शरीर में रुक्षता उत्पन्न होकर वायु प्रकुपित होता है। संप्रति सर्वाति सारेषु पक्वाशय व्यापकत्वेन वायुरवश्यं वृद्धो भवति, स चाशुकारितया त्वरया जेतव्य इति दर्शयन्नाह– स्वे स्थाने इत्यादि। कफसंक्षयादित्यनेन कफसंक्षये रुक्ष शरीरतया वायुः कुप्यति, श्लेष्मशोणिते वृद्धे तदुपस्नेहितशरीरे वायुर्निवृत्त प्रसरो भवतीति। चक्रपाणि

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी

**क्षीणे कफे गुदे दीर्घ कालातीसार दुर्बले।**
**अनिलः प्रबलोऽवश्यं स्व स्थानस्थः प्रजायते।।**
**स बली सहसा हन्यात्तस्मात्तं त्वरया जयेत्।**

ऐसा कहकर चरकाचार्य का अनुमोदन किया है।

## १५. सन्निपातज अतिसार–

**वातस्यानु जयेत् पित्तं पित्तस्यानु जयेत् कफं।**
**त्रयाणां वा जयेत् पूर्वं यो भवेद्बलवत्तमः।।**

च. चि. १९/१२२

सर्वप्रथम वायु की चिकित्सा, तत्पश्चात् पित्त की चिकित्सा व अंत में कफ की

चिकित्सा करनी चाहिये। अथवा तीनों में से जो दोष बलवान है उसकी चिकित्सा सर्वप्रथम करनी चाहिये।

यह सन्निपातज अतिसार का चिकित्सा सूत्र है। इसपर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि ने कहा है कि यह निराम सन्निपात का चिकित्सा सूत्र है। साम सन्निपात में सर्वप्रथम आम की चिकित्सा करनी चाहिये। वैसे ही सम सन्निपात में वात पित्तकफ यह क्रम रहेगा। लेकिन विषम सन्निपात में दोषों की चिकित्सा बल के अनुसार ही होनी चाहिये। अयं च क्रमो निराम सन्निपातातिसारे एव ज्ञेयः; सामे तु प्रथममामस्य चिकित्सितं कर्तव्यम्। समत्रिदोषातिसारचिकित्सा क्रमभिधाय विषम त्रिदोषातीसारचिकित्साक्रम-माह-त्रयाणामित्यादि। चक्रपाणि

अष्टांग हृदयकार ने भी

**वायोरनन्तरं पित्तं पित्तस्यानन्तरं कफम्।**
**जयेत्पूर्वं त्रयाणां वा भवेद्यो बलवत्तमः॥**

ऐसा कहकर चरकाचार्य का अनुमोदन किया है।

सुश्रुताचार्य ने भी सन्निपातातिसार का वर्णन किया है। लेकिन वह चरक व वाग्भट के सन्निपातज अतिसार से भिन्न है। लक्षणों का विचार करने पर सुश्रुतोक्त शोकातिसार व आमातिसार के लक्षण चरकोक्त सन्निपातातिसार में मिलते है। अतिसार के संसर्ग व सन्निपात की अवस्थाओं का चिकित्सा सूत्र भी सुश्रुताचार्य ने कुछ भिन्न बताया है।

**समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्।**
**ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्रमारुतम्॥** च. उ. ४०/१६१

## १६. भय व शोकज अतिसार–

**मारुतोभयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति।**
**तयोः क्रिया वातहरी हर्षणाश्वसनानि च॥** च. चि. १९/१२

भय और शोक से वायु का शीघ्र प्रकोप हो जाता है। इसलिये भयज एवं शोकज अतिसार में वातशामक तथा हर्ष उत्पन्न करने वाली तथा अश्वासन देने वाली क्रिया करनी चाहिये।

इसमें भय एवं शोक से वायु प्रकुपित होती है इसलिये वातनाशक क्रिया दोनों प्रकार के अतिसार में समान रूप से प्रयोग में लायी जा सकती है। लेकिन भयज अतिसार में आश्वासन एवं शोकज अतिसार में हर्षण क्रिया वातशामक क्रिया के साथ ही करनी चाहिये।

लक्षणों का विचार करने पर ऐसा ध्यान में आता है कि चरकोक्त शोकातिसार सुश्रुतोक्त शोकातिसार से भिन्न है। सुश्रुतोक्त शोकातिसार के लक्षण चरकोक्त सन्निपातातिसार जैसे है। सुश्रुताचार्य ने शोकज अतिसार को अत्यधिक दुश्चिकित्स्य अर्थात् कष्ट साध्य माना है। अष्टांग हृदयकार ने भी भयज एवं शोकज अतिसार में वातशामक एवं हर्षण व आश्वासन चिकित्सा करने के लिये कहा है।

## १७. अतिसार में गुदभ्रंश–

**गुदनिःसरणे शूले पानमम्लस्य सर्पिषः ।**
**प्रशस्यते निरामाणामथवाऽप्यनुवासनम् ।।** च. चि. १९/४३

जब अतिसार से पीड़ित रोगी में गुदा बाहर निकल जाती हो, गुदा में शूल हो तथा पक्व मल निकल रहा हो तो अम्ल रस सहित घृतपान कराना चाहिये। अथवा उसी घृत से अनुवासन बस्ति देनी चाहिये।

गुदपाक, गुदभ्रंश, गुददाह, गुदवलियों का शक्तिहीन होना ऐसे कई उपद्रव जीर्ण अतिसार में होते हैं। इन अवस्थाओं की चिकित्सा मूल ग्रंथ में देखनी चाहिये। इसके साथ साथ मूत्राघात व कटिग्रह इन दो लक्षणों का उल्लेख अष्टाङ्ग हृदयकार ने किया है। वैसे ही गुदभ्रंश में गोफणबन्ध का प्रयोग करने के लिये कहा है।

**प्रवेशयेत् गुदं ध्वस्तमभ्यक्तं स्वेदितं मृदु ।**
**कुर्याच्च गोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा ।।** अ. हृ. चि. ९/५२

अर्थात् गुदभ्रंश में बाहर आये भाग को तेल लगाकर, मृदु स्वेदन कराकर अंदर धकेलना चाहिये। तत्पश्चात जिसमें बीच में छिद्र हो ऐसे चमड़े का गोफण बन्ध बांधना चाहिये।

१८. **स्तब्धभ्रष्टगुदेपूर्वं स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत् ।**
**सुस्विन्नं तं मृदूभूतं पिचुना संप्रवेशयेत् ।।** च. चि. १९/४६

स्तब्धगुद अर्थात गुदा में जकड़ाहट एवं भ्रष्ट गुद अर्थात् गंदभ्रंश में सर्वप्रथम स्नेहन स्वेदन का प्रयोग करना चाहिये। जब सम्यक् स्नेहन स्वेदन से गुदा मृदु हो गयी हो तो पिचु से दबाकर गुदा को भीतर कर देना चाहिए।

## १९. विसूचिका–

**विसूचिकायां तु लङ्घनमेवाग्ने विरिक्तवच्चानुपूर्वी ।**
च. वि. २/१३

विसूचिका में सर्वप्रथम लंघन कराएं। तत्पश्चात् विरेचनोपरांत जो पथ्य आनुपूर्वी अर्थात् पेया विलेपी आदि क्रम से प्रयोग में लाया जाता है उसी प्रकार इस रोग में भी प्रयोग करें।

विसूचिका एवं अलसक दोनों आमविषोत्पन्न रोग है। अर्थात् इनके स्रोतस अलग-अलग माने जाते है। इस रोग के लक्षण सुश्रुत ने ज्यादा स्पष्ट रूप से वर्णन किये है। चरकाचार्य ने विसूचिका का रूप बताते समय, 'तत्रविसूचिका मूर्ध्वंचाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात्' अर्थात् विसूचिका में उर्ध्व (मुख) तथा अध: (गुद) मार्ग द्वारा प्रवृत्ति होती है। तथा उपरिनिर्दिष्ट वात, पित्त एवं कफ के लक्षणों से युक्त जो रोग हो उससे विसूचिका जाननी चाहिये; ऐसा कहा है। यह आम प्रदोषज विकार होने से चिकित्सा के प्रारंभ में लंघन कराना चाहिये। आमपाचन का कार्य शुरु होते ही उपशय मिलना प्रारंभ होता है। तत्पश्चात् विरेचन में जो पथ्य दिया जाता है उसका पालन करना चाहिये।

## शोथरोग

### १. सामान्य चिकित्सा–

**निदान दोषर्तु विपर्ययक्रमै रुपाचरेत्तं बलदोषकालवित्।**

निदान, दोष व ऋतु विपरीत चिकित्साक्रम से बल, दोष व काल के ज्ञाता वैद्य को शोथ की चिकित्सा करनी चाहिये।

यह शोथ का सामान्य चिकित्सा सूत्र है।

शोथ उत्पन्न करनेवाले निदान, शोथ उत्पन्न करनेवाले दोष तथा दूष्य, शोथ आता है वह काल, व रोगी के प्रकृतिस्थ बलदोषों का विचार कर विपरीत गुणों के प्रयोग से शोथ की चिकित्सा करनी चाहिये। अष्टाङ्ग हृदयकार ने दोषानुसार शोधन व शोथ के पास से रक्तावसेचन तथा दोषसंकर रहने पर बलवान दोष की चिकित्सा प्रथम करने के लिये कहा है।

**यथादोषं यथासन्नं शुद्धिं रक्तावसेचनम्।**
**कुर्वीत मिश्रदोषे तु दोषोद्रेकबलात्क्रियाम्।।** अ. हृ. चि. १८/३७

### २. सामान्य चिकित्सा–

**अथामजं लङ्घनपाचनक्रमैर्विशोधनैरुल्बणदोषमादितः।**
**शिरोगतं शीर्षविरेचनैरधोविरेचनैरुर्ध्वहरैस्तथोर्ध्वजम्।।**

च. चि. १२/१७

**उपाचरेत् स्नेहभवं विरुक्षणैः प्रकल्पयेत् स्नेहविधिं च रुक्षजे ।**
**विबद्धविट्केऽनिलजे निरुहणं घृतं तु पित्ता निलजे सतिक्तकम् ।। १८**
**पयश्च मूर्च्छाऽरतिदाहतर्षिते विशोधनीयेतु समूत्रमिष्यते ।**
**कफोत्थितं क्षारकटूष्णसंयुतैः समूत्रतक्रासवयुक्तिभिर्जयेत् ।। १९**

यदि शोथ आमदोषोत्पन्न हो तो सर्वप्रथम लंघन और पाचन औषधों से चिकित्सा करनी चाहिये । यदि शोथ रोग में दोष बहुत बढ़े हो तो विशोधन, अर्थात् वमन या विरेचन से चिकित्सा करनी चाहिये । शोथ रोग में शिरोगत दोषों का नस्य से, अध:भाग में शोथ हो तो दोष पक्वाशयस्थ है ऐसा समझकर विरेचन से, ऊर्ध्व भाग में (कटि के) शोथ हो तो दोष आमाशयस्थ है ऐसा समझकर वमन से दोषों का शोधन कर चिकित्सा करनी चाहिये । स्निग्ध पदार्थों के अतिसेवन से शोथ उत्पन्न हुआ हो तो रुक्ष क्रिया द्वारा व रुक्ष पदार्थों के अतिसेवन से शोथ उत्पन्न हुआ हो तो स्नेहन का प्रयोग कर चिकित्सा करनी चाहिये। शोथ में वायु की प्रधानता व मलबद्धता रहने पर निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये । वातपित्तज शोथ के लिये तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिये । मूर्च्छा, अरति, दाह व तृष्णा इन लक्षणों के साथ शोथ होने पर दूध का प्रयोग करना चाहिये । इन लक्षणों में शोधन करने की आवश्यकता हो तो दूध व गोमूत्र का प्रयोग करना चाहिये । कफज शोथ में क्षार, कटु, उष्ण, द्रव्यों का तथा मूत्र, तक्र व आसवों का युक्ति से प्रयोग करना चाहिये ।

यह शोथ रोग की भिन्न भिन्न अवस्थाएं है । विशिष्ट अवस्था में विशिष्ट चिकित्सा का वर्णन यहां किया हुआ है ।

### ३. शोथ में विबन्ध–

**विड्वातसङ्गे पयसा रसैर्वा प्राग्भक्तमद्यादुरुबूकतैलम् ।**
**स्त्रोतो विबन्धेऽग्निरुचिप्रणाशे मद्यान्यरिष्टांश्च पिबेत् सुजातान् ।।**

च. चि. १२/२८

यदि शोथ रोग से पीड़ित रोगी में विबन्ध उत्पन्न हुआ हो, अर्थात् मल और अपानवायु न निकलती हो तो प्राग्भक्त काल में, अर्थात् भोजन के पूर्व दूध या मांसरस के साथ एरंड तैल का प्रयोग करना चाहिये । यदि स्त्रोतो का विबन्ध अर्थात् स्त्रोतोरोध हो गया हो तथा अग्नि एवं भोजन की रुचि नष्ट हो गयी हो तो विधिपूर्वक बनायी मदिरा तथा अरिष्टों का पान करना चाहिये ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी स्त्रोतसों में अवष्टम्भ, अग्निमांद्य व अरुचि तथा पेट

में स्तब्धता रहने पर क्षार, चूर्ण, आसव, अरिष्ट, गोमूत्र व तक्र का नित्यप्रयोग करना चाहिये ऐसा कहा है।

**स्त्रोतोविबन्धे मन्देग्नावरुचौ स्तिमिताशयः।**
**क्षारचूर्णासवारिष्टमूत्रवक्राणि शीलयेत्॥**

अ. हृ. चि. १८/३३

### ४. शिरःशोथ, शालूक, विडालिका, तालुविद्रधि, गलगण्ड–

**तेषां सिराकायशिरोविरेका धूमः पुराणस्य घृतस्य पानम्।**
**स्याल्लङ्घनं वक्त्र भवेषु चापि प्रघर्षणंस्यात् कवलग्रहश्च॥**

च. चि. १२/८०

उन (शिर:शोथादि) विकारों में सिराव्यध, विरेचन, शिरोविरेचन अर्थात् नस्य, धूमपान और पुराण घृत सेवन हितकर होता है। मुख के भीतरी भाग में होनेवाले (शालूक आदि) शोथो में लंघन, प्रघर्षण अर्थात् चूर्णो से मलना और कवलग्रह धारण करना हितकर होता है।

शरीर के विभिन्न अवयवों में आश्रित शोथ स्थान, दूष्य, लक्ष और नाम के भेद से अनेक हो सकते है ऐसा चरकाचार्य ने कहा है। इनमें से शिर:शोथ, शालूक, विडालिका, तालुविद्रधि व गलगण्ड इनका वर्णन चरकाचार्य ने किया है। यह सभी एक ही प्रकार के रोग नहीं है। लेकिन सामान्यत: शोथ यह प्रधान लक्षण लेकर उत्पन्न होनेवाले यह विभिन्न रोग है। यह मुख्यत: शल्यतंत्र से संबंधित रोग होने से इसका विस्तृत वर्णन सुश्रुत संहिता में मिलता है। जैसे, गले के भीतर होने वाले शोथ के आधार पर सुश्रुत ने चौदह रोगों का वर्णन किया है। उसे यथास्थल देखें।

### ५. ग्रंथिरोग चिकित्सा–

**संशोधिते स्वेदितमश्मकाष्ठैः साङ्गुष्ठदण्डैर्विलयेदपक्वम्।**
**विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोशं शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत्॥**
**अदग्ध ईषत् परिशेषितश्च प्रयाति भूयोऽपि शनैर्विवृद्धिम्।**
**तस्मादशेषः कुशलैः समन्ताच्छेद्यो भवेद्वीक्ष्य शरीरदेशान्॥**

च. चि. १२/८२-८३

(वमन और विरेचन द्वारा) संशोधन कराने के बाद ग्रंथि रोग से पीड़ित पुरुष के ग्रंथि का स्वेदन करना चाहिये। यदि ग्रंथि अपक्व हो तो पत्थर, काष्ठ या अंगुष्ठ या दंड से दबाकर स्वेदन के बाद उस ग्रंथि का विलयन करना चाहिये। और यदि ग्रंथि पक्व हो गयी हो तो उसका पाटन कर समूल ग्रंथि को निकालकर अग्नि से

जलाकर व्रण की चिकित्सा करनी चाहिये। यदि ग्रंथिमूल को जलाया न जाय अथवा कम जलाया जाय और उसका मूल शेष रह जाय तो पुन: धीरे-धीरे उसकी वृद्धि होती है। इसलिये बुद्धिमान चिकित्सक से अपेक्षित है कि वह जिस शरीर प्रदेश में ग्रंथि उत्पन्न हो उसको भली प्रकार देखकर शस्त्र द्वारा इसप्रकार काटकर निकाले की उसका मूल शेष न रह जाए।

ग्रंथि रोग यह एक दोषज शोथ है। यह कुछ काल के बाद पक भी जाता है। इसलिये इसमें व्रण के चिकित्सासिद्धान्तानुसार चिकित्सा करनी चाहिये। इसे ध्यान में रखते हुए चक्रपाणि ने भी 'विलयेत्' शब्द से विम्लापन का ही ग्रहण किया है जो व्रणचिकित्सा में सर्वप्रथम किया जाता है। विलयेदिति विम्लापयेत्। चक्रपाणि

वाग्भट ने भी एकाङ्ग शोथ में स्वेदन, अभ्यङ्ग, वातघ्न द्रव्यों के लेप तथा दोष व अवस्थाओं का विचार.कर रक्तावसेचन करने के लिये कहा है।

**स्वेदाभ्यङ्गान् समीरघ्नान् लेपमेकाङ्गगे पुनः।** अ. हृ. चि. १७
**यथादोषं यथासन्नं शुद्धिं रक्तावसेचनम्।**
**कुर्वीत मिश्रदोषे तु दोषोद्रेकबलात्क्रियाम्।।** अ.हृ.चि.१७/३७

## ६. अलजी, मांसास्त्रदूषी व विदारिका चिकित्सा–

**तेषां यथादोषमुपक्रमः स्यात्।**
**विस्रावणं पिंडिकयोपनाहः पक्वेषुचैव व्रणवत् चिकित्सा।।**
च. चि. १२/८९

इन रोगों की चिकित्सा दोषों के अनुसार करनी चाहिये। यदि ये अपक्व अवस्था में हो तो रक्तमोक्षण अथवा पिंडिका से उपनाह बांधना चाहिये। जब ये पक्व हो जाय तो व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

यहां पक्व एवं अपक्व अवस्था के अनुसार चिकित्सा बताई गयी है। पिंडिकयोपनाह से पिण्डिका स्वेद का ग्रहण करना चाहिये। पिण्डिकयेति पिण्डिका स्वेदेन। इति चक्रपाणि, व्रणवत् चिकित्सा से यहां छेदन, भेदन, शोधन, रोपण आदि कर्मों का ग्रहण करना चाहिये।

## ७. कक्षा, पित्तज पीडिका, रोमान्तिका, मसूरिका–

**विसर्पशान्त्यै विहिता क्रिया या तां तेषु कुष्ठे च हिंता विदध्यात्।**
च. चि. १२/९३

विसर्प रोग की शान्ति के लिये जो चिकित्सा बताई गयी है वे सभी चिकित्साएं

इन रोगों में करनी चाहिये । कुष्ठ रोग में जिन चिकित्सा का उल्लेख है वे चिकित्साएं भी हितकर होती है ।

## ८. ब्रघ्न और मूत्रवृद्धि–

**विरेचनाभ्यङ्गनिरुहलेपाः पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा ।**
**स्यान्मूत्रमेदः कफजं विपाट्य विशोध्य सीव्येद्व्रणवच्च पक्वम् ।।**

च. चि. १२/९५

इनमें (ब्रघ्न और मूत्रवृद्धि में) विरेचन, अभ्यङ्ग, निरुह बस्ति व लेप का प्रयोग करना चाहिये । यदि यह पक्व हो जाय तो व्रणवत् चिकित्सा करनी चाहिये । मूत्रज, मेदोज व कफज अंडवृद्धि में पाटन कर्म कर शोधन करने के पश्चात् सीवन क्रिया करनी चाहिये । यदि ये वृद्धियां पक्व हो जाय या सीवन करने के बाद पाक हो जाय तो व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिये ।

यहां सिर्फ ब्रघ्न, मूत्रवृद्धि, व मेदोज वृद्धि का ही उल्लेख है । लेकिन वाग्भट ने अंडकोष वृद्धि के सात प्रकार बताए है । यह सभी रोग शल्यतंत्र के अधिकार में आते है । इसलिये इनका विस्तृत वर्णन व चिकित्सा का उल्लेख सुश्रुत संहिता में ही देखना चाहिये । यहां तो सामान्य जानकारी के लिये चिकित्सा सिद्धान्त बताया है ।

## ९. भगन्दर चिकित्सा–

**विरेचनं चैषणपाटनं च विशुद्धमार्गस्य च तैलदाहः ।**
**स्यात् क्षारसूत्रेण सुपाचितेनच्छिन्नस्य चास्य व्रणवच्चिकित्सा ।।**

च. चि. १२/९७

सर्वप्रथम विरेचन कराने के बाद भगंदर में एषणी द्वारा उसके गति का पता लगाकर उसका पाटन करना चाहिये । तत्पाश्चात उचित शोधन औषधी से व्रणमार्ग शुद्ध हो जाय तो उष्ण तैल से व्रण में दाह क्रिया करनी चाहिये । अथवा भगन्दर पूर्ण रूप से पक्व होने पर क्षारसूत्र से उसका भेदन करना चाहिये । तत्पश्चात उसकी व्रणवत् चिकित्सा करनी चाहिये ।

यह सामान्य चिकित्सा सूत्र है । भगंदर में उसकी विभिन्न अवस्थाओं में उसका कैसा छेदन या पाटन करना चाहिये इसका वर्णन सुश्रुत संहिता में देखना चाहिये ।

## १०. श्लीपद्–

**सिराकफघ्नश्च विधिः समग्र स्तत्रेष्यते सर्षपलेपनं च ।**

च. चि. १२/९८

सिराव्यध व कफनाशक चिकित्सा श्लीपद में की जाती है। श्लीपद के ऊपर सरसों का लेप लगाया जाता है।

यह रोग शरीर में किस जगह होता है इसपर विभिन्न आचार्यों में मतभिन्नता है। वेगावस्था में शोथ बढ़ना यह विशेष लक्षण सुश्रुतसंहिता में मिलता है।

## ११. जालकगर्दभ–

**विलङ्घनं रक्तविमोक्षणं च विरुक्षणं कायविशोधनं च।**
**धात्री प्रयोगाञ् शिशिरान् प्रदेहान् कुर्यात् सदा जालक गर्दभस्य।।**

च. चि. १२/१००

लंघन, रक्तमोक्षण, रुक्षण एवं वमन विरेचनादि शोधनोपक्रमों से जालकगर्दभ की चिकित्सा करनी चाहिये। तथा आंवले का प्रयोग व अन्य शीतल द्रव्यों का लेप करना चाहिये।

यहां आवलें के प्रयोग से अंत: तथा बाह्य दोनों प्रयोगों का ग्रहण करना चाहिये। यह पित्तप्रधान रोग है। इसलिये रक्तमोक्षण व शीतप्रदेह का महत्व है। वैसे ही शोधन में भी विरेचन ज्यादा महत्वपूर्ण रहेगा।

## १२. अनुक्तशोथ चिकित्सा–

**एवंविधांश्चाप्यपरान् परीक्ष्य शोथप्रकाराननिलादि लिङ्गैः।**
**शान्तिं नयेद्दोषहरैर्यथास्वमालेपनच्छेदन भेद दाहैः।।**

च. चि. १२/१०१

वात, पित्त एवं कफ के लक्षणों के आधार पर अन्य शोथों की परीक्षा करनी चाहिये। वैसे ही दोषों के लक्षणों के अनुसार दोषनाशक आलेपन, छेदन और दाहक्रिया इत्यादि के प्रयोग से उन्हें शान्त करना चाहिये।

## १३. आगन्तुज शोथ चिकित्सा–

**प्रायोऽभिघातादनिलः सरक्तः शोथं सरागं प्रकरोति तत्र।**
**वीसर्पनुन्मारुतरक्तनुच्च कार्यं विषघ्नं विषजे च कर्म।।**

च. चि. १२/१०२

प्राय: अभिघात (आघात) से रक्त के साथ कुपित हुई वायु रक्तवर्ण का शोथ उत्पन्न करती है। इस शोथ में विसर्प तथा वातरक्तनाशक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। विषजन्य शोथ में विषनाशक औषधों का प्रयोग करना चाहिये।

# उदररोग

## १. वातोदर की चिकित्सा–

**वातोदरं बलवतः पूर्वं स्नेहैरुपाचरेत् ।**
**स्निग्धाय स्वेदिताङ्गाय दद्यात् स्नेहविरेचनम् ।।**
**हृते दोषे परिम्लानं वेष्टयेद्वाससोदरम् ।**
**तथाऽस्यानवकाशत्वाद्वायुर्नाध्मापयेत् पुनः ।।**

च. चि. १३/५९-६०

वातोदर से पीड़ित बलवान रोगी में प्रथम स्नेहन व तत्पश्चात स्वेदन करना चाहिये । स्नेहन व स्वेदन के बाद स्नेहयुक्त विरेचन देना चाहिये । विरेचन से दोष निकल जाने पर जब उदर म्लान अर्थात् आध्मान आदि से विरहित हो जाय तो कपड़े से उदर को बांध देना चाहिये । यह इस प्रकार बांधना चाहिये कि उदर में अवकाश या रिक्त स्थान न रहे जिससे पुनः वायु प्रवेश कर आध्मान उत्पन्न न कर सके ।

चक्रपाणि ने परिम्लान का अर्थ क्षीण ऐसा दिया है । परिम्लानमिति क्षीणम् । तथेति वस्त्रवेष्टनेन । अष्टाङ्ग हृदयकार ने उदर की सामान्य चिकित्सा में विरेचनोपरांत उदर म्लान अर्थात् आध्मान आदि से विरहित होने पर उस पर साल्वणादि स्नेह कर पुनः वायु का प्रवेश न हो इसलिये वस्त्र से बांधने को कहा है ।

**विरिक्तं म्लानमुदरं स्वेदितं साल्वणादिभिः ।**
**वाससा वेष्टयेदेवं वायुर्नाध्मापयेत् पुनः ।।**

अ. हृ. चि. १५/५०

## २. वातोदर चिकित्सा–

**शुद्धं संसृज्य च क्षीरं बलार्थं पाययेत्तुतम् ।**
**प्रागुत्क्लेशान्निवर्त्यं च बले लब्धे क्रमात् पयः ।।**

च. चि. १३/६२

विरेचन द्वारा शुद्ध होने पर संसर्जन क्रम को पूर्ण कर वातोदर के रोगी में बल वृद्धि के लिये दूध का सेवन कराना चाहिये । इस दुग्ध सेवन को बल प्राप्त होने पर लेकिन उत्क्लेश होने के पूर्व क्रमशः बंद कर देना चाहिये ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी को दोहराया है–

**कृते संसर्जने क्षीरं बलार्थमवचारयेत् ।**
**प्रागुत्क्लेशान्निवर्तेत बले लब्धे क्रमात्पयः ।।**

अ. हृ. चि. १५/५५

वातोदर के बलवान रोगी में स्नेहन व स्वेदन कराकर तिल्वक अथवा मिश्रक घृत से विरेचन कराने के लिये कहा है। तत्पश्चात् संसर्जन क्रम कराकर बलवृद्धि के लिये दुग्धप्राशन करने के लिये कहा है। बलाधान होते ही कफोत्क्लेश होने के पहले दूध लेना धीरे धीरे बंद करना चाहिये ऐसा भी उन्होंने कहा है। वातोदर के अन्य कई अवस्थाओं का वर्णन भी अष्टाङ्ग हृदयकार ने किया है, उसे यथास्थल देखें।

## ३. वातोदर में निरुह–

**यूषैरसैर्वा मन्दाम्ललवणरेधितानलम्।**
**सोदावर्तं पुनःस्निग्धं स्विन्नमास्थापयेन्नरम्।।** च. चि. १३/६३

यूष या मांसरस, जो खट्टे अनार के रस से कुछ खट्टा किया हो तथा सैंधव नमक जिसमें मिलाया गया हो तथा इसके सेवन से जब रोगी की जठराग्नि तीव्र हो गयी हो, ऐसे रोगी में यदि उदावर्त हो तो उसे स्नेहन, स्वेदन कराकर आस्थापन बस्ति देनी चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इन्हीं दो पंक्तियों को दोहराया है। लेकिन तत्पश्चात 'तीक्ष्णाधोभागयुक्तेन दाशमूलिक बस्तिना', कहकर तीक्ष्ण रेचक औषधियों से सिद्ध दशमूल क्वाथ के बस्ती का प्रयोग करने के लिये कहा है। लेकिन चरकाचार्य ने इस बस्ति का प्रयोग निरुहबस्ति देने योग्य सभी उदर रोगियों में करने के लिये कहा है। वैसे ही अनुवासन के लिये वातनाशक और अम्ल काञ्जी से सिद्ध किये हुए एरंड तैल और तिल तैल का प्रयोग करने के लिये कहा है।

अष्टाङ्ग संग्रहकार ने इस अवस्था में उपरिनिर्दिष्ट दशमूल सिद्ध निरुह के साथ साथ चित्रकमूल, मैनफल का कल्क एवं एरंड तैल मिलाकर विदार्यादि गण के क्वाथ की निरुह बस्ति देने को कहा है।

## ४. वातोदर में अनुवासन–

**स्फुरणाक्षेपसन्ध्यस्थिपार्श्वपृष्ठत्रिकार्तिषु।**
**दीप्ताग्निं बद्ध विड्वातं रुक्षमप्यनुवासयेत्।।** च. चि. १३/६४

यदि उदररोग से पीड़ित व्यक्तियों में स्फुरण, आक्षेप, सन्धि, अस्थि, पार्श्व, पृष्ठ एवं त्रिक् प्रदेश में वेदना होती हो तथा अग्नि प्रदीप्त हो, मल और अपान वायु रुक रुक कर निकल रही हो और यदि रोगी के शरीर में रुक्षता बढ़ गई हो तो उसे अनुवासन बस्ति देनी चाहिये।

अष्टाङ्ग संग्रह व हृदयकार ने इसी को दोहराया है। यह वातोदर की एक विशिष्ट अवस्था है। इस विशिष्ट लक्षण समुच्चय में वायु का रुक्ष गुण से बढ़ना

सबसे महत्वपूर्ण है। इसलिये अनुवासन बस्ति का प्रयोग करने के लिये कहा गया है।

## ५. वातोदर में तैल प्रयोग–

**सरला मधुशिग्रुणां बीजेभ्यो मूलकस्य च।**
**तैलानभ्यङ्गपानार्थ शूलघ्नान्यनिलोदरे।।** च. चि. १३/१५५

वातोदर में तैलाभ्यङ्ग तथा आभ्यन्तर पान के लिये सरला (निशोथ) मधुशीग्रु और मूली बीज तैल का प्रयोग करना चाहिये। यह शूलनाशक होता है।

## ६. निरुह प्रयोग–

**सुविरिक्तो नरोयस्तु पुनराध्मापितो भवेत्।**
**सुस्निग्धैरम्ललवणै निरुहेस्तमुपाचरेत्।।** च. चि. १३/१७३

सम्यक् विरेचन हो जाने पर भी यदि पुनः आध्मान हो जाय तो पूर्ण मात्रा में स्नेह के साथ अम्ल और सैंधव मिलाकर निरुह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी को दोहराया है। अ. हृ. चि. १५/५१

## ७. निरुह प्रयोग–

**सोपस्तम्भोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम्।**
**तीक्ष्णः सक्षार गोमूत्रैर्वस्तिभिस्तमुपाचरेत्।।** च. चि. १३/१७४

विरेचनोपरांत भी दोषों का आवरण नष्ट न हुआ हो तथा वायु उदर में आध्मान उत्पन्न करती हो तो ऐसे रोगियों को तीक्ष्ण द्रव्यों के क्वाथ में क्षार और गोमूत्र मिलाकर निरुह बस्ति देनी चाहिये।

चक्रपाणि ने 'सोपस्तम्भ' का अर्थ 'आवरणसहित' ऐसा लिया है। इसलिये दोषों का आवरण नष्ट न होना, तथा वायु वृद्ध होकर आध्मान उत्पन्न करना इन दोनों अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए इस निरुह का वर्णन चरकाचार्य ने किया है।

## ८. अविरेच्य में संशोधन–

**अविरेच्यं तु यं विद्याद् दुर्बलं स्थविरं शिशुम्।**
**सुकुमारं प्रकृत्याऽल्प दोषं वाऽथोल्बणानिलम्।।**
**तं भिषक् शमनैः सर्पिर्यूषमांसरसोदनैः।**
**वस्त्यभ्यङ्गानुवासैश्च क्षीरैश्चोपाचरेद् बुधः।।**

च. चि. १३/६६-६७

जिनमें विरेचन देना उचित नहीं है ऐसे दुर्बल, वृद्ध, बालक, सुकुमार और अल्प दोषयुक्त रोगियों में यदि वात बढ़ गया हो तो दोषों का शमन करने के लिए घृत, यूष, मांसरस, भात आदि पथ्यों का सेवन कराते हुए वातनाशक बस्ति, अभङ्ग, अनुवासन और दूध के प्रयोग से चिकित्सक को करना चाहिये।

चक्रपाणि ने यहां अनुवासन के लिये एरंड तैल एवं तिलतैल का प्रयोग करने के लिये कहा है। वातघ्नादिभिः शृतमैरण्ड तैलं, तिलतैलं वाऽनुवासनं स्यात्। अनुवासैरिति अनुवासनैः। चक्रपाणि

## ९. पित्तोदर चिकित्सा–

**पित्तोदरे तु बलिनं पूर्वमेवविरेचयेत्।**
**दुर्बलं त्वनुवास्यादौ शोधयेत् क्षीरबस्तिना॥** च. चि. १३/६८
**संजातबलकायाग्निं पुनः स्निग्धं विरेचयेत्।**

पित्तोदर का रोगी यदि बलवान हो तो सर्वप्रथम उसे विरेचन ही देना चाहिये। यदि पित्तोदर का रुग्ण दुर्बल है तो अनुवासन के बाद क्षीरप्रधान निरुह बस्ति देकर शोधन करना चाहिये। संशोधन के पश्चात् जब पित्तोदर से पीड़ित रोगियों का शरीर व जठराग्नि बलवान हो जाय तो स्नेहनोपरांत पुनः विरेचन कराना चाहिये।

यहां चरकाचार्य ने या टीकाकार ने विरेचन से पूर्व आभ्यन्तर स्नेहन का उल्लेख नहीं किया है। लेकिन अष्टाङ्ग हृदयकार ने मधुरौषधि सिद्ध घृत से स्नेहन कराकर तत्पश्चात् विरेचन देने के लिये कहा है तथा दुर्बल रोगी में अनुवासन देकर क्षीर बस्ती का प्रयोग करने के लिये कहा है।

**बलिनं स्वादुसिद्धेन पैत्ते संस्नेह्य सर्पिषा।**
**श्यामात्रिमण्डीत्रिफलाविपक्वेन विरेचयेत्॥** अ. हृ. चि. १५/६१
**दुर्बलं त्वनुवास्यादौ शोधयेत्क्षीरबस्तिभिः।** अ. हृ. चि. १५/६५
**जाते त्वग्निबले स्निग्धं भूयोभूयो विरेचयेत्॥**

इस चिकित्सा सूत्र के पश्चात् वाग्भट ने पुनः पुनः दूध, बस्ति तथा विरेचन का प्रयोग करते रहने से तथा पथ्य का पालन करने से पित्तोदर ठीक होता है ऐसा कहा है।

चरकाचार्य ने अलग अलग अवस्थानुसार अलग अलग विरेचन द्रव्यों का प्रयोग करने के लिये कहा है।

## १०. कफजन्य उदर चिकित्सा–

**स्निग्धं स्विन्नं विशुद्धं तु कफोदरिणमातुरम्।**

**संसर्जयेत् कटुक्षारयुक्तैरन्नैः कफापहैः ।।**
**गोमूत्रारिष्टपानैश्च चूर्णायस्कृतिभिस्तथा ।**
**सक्षारैस्तैलपानैश्च शमयेत्तुकफोदरम् ।।**

च. चि. १३/७२-७३

स्नेहन स्वेदन कराने के बाद कफज उदर रोगी में शोधन कर कटु और क्षारयुक्त कफनाशक अन्न द्वारा संसर्जन कराना चाहिये। तत्पश्चात् गोमूत्र व अरिष्ट पिलाकर लोहभस्मचूर्ण, क्षार, तैलपान आदि कफनाशक औषधी द्वारा कफजन्य उदररोग को शान्त करना चाहिये।

इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए गंगाधर ने 'विशुद्ध' अर्थात् शोधन शब्द से वमन व विरेचन दोनों का ग्रहण किया है। लेकिन चक्रपाणि ने केवल विरेचन या बस्ति का प्रयोग करने के लिये कहा है। यहां कफ दोष प्रधान होने पर भी वमन का निषेध है। उदररोग में कभी भी वमन नहीं दिया जाता। चक्रपाणि ने चूर्णायस्कृति शब्द से नवायस लौह का ग्रहण किया है तथा रसायन प्रकरण में बताये हुए लौह भस्म या लौह के योगों का ग्रहण करने के लिये कहा है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने कहा है,

**जयेदरिष्टगोमूत्रचूर्णायस्कृतिपानतः ।**
**सक्षारतैलपानैश्च दुर्बलस्य कफोदरम् ।।** अ. हृ. १५/७४

अर्थात् अरिष्ट, गोमूत्र, चूर्ण, असस्कृति व क्षारयुक्त तेल के प्रयोग से दुर्बल मनुष्य के कफोदर को जीतना चाहिये। यहां रोगी को दुर्बल विशेषण लगाया गया है।

### ११. कफोदर में अरिष्ट तथा क्षार–

**स्तैमित्यारुचिहृल्लासे मन्दे अग्नौ मद्यपायच ।**
**अरिष्टान् दापयेत् क्षारान् कफस्त्यानस्थिरोदरे ।।**
**श्लेष्मणी विलयार्थंतु दोषं वीक्ष्य भिषग्वरः ।**

च. चि. १३/१५६-१५७

जिन मद्यपी व्यक्तियों का उदर कफ दोष के कारण स्त्यान और स्थिर हो गया हो तथा जिनका हृदय स्तिमित हो तथा भोजन में अरुची, हृल्लास हो तथा अग्नि मंद हो तो वैद्य ने उदरस्थ दोषों को देखकर कफ विलयनार्थ अरिष्टो और क्षारों का प्रयोग करना चाहिये।

## १२. सन्निपातज उदर की चिकित्सा–

**सन्निपातोदरे सर्वा यथोक्ताः कारयेत् क्रियाः ।**
**सोपद्रवं तु निर्वृत्तं प्रत्याख्येयं विजानता ।।** च. चि. १३/७४

वात, पित्त व कफोदर की जितनी भी चिकित्सा वर्णित है उन सभी चिकित्साओं का प्रयोग सन्निपातोदर में करना चाहिये । यदि सभी उपद्रव विद्यमान हो तो वह सन्निपातोदर असाध्य मानकर उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए ।

असाध्य अवस्था में चिकित्सा त्याग देने का उपदेश आयुर्वेद ग्रंथों में कई बार आता है । लेकिन आज यह धीरे धीरे स्पष्ट होने लगा है कि एक चिकित्सा पद्धति से असाध्य रोग दूसरे चिकित्सा पद्धति में साध्य रहता है । इस तरतम भाव का हमेशा ख्याल रखना चाहिये ।

## १३. प्लीहोदर की चिकित्सा–

**स्नेहं स्वेदं विरेकं च निरुहमनुवासनम् ।**
**समीक्ष्य कारयेद्बाहौ वामे वा व्यधयेत् सिराम् ।**
**षट्पलं पाययेत् सर्पिः पिप्पलीर्वा प्रयोजयेत् ।**
**सगुडामभया वाऽपि क्षारारिष्टगणांस्तथा ।।**

च. चि. १३/७७-७८

स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, निरुह तथा अनुवासन का प्रयोग प्लीहोदर में करना चाहिये । इन चिकित्सा की समीक्षा कर यदि इससे लाभ न हो तो वाम बाहू में सिरावेध करना चाहिये । अथवा षट्पल घृत अथवा पिप्पली अथवा गुडहरड का प्रयोग या क्षार और अरिष्टों का प्रयोग करना चाहिये ।

यहां सिरावेध के लिये सिरा का स्थान नहीं बताया है । लेकिन चक्रपाणि ने यहां सुश्रुतमत का ग्रहण करने के लिये कहा है । सुश्रुत मतानुसार वाम बाहू में कूर्पर के बीच में सिरा का वेध करना चाहिये । सु. चि. अ. १४ । चक्रपाणि ने षट्पल घृत से राजयक्ष्मा में वर्णित घृत का, पिप्पली से वर्धमान पिप्पली रसायन का तथा क्षार अरिष्ट से ग्रहणी तथा अर्श रोग में वर्णित क्षार तथा अरिष्ट का ग्रहण करने के लिये कहा है । सुश्रुत ने भी उदर रोग में षट्पल घृत का वर्णन किया है तथा चरकाचार्य ने विडङ्ग क्षार का स्वतंत्र वर्णन किया है । सुश्रुत ने स्नुही क्षीर भावित पिप्पली का प्रयोग बताया है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी रोगी को स्नेहन स्वेदन कराकर दही चावल का भोजन खिलाकर बाये हाथ में सिरावेध करने के लिये कहा है ।

## १४. वातकफज प्लीहोदर–

**अग्निकर्म च कुर्वीत भिषग्वातकफोल्बणे ।** च. चि. १३/८६

वातकफप्रधान प्लीहोदर में वैद्य को अग्निकर्म करना चाहिये । यहां पर भी अग्निकर्म कहां करना चाहिये इसका उल्लेख नहीं है । इसपर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि ने कहा है, "अग्निकर्मेति गुल्मवदत्राप्यग्निकर्म वदन्ति; तच्च वातकफोल्बणे प्लीहोदरे एव ज्ञेयम् । सुश्रुत ने प्लीहोदर में मणिबंध के पास अग्निकर्म करने के लिये कहा है ।

**मणिबन्धं सकृन्नाम्य वामाङ्गुष्ठसमीरिताम् ।**
**दहेत् सिरां शरेणाशु प्लीहा वैद्य प्रशान्तये ।।** सु. चि. १४/१६

अर्थात्, मणिबन्ध को कुछ झुकाकर बाये अंगुष्ठ की ओर जाती हुई सीरा का बाण से शीघ्र अग्निकर्म करें । इससे प्लीहा शान्त होती है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी अन्य सभी चिकित्सा से लाभ न होने पर वातकफज प्लीहोदर में गुल्म में वर्णित अग्निकर्म का प्रयोग करने के लिये कहा है ।

## १५. पित्तज प्लीहोदर–

**पैत्तिके जीवनीयानि सर्पींषि क्षीरबस्तयः ।**
**रक्तावसेकः संशुद्धिः क्षीरपानं च शस्यते ।।**
**यूषैर्मांसरसैश्चापि दीपनीय समायुतैः ।**

च. चि. १३/८६-८७

पित्तजन्य प्लीहोदर में जीवनीय गण से सिद्ध घृत का पान, क्षीर प्रधान निरुह बस्ति, रक्तमोक्षण, शोधन तथा दुग्धपान कराना चाहिये । अम्ल, तिक्त, कटु रस से सिद्ध दीपन करनेवाले यूष या मांसरस के साथ लघु अन्न का सेवन कराना चाहिये ।

कुछ विद्वानों ने यहां संशुद्धि शब्द से वमन का ग्रहण करने के लिये कहा है । दीपनीयसमायुतैः शब्द से चक्रपाणि ने पिप्पल्यादि दीपनीय गण से सिद्ध ऐसा अर्थ लिया है । दीपनीयसमायुतैरिति पिप्पल्यादि दीपनीयगण संस्कृतैरित्यर्थः । चक्रपाणि

## १६. यकृत् तथा प्लीहा की चिकित्सा में समानता–

**यकृति प्लीहवत् सर्वं तुल्यत्वाभ्देषजं मतम् ।** च. चि. १३/८८

प्लीहा रोग में जिन औषधियों का और उपायों का वर्णन किया है वे सभी औषधी व उपाय का प्रयोग यकृत् रोग में करना चाहिये ।

## १७. बद्धोदर चिकित्सा–

**स्विन्नाय बद्धोदरिणे मूत्रतीक्ष्णौषधान्वितम् ।**
**सतैललवणं दद्यान्निरुह सानुवासनम् ।**
**परिस्त्रंसीनि चान्नानि तीक्ष्णं चैव विरेचनम् ।**
**उदावर्तहरं कर्म कार्यं वातघ्नमेव च ।।**

च. चि. १३/८९-९०

स्वेदन करने के बाद बद्धोदर से पीड़ित रोगियों को तीक्ष्ण औषधी मिलाकर, गोमूत्र में तिल का तेल व नमक मिलाकर निरुह तथा अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये । अन्नकाल उपस्थित होने पर वातानुलोमक अन्न का प्रयोग करना चाहिये । यदि विरेचन आवश्यक हो तो तीक्ष्ण विरेचन का प्रयोग करें । तथा उदावर्त नाशक व वातनाशक कर्म का प्रयोग करें ।

यद्यपि बद्धोदर, छिद्रोदर एवं दकोदर में आस्थापन बस्ति निषिद्ध है फिर भी इनकी साध्यावस्था में निरुह अनुवासन का प्रयोग करना चाहिये ऐसा चक्रपाणि का मत है । यहां तीक्ष्ण औषधी, जैसे सेहूंड इत्यादि से युक्त गोमूत्र से निरुह और नमक तथा तैल से अनुवासन बस्ति का ग्रहण करना चाहिये । यह मुख्यत: शल्यतंत्राधिकार का रोग है । लेकिन प्रारंभिक अवस्था में कुछ औषधी चिकित्सा का प्रयोग करके देखना चाहिये ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी श्लोक को दोहराया है लेकिन सुश्रुत ने इस अवस्था में शस्त्रकर्म का ही उपदेश किया है ।

## १८. छिद्रोदर चिकित्सा–

**छिद्रोदरमृते स्वेदाच्छ्लेष्मोदरवदाचरेत् ।**
**जातं जातं जलं स्राव्य मेवं ताद्यापयेद्भिषक् ।**
**तृष्णाकास ज्वरार्तंतु क्षीणमांसाग्निभोजनम् ।**
**वर्जयेच्छ्वासिनं तद्वच्छूलिनं दुर्बलेन्द्रियम् ।।**

च. चि. १३/९१-९३

स्वेदन को छोड़कर छिद्रोदर रोग से पीड़ित रोगी की चिकित्सा कफजन्य उदर के समान करनी चाहिये । यदि जल संचय हो तो उसे बारबार निकाल कर चिकित्सा करते हुए समय व्यतीत करना चाहिये । यदि रोगी तृष्णा, कास या ज्वर से पीड़ित हो, मांस व अग्नि क्षीण हो गया हो, भोजन कम करता हो, श्वास और शूल से पीड़ित हो तथा इंद्रियां दुर्बल हो गयी हो तो उसे असाध्य समझकर चिकित्सा नहीं करना चाहिये ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी को दोहराया है और सुश्रुत ने इसमें शस्त्रकर्म बताया है।

## १९. दूष्योदर, सन्निपातोदर चिकित्सा–

**दन्ती द्रवन्ती फलजं तैलं दूष्योदरे हितम् ।**
**शूलनाह विबन्धेषु मस्तु यूष रसादिभिः ।।** च. चि. १३/१५४

यदि दूष्योदर में शूल, आनाह और विबन्ध हो तो दन्ती बीज तैल और द्रवन्ती बीज तैल को दधिमस्तु अर्थात् दही का पानी, कुल्थी का यूष या जांगल पशुपक्षियों के मांसरस से पीना चाहिये।

## २०. जलोदर में नित्य शोधन–

**दोषातिमात्रोपचयात् स्त्रोतोमार्ग निरोधनात् ।**
**संभवत्युदरं तस्मान्नित्यमेव विरेचयेत् ।।** च. चि. १३/६१

दोषों का अधिक मात्रा में उपचय, अर्थात् संचय होने से तथा स्त्रोतों में अवरोध उत्पन्न होने से उदर रोग उत्पन्न होता है। अत: उदर रोगी में नित्य विरेचन देना चाहिये।

यहां चक्रपाणि ने स्त्रोतोमार्ग से स्त्रोतोमुख का ग्रहण करने के लिये कहा है। स्त्रोतोमार्गनिरोधनादिति स्त्रोतोमुखनिरोधनादित्यर्थ:; मार्गशब्दोऽत्र मुखवाची। चक्रपाणि सुश्रुत ने भी उदर रोगाध्याय के अंतिम श्लोक में उदर रोग के सभी रोगियों में आस्थापन व विरेचन का प्रयोग करने के लिये कहा है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने जलोदर में जलदोष का निर्हरण करनेवाले तीक्ष्ण औषध, गोमूत्र व क्षार का प्रयोग करने के लिये कहा है। लेकिन शोधन का विशेष उल्लेख नहीं है।

## २१. उदररोग में दुग्ध प्रयोग–

**प्रयोगाणां तु सर्वेषामनु क्षीरं प्रयोजयेत् ।**
**दोषानुबन्धरक्षार्थं बलस्थैर्यार्थमेव च ।।** च. चि. १३/१९३

उदररोग में सभी औषध प्रयोगों के बाद दूध का प्रयोग अवश्य करना चाहिये। इससे दोषों के अनुबन्ध से रक्षा होती है बल स्थिर रहता है।

जलोदर के शस्त्रकर्म के पश्चात् सभी आचार्यों ने दूध का प्रयोग बताया है। चरकाचार्य ने पहले छह महीने केवल दूध, तत्पश्चात तीन महीने दूध व पेया व उसके बाद तीन महीने कोदो, सावा के भात का दूध के साथ सेवन करना चाहिये ऐसा कहा है।

●

## अष्टमोऽध्यायः

# अन्नवह स्रोतस

### अलसक

**तत्र साध्यमामं प्रदुष्टमलसीभूतमुल्लेखयेदादौ पाययित्वा सलवणमुष्णं वारि, ततः स्वेदनवर्तिप्रणिधानाभ्यामुपाचरेदुपवासयेच्चैनम् ।** च. वि. २/१३

उस साध्य आमविष को, जो दूषित और अलसीभूत है, सर्वप्रथम सेंधानमक मिश्रित गरमजल पिलाकर वमन द्वारा बाहर निकालना चाहिये । इसके बाद स्वेदन कराकर तत्पश्चात गुदवर्ती का मलप्रवृत्ति के लिये प्रयोग करें । आमदोष से पीड़ित रोगी को उपवास करावें ।

आमाशय में अन्न अलसीभूत होकर अर्थात् आलसी व्यक्ति जैसा पड़ा रहता है इसलिये इसे अलसक कहते हैं । यह स्वभाव से दारुण व आभ्यन्तर रोग मार्ग का व्याधि है । शारंगधर ने दोषों के अनुसार वातज, पित्तज एवं कफज ऐसे तीन प्रकार बताये है । लेकिन चरकादि ग्रंथकारों ने अवस्थानुरूप अलसक, दंडालसक एवं आमविष ऐसे तीन प्रकार बताए है । कुछ विद्वानों के मतानुसार आमविष का अंतर्भाव प्रकार भेद से अलसक में ही करना चाहिये । वैसे ही विलंबिका यह अलसक की आगे की अवस्था मानना चाहिये ऐसा कुछ विद्वानों का मानना है । कुछ टीकाकार विलंबिका व दंडालसक को एक ही मानते है । यह मत योग्य नहीं है ऐसा हेमाद्री का मत है । माधव निदान की टीका में भी अलसक में तीव्र शूल रहता है और विलंबिका में वह नहीं रहता ऐसा भेद बताया है । साध्यासाध्यता की दृष्टि से अलसक यह कष्टसाध्य और दंडालसक, आमविष एवं विलंबिका यह असाध्य बताये गये है । इसलिये इस चिकित्सा सूत्र में प्रथम साध्यता का उल्लेख कर बाद में चिकित्सा बतायी है ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी, 'अथाममलसीभूतं साध्यं त्वरितमुल्लिखेत्' ऐसा कहकर चरकाचार्य का अनुमोदन किया है लेकिन वमन कराने के लिये वचा, सैंधव और मदनफल का प्रयोग करने के लिये कहा है । यह बिना पूर्वकर्म के सद्योवमन का प्रयोग है । तत्पश्चात् वातानुलोमन के लिये फलवर्ती का प्रयोग व लंघन व दीपन पाचन कराने के लिये कहा है ।

### आमदोष

**१. आमप्रदोषजानां पुनर्विकाराणाम् अपतर्पणेनैवोपपरमो भवति,**

**सतित्वनुबन्धे कृतापतर्पणानां व्याधीनां निग्रहे निमित्तविपरीतमपास्यौषधमातङ्क विपरीतमेवावचारयेद्यथास्वम्** । च. वि. २/१४

आमदोषोत्पन्न रोगों की शांति अपतर्पण से कराने के बावजूद रोग का संबंध बना रहता है । उसे दूर करने के लिये हेतु विपरीत चिकित्सा का त्याग कर व्याधि विपरीत औषध का सेवन करना चाहिये ।

अलग अलग व्याधियों के अनुबन्ध के लिये सर्वप्रथम लंघन देकर तत्पश्चात व्याधिप्रत्यनिक उपचार करने चाहिये । हेतु प्रत्यनिक चिकित्सा हमेशा कारगर नहीं होती । लेकिन दोषों को निरामावस्था में लाना चिकित्सा की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । हेतु विपरीत व व्याधि विपरीत चिकित्सा का तारतम्य इस सूत्र से स्पष्ट होता है । इसे सभी रोगों में लागू होनेवाला सामान्य नियम समझना चाहिये । इसलिये चरकाचार्य ने कहा भी है, सर्वविकाराणामपिच निग्रहे हेतुव्याधिविपरीत मौषधमिच्छन्ति कुशला:, तदर्थकारि वा । अर्थात् सभी रोगों का निग्रह करने के लिये कुशल चिकित्सक हेतु विपरीत,. व्याधि विपरीत, हेतुव्याधि विपरीत अथवा हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी या हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी औषध का प्रयोग करते है ।

अष्टङ्ग हृदयकार ने भी चरक मत को दोहराते हुए हेतु विपरीत चिकित्सा से पूर्ण सफलता न मिलने पर व्याधि विपरीत चिकित्सा का प्रयोग करने के लिये कहा है । इसको आगे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि उस चिकित्सा में प्रयुक्त द्रव्य हेतु व्याधि विपरीत ही होनी चाहिये ऐसा नहीं है । उसकी क्रिया अंतत: हेतुव्याधिविपरीत होनी चाहिये । जैसे पित्तप्रधान व्रणशोथ पर उष्ण पिंडी (पोल्टिस) बांधना या छर्दी में मदनफल का प्रयोग इत्यादि ।

## २. आमदोष से मुक्त व्यक्ति की चिकित्सा–

**विमुक्तामप्रदोषस्य पुन: परिपक्वदोषस्य दीप्ते चाग्नावभ्यङ्गास्थापनानुवासनं विधिवत् स्नेहपानं च युक्त्या प्रयोज्यं प्रसमीक्ष्य दोषभेषजदेशकालबल शरीराहार-सात्म्यसत्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च सम्यगिति** । च.वि.२/१३

आमदोष से विमुक्त होने पर, दोषों का पाचन व अग्नि दीप्त होने पर दोष, औषध, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति तथा वय, इनके अवस्था भेद तथा रोग की समीक्षा कर विधिपूर्वक अभ्यङ्ग, निरुह, अनुवासन व स्नेहपान का प्रयोग करना चाहिये ।

दोष, औषध, देश, काल, बल इत्यांदि का उल्लेख आसान है । लेकिन इनकी अवस्था का ज्ञान होने के लिये लंबे चिकित्सानुभव की आवश्यकता है । अष्टाङ्ग

हृदयकार ने भी दोष पक्व होने पर तथा अग्नि प्रदीप्त होने पर अभ्यङ्ग स्नेह पान व बस्ति का युक्तिपूर्वक प्रयोग हितकर होता है, ऐसा कहा है।

## कृमि

### १. सामान्य चिकित्सा–

**तत्रसर्वक्रियामीणामपकर्षणमेवादितः कार्यं, ततः प्रकृतिविघातः अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनमिति ।** च. वि. ७/१४

प्रारंभ में इन सभी कृमियों को अपकर्षण से बाहर निकालना चाहिये। तत्पश्चात् उनके उत्पत्ति के कारणों का नाश, अर्थात् प्रकृति विघात करना चाहिये। उसके बाद निदान में बताए गए कारणों का त्याग करना चाहिये।

अपकर्षण, प्रकृति विघात व निदान परिवर्जन यह कृमि की चिकित्सा है। अपकर्षण दो प्रकार से किया जाता है। यंत्र द्वारा या औषधी द्वारा। स्वस्थान (आमाशय) में स्थित कृमियों को निकालने के लिये औषध का प्रयोग किया जाता है। यह भेषजापकर्षण चार प्रकार का होता है। (१) शिरोविरेचन (२) वमन (३) विरेचन और (४) आस्थापनः।

प्रकृति विघात का अर्थ है उत्पादक कारणों का नाश। प्रकृति विघात के लिये कटु, तिक्त, कषाय, क्षार और उष्ण द्रव्यों का प्रयोग बतलाया गया है। कफ और पुरीष के गुणों के विपरीत जो भी द्रव्य है उनका प्रयोग प्रकृति विघात के लिये किया जा सकता है। 'ह्रासहेतुविशेषश्च' इस सिद्धान्त पर आधारित यह चिकित्सा है।

निदान में कहे गये भावों का सेवन न करना ही निदान परिवर्जन है। कहा भी है, संक्षेपतः क्रियायोगो निदानंपरिवर्जनम्। इन सभी का विस्तार से वर्णन मूल ग्रंथ में देखें।

### २. रक्तज कृमि चिकित्सा–

**.....; चिकित्सितमप्येषां कुष्ठैः समानं, ..... ।**

इन कृमियों की चिकित्सा कुष्ठ के समान है।

रक्तज कृमियों के प्रभाव से केश, श्मश्रु, नख, लोम और पलक के बालों का नाश होता है। व्रण में रहने पर रोमहर्ष, खुजली, सुई चुभोनेसी पीड़ा, रेंगने का अनुभव आदि लक्षण उत्पन्न होते है। जब ये बढ़ जाते है तो त्वचा, सिरा, स्नायु, मांस और तरुणास्थियों को खा जाते है। ऐसे कृमियों की चिकित्सा कुष्ठ के समान होना स्वाभाविक ही है।

उत्पत्ति भेद से कृमियों के पुरीषज, श्लेष्मज, शोणितज एवं मलज ऐसे चार प्रकार और स्वरुपाकृतिनुसार बीस प्रकार बताये है। लेकिन चरक और सुश्रुत के श्लेष्मज कृमियों के नामकरण व वर्णन में अंतर है। हारित संहिता में सूची कृमि व धान्यांकुर कृमि ऐसे दो अलग प्रकार बताये है। यह वर्णन वैशिष्ठ्यपूर्ण है।

## अरोचक

### १. अरोचक चिकित्सा–

**अरुचौकवलग्राहा धूमाः समुखधावनाः ।**
**मनोज्ञमन्नपानंच हर्षणाश्वासनानि च ।।** च. चि. २६

अरोचक रोग में कवलग्रह धारण, धूमपान, मुखप्रक्षालनार्थ क्वाथों का प्रयोग, मनोनुकूल अन्नपान का सेवन, मन में हर्ष, आनंद उत्पन्न करना एवं आश्वासन हितकर होते है।

अरोचक यह स्वतंत्र या परतंत्र हो सकता है। इसे स्वतंत्र रहने पर कष्टसाध्य व परतंत्र या उपद्रवात्मक रहने पर दारुण माना गया है। मुख में अन्न का स्वाद या रुचि नहीं लगना यह अरोचक शब्द का सामान्य अर्थ है। अरोचक के समानार्थी कई शब्द बदलते हुए अर्थच्छटा के साथ मिलते है। जैसे आस्यवैरस्य, विरसास्यता, अरुचि, अश्रद्धा, भक्तोपघात, अभक्तःछंद, भक्तद्वेष, अनन्नाभिलाष इत्यादि। यह लक्षण स्वतंत्र अरोचक व्याधि में भी दिखाई देते है।

प्रकुपित दोष अन्नवहस्त्रोतस को दूषित करते हुए जिह्वाश्रयी होकर अरोचक व्याधि उत्पन्न करते है इसलिये कवलग्रह धारण, धूमपान, मुखप्रक्षालनार्थ क्वाथों का प्रयोग इसकी चिकित्सा में महत्वपूर्ण है। इसके साथ साथ मानसभावों का भी इस रोग की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण योगदान है। अतीव दुःख या शोक के प्रसंग में अन्न का स्वाद नहीं लगना कई बार देखा जाता है। इसलिये हर्षण, आश्वासन चिकित्सा भी इस अवस्था में आवश्यक है।

### २. अरोचक चिकित्सा प्रकारानुसार–

**वस्ति समीरणे, पित्तेविरेकं वमनं कफे ।**
**कुर्याद्हृद्यानुकूलानि हर्षणं च मनोघ्नजे ।।** च. चि. २६/२२०

वातप्रकोप अरोचक में बस्ति का पित्तप्रकोपज में विरेचन का तथा कफप्रकोपज में वमन का प्रयोग करना चाहिये। मानसिक आघात से उत्पन्न अरोचक में मन में हर्ष उत्पन्न करने वाले व हृदयानुकूल क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिये।

यहां अरोचक के प्रकारानुसार चिकित्सा का वर्णन किया है। लेकिन अरोचक के प्रकार व उनके लक्षणों का वर्णन राजयक्ष्मा के चिकित्सा में उपद्रवरूप अरुची के वर्णन के साथ आया है। यक्ष्मा के हेतुओं में भी अरोचक का उल्लेख है। लेकिन सन्निपातज अरोचक की स्वतंत्र चिकित्सा का वर्णन कहीं नहीं है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी अरोचक की चिकित्सा का वर्णन राजयक्ष्माध्याय में करते हुए कहा है कि अरुचि में हितकर पदार्थों से मिश्रित अनेक प्रकार के खाद्यपदार्थों का सेवन, स्नान से बाह्य शुद्धता, अंत:करण में शुद्धता तथा समाधान, रुचिकर औषधों का सेवन, सुबह शाम दंतकाष्ठ का चर्बण, धूमपान तथा दोषशामक क्वाथ से मुखक्षालन हितकर होता है। उन्होंने इसी अध्याय में आगे दोषानुसार अलग अलग कल्पों का वर्णन किया है। सुश्रुताचार्य ने सामान्य चिकित्सा सूत्र नहीं बताया है लेकिन हर प्रकार विशेष की चिकित्सा पूर्ववर्णित चिकित्सा सिद्धान्त के आधार पर ही है। उन्होंने 'स्वदेशरचित' अर्थात् अपने देश में बनाये हुए अनेक प्रकार के पेय पदार्थों का अरोचक में प्रयोग करने के लिये कहा है।

## उदावर्त

### १. सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त–

**तं तैलशीतज्वरनाशनोक्तं स्वेदैर्यथोक्तैः प्रविलीनदोषम्।**
**उपाचरेद्वर्तिनिरुहवस्तिस्नेहैर्विरेकैरनुलोमनान्नैः ।।**

च. चि. २६/११

उदावर्त रोग से पीड़ित रोगी के शरीर पर शीतज्वरनाशक तैल की मालिश कर वातनाशक स्वेद विधि का प्रयोग करने से दोष द्रवीभूत हो जाते है। इन दोषों का निर्हरण करने के लिये वर्ति, निरुहबस्ति, स्नेहप्रयोग व विरेचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। उसके साथ ही अपान वायु का अनुलोम करने वाले आहार द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।

वायु का अपनी प्राकृतिक गति को छोड़कर ऊपर की दिशा में भ्रमण करना उदावर्त है। यह अपान वायु की विकृति है। इसलिये स्नेहन, स्वेदन व वातानुलोमन यह इसकी सामान्य चिकित्सा है। इस सूत्र में निरुह का उल्लेख है। चरकाचार्य ने सूत्रस्थान अध्याय २ में पंचकर्मार्थ द्रव्यसंग्रह में आस्थापन (निरुह) के लिये द्रव्यों का वर्णन करते समय इन्हीं द्रव्यों का उदावर्त व विबन्ध में प्रयोग करने के लिये कहा है। उदावर्तेविबन्धेषु युञ्ज्यादास्थापनेषु च। च. सू. २/१३

चरकाचार्य ने वायु के वेगावरोधजन्य विमार्गगमन को उदावर्त से अलग माना

है। इसलिये वेगावरोधजन्य लक्षणों में उदावर्त का उल्लेख भी नहीं है। इसलिये चरकोक्त उदावर्त एक ही है। इसके विपरीत वाग्भट व सुश्रुत ने मुख्यत: वेगावरोधजन्य १३ प्रकार के उदावर्त माने है। सुश्रुताचार्य ने उदावर्त के सामान्य चिकित्सा सूत्र में सभी वातशामक क्रियाओं का प्रयोग करने को कहा है।

### २. उदावर्त में बस्ति प्रयोग–

**तेषां विघाते तु भिषग्विधध्यात्।**
**स्वभ्यक्तसुस्विन्नतनोर्निरुहम् ।**
**उर्ध्वानुलोमौषधमूत्रतैल ।**
**क्षाराम्लवातघ्नयुतं सुतीक्ष्णम्।।** च. चि. २६/१६

उदावर्त मे जब वर्ती और प्रधमन चूर्णो का प्रयोग करने पर भी सम्यक् मल प्रवृत्ति तथा वातानुलोमन न हुआ हो तो चिकित्सक ने रोगी को स्नेहन व स्वेदन कराकर तथा वमन और विरेचन औषधियों को गोमूत्र, तेल, क्षार, अम्ल (काञ्ची) आदि वातनाशक द्रव्यों में मिलाकर बनायी हुई तीक्ष्ण निरुह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

वातानुलोमन ही उदावर्त की चिकित्सा है। इसलिये यदि सामान्य चिकित्सा प्रयोगों से यह साध्य नहीं हो रहा हो तो तीक्ष्ण द्रव्यों से सिद्ध निरुह का प्रयोग करना चाहिये, इतना ही उपदेश इस सूत्र में किया है।

### ३. दोषानुसार निरुह का प्रयोग–

**वातेऽधिकेऽम्लं लवणं स तैलं, क्षीरेणपित्तेतु कफे समूत्रम्।**
**स मूत्रवर्चोऽनिलसङ्गमांशु गुदं सिराश्च प्रगुणी करोति।।**
च. चि. २६/१७

यदि उदावर्त में वायु की प्रधानता हो तो अम्ल तथा लवण रस के साथ तैल बस्ति, पित्त की प्रधानता हो तो (गो) दुग्ध की बस्ति तथा कफ की प्रधानता हो तो (गो) मूत्र की बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति मूत्र मल और वायु की रुकावट को तथा गुदा व सिराओं को उत्तेजित करती है।

### ४. विरेचन द्रव्य प्रयोग–

**भूयोऽनुबन्धे तु भवेद्विरेच्यो मूत्रप्रसन्नादधिमण्डशुक्तैः।**
**स्वस्थं तु पश्चादनुवासयेत्तं रौक्ष्याद्धि सङ्गोऽनिलवर्चसोश्चेत्।।**
च. चि. २६/१९

निरुह आदि चिकित्सा के पश्चात् भी यदि रोग का अनुबन्ध बना रहे तो गोमूत्र,

प्रसन्ना, दही का पानी और शुक्त इनमें से किसी एक द्रव्य के साथ विरेचन का प्रयोग करें। तत्पश्चात् यदि रुक्षता उत्पन्न हो व फलस्वरूप वायु और मल की रुकावट हो जाय तो उस स्वस्थ पुरुष को अनुवासन बस्ति देनी चाहिये।

### ५. आनाह चिकित्सा–

**आनाहमामप्रभवं जयेत्तु प्रच्छर्दनैर्लङ्घनपाचनैश्च।** च. चि. २६/२६

आमदोषजन्य आनाह को वमन लंघन और पाचन से जीतना चाहिये।

पेट का वायु से फूल जाना याने आनाह। कहा भी है, उदरास्या ध्मानम् वायुना परीपूरणम्। उदावर्त तथा आनाह समान हेतु से उत्पन्न होते है परंतु लक्षणों में भिन्नता पायी जाती है। यहां आमदोषजन्य आनाह का ही उल्लेख है। सुश्रुताचार्य ने दो प्रकार के आनाह का वर्णन किया है। (१) आमसमुद्भव व (२) पुरीषज चरकाचार्य ने भी चिकित्सा स्थान अध्याय १४, अर्शाधिकार में वंक्षणाश्रयी आनाह ऐसा एक लक्षण बताया है। लेकिन उसका वर्णन कहीं भी दिया नहीं है। सुश्रुताचार्य ने आनाह की सामान्य चिकित्सा में, 'स्वेदन पाचने गुदे वर्तिनिवेशनं नाडयाचूर्णप्रधमनं निरुहानुवासन बस्तिश्च' अर्थात् स्वेदन पाचन, गुदवर्ति, प्रधमन तथा निरुह व अनुवासन का उल्लेख किया है। काश्यप ने बाल आनाह नाम से बालकों के आनाह रोग का वर्णन किया है।

## छर्दि रोग

### १. सामान्य चिकित्सा–

**आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात्।**
**प्राक्कार येन्मारुतजां विमुच्य संशोधनं वा कफपित्तहारि।।**

च. चि. २०/२०

आमाशय के उत्क्लेश से ही सभी प्रकार के छर्दिरोग उत्पन्न होते है। इसलिये सर्वप्रथम लङ्घन कराना चाहिये। अथवा कफपित्तनाशक संशोधन अर्थात् वमन-विरेचन करना चाहिये। किन्तु वातजन्य छर्दिरोग में लङ्घन तथा वमन या विरेचन नहीं करना चाहिये।

इस सूत्र पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि ने इसे और थोड़ा स्पष्ट किया है। यह आमाशयोत्थ रोग होने से लङ्घन तथा कफहर औषधों का प्रयोग युक्तिसंगत है। इसलिये सर्वप्रथम लङ्घन का उल्लेख है। दोष अल्पमात्रा में हो तो लङ्घन व बलवान या अधिक मात्रा में हो तो संशोधन करना अपेक्षित है। संशोधन शब्द से यहां वमन

व विरेचन का ग्रहण करना चाहिये। कुछ लोगों के मतानुसार संशोधन शब्द से प्रतिमार्गहरण अर्थात् विरेचन ही अपेक्षित है। रोगी के बल का विचार भी चरकाचार्य ने किया है। इसलिये, 'यो दुर्बलस्तं शमनैश्चिकित्सेत् (च. चि. २०/२२) ऐसा कहा है। इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि ने शमन का अर्थ स्पष्ट किया है। शमनैरिति दोषनिबर्हणं विना दोषसाम्यकरैः; अर्थात् दोषनिर्हरण किये बिना दोषों को साम्यावस्था में लाना ही शमन है। आगे पुष्कलावत का संदर्भ देते हुए कहा है, न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमांस्तत् संशमनमुच्यते।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने व सुश्रुताचार्य ने भी चरक मत को ही दोहराया है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने शमन चिकित्सा के लिये दुर्बल तथा रुक्ष रोगी का चयन करने के लिये कहा है। शमनं चौषधं रुक्ष दुर्बलस्य तदेव तु। सुश्रुताचार्य ने कफाधिक्य वाले छर्दी में वमन तथा पित्ताधिक्यवाले छर्दी में विरेचन का प्रयोग करने को कहा है। इसके साथ साथ छर्दी की सामान्य चिकित्सा बताते हुए दोषानुसार ज्वरहर क्वाथ का प्रयोग छर्दी में करने का उपदेश किया है। यथास्वञ्च कषायाणि ज्वरघ्नानि प्रयोजयेत्। सु. उ. ४९/२०

## २. द्विष्टार्थ संयोगज छर्दि चिकित्सा–

**मनोभिघाते तु मनोनुकूला वाचः सामाश्वासनहर्षणानि।**
**लोकप्रसिद्धाः श्रुतयोवयस्याः श्रृङ्गारिकाश्चैव हिता विहाराः।।**

च. चि. २०/४१

मनोभिघात-अर्थात् मन के दूषित होने पर जो छर्दी उत्पन्न होती है उसमें रोगी के मनोनुकूल वचन तथा आश्वासन से मन को प्रसन्न रखना चाहिये। लोकप्रसिद्ध शृंगाररसयुक्त कथाओं को मित्रजन सुनाते रहे तथा रोगी के मनोनुकूल विहार कराते रहे।

संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि मन को शांत करने वाले मनोनुकूल आहार विहार का प्रयोग करना चाहिये। इसको और स्पष्ट करते हुए चरकाचार्य ने कहा है।

**गन्धं रसं स्पर्शमथापि शब्दं रूपं च यद्यत् प्रियमप्यसात्म्यम्।**
**तदेव दद्यात् प्रशमाय तस्यास्तज्जोहि रोगः सुख एव जेतुम्।।**

च. चि. २०/४४

अर्थात् जो गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द व रूप रोगी के मन के अनुकूल हो उसे ही द्विष्टार्थ संयोगज छर्दी में प्रयोग करना चाहिये। यदि गन्ध आदि असात्म्य हो किन्तु प्रिय हो तो भी उसके प्रयोग से कोई हानि नहीं होती।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी, अनुकूलोपचारेण द्विष्टार्थजा शमम्, अर्थात् अनुकूल उपचार से द्विष्टार्थजा छर्दी का शमन होता है ऐसा कहा है। सुश्रुताचार्य ने भी 'बीभत्सजां हृद्यतमैः' कहा है।

## ३. सन्निपातज छर्दि चिकित्सा–

**यैषा पृथक्त्वेन मया क्रियोक्ता तां सन्निपातेऽपि समस्य बुद्ध्या।**
**दोषर्तुरोगाग्निबलान्यवेक्ष्य प्रयोजयेत्शास्त्रविदप्रमत्तः।।**

च. चि. २०/४०

अलग अलग दोषों की जो भिन्न भिन्न चिकित्साएं बतायी गयी है उनका एकत्रित प्रयोग शास्त्र को जाननेवाले सावधान चिकित्सक ने दोष, ऋतु तथा अग्निबल का विचार कर सन्निपातज छर्दि में करना चाहिये।

प्रत्यक्ष चिकित्सा में सन्निपातज रोगों की चिकित्सा करने में हमेशा कठिनाई होती है। सन्निपातज छर्दि स्वभाव से ही असाध्य होती है। फिर भी चिकित्सा बतायी गयी है। सुश्रुताचार्य ने गिलोय के हिम का शहद के साथ प्रयोग करने के लिये कहा है। छर्दि रोग के चरकाचार्य ने पांच प्रकार बताये है। वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज एवं द्विष्टार्थज। सुश्रुताचार्य ने छर्दि के तीन दोष के तीन, सन्निपात का एक तथा इसके साथ साथ बीभत्सज, दौहृदज, आमज, सात्म्यप्रकोपज तथा कृमिज ऐसे और पांच प्रकार बताये है। यह निदान व चिकित्सा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। चरकाचार्य ने सुश्रुतोक्त आमज छर्दि का अंतर्भाव सन्निपातज में, दौहृदज का अंतर्भाव द्विष्टार्थ संयोगज में कर लिया होगा। कृमिज छर्दि यह परतंत्र व्याधि होने से उसका अंतर्भाव यहां नहीं है।

## ४. छर्दि रोग के उपद्रव की चिकित्सा–

**छर्द्यत्थितानां च चिकित्सितात् स्याच्चिकित्सितं कार्यमुपद्रवाणाम्।**
**अतिप्रवृत्तासु विरेचनस्य कर्मातियोगे विहितं विधेयम्।।**

च. चि. २०/४५

यदि छर्दिरोग की चिकित्सा करने पर भी उपद्रव निर्माण हो तो उन उपद्रवों के लिये उनके चिकित्साधिकार में जिन औषधियों का वर्णन है उन औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। यदि छर्दि का अतियोग हो जाय तो वमन के अतियोग में सिद्धिस्थान में जो औषधियां बतायी है उनका प्रयोग करना चाहिए।

उपद्रवों की चिकित्सा उनके चिकित्साधिकार में जैसी वर्णित है वैसे ही करनी चाहिये यह सामान्य नियम है। करीबन सभी रोगों के उपद्रवों में यह लागू होता है।

छर्दि के उपद्रव के रूप में कास, श्वास, ज्वर, हिक्का, तृष्णा, चित्त का विचलित होना, हृद्रोग, तमकश्वास इनका उल्लेख आता है। उनकी स्वतंत्र व्याधि जैसी चिकित्सा करनी चाहिये।

**कासःश्वासोज्वरोहिक्का तृष्णा वैचित्यमेव च।**
**हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरूपद्रवाः ।।**

## ५. छर्दि अतियोग में वातनाशक चिकित्सा–

**वमिप्रसङ्गात् पवनोऽप्यवश्यं धातुक्षयाद् वृद्धिमुपैति तस्मात्।**
**चिरप्रवृत्तास्वनिलापहानि कार्याण्युपस्तम्भनबृंहणानि ।।**

च. चि. २०/४६

दीर्घकाल वमन होने से धातुओं का क्षय व धातुक्षय से वातवृद्धि होती है। इसलिये दीर्घकालीन छर्दिरोग में वातनाशक स्तम्भन व बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये।

इसी सूत्र को अष्टाङ्ग हृदयकार ने दोहराया है। छर्दि रोग की संप्राप्ति में सुश्रुताचार्य ने व्यान व उदान, कफ तथा पित्त को मुख द्वारा बाहर डालते है ऐसा कहा है। इस क्रिया में आमाशय का उत्क्लेश होना स्वाभाविक है। यह क्रिया यदि दीर्घ काल तक चलती है तो रसधातु का क्षय होकर धातुक्षयजन्य वातवृद्धि होना स्वाभाविक है। इस अवस्था में वातनाशक, स्तम्भन व बृंहण चिकित्सा ही करनी चाहिये।

# ग्रहणी

## १. सामान्य चिकित्सा सूत्र–

**लीनं पक्वाशयस्थं वाऽप्यामं स्राव्यं सदीपनैः।**
**शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनपाचनम् ।।**

च. चि. १५/७५

आमदोष यदि उदर में लीन अवस्था में हो अथवा पक्वाशय में हो तब दीपन के साथ विरेचन औषधियों को देकर उसका शोधन करना चाहिये। यदि साम रस शरीरानुगत हुआ हो, अर्थात् शरीर में फैला हो तो लंघन व पाचन का प्रयोग कर उसका नाश करना चाहिये।

लीन का अर्थ है अनुत्क्लिष्ट। पक्वाशयस्थ का अर्थ है पक्वाशय समीप, स्राव्य का अर्थ विरेचन तथा 'स्राव्यं सदीपनैः' का अर्थ है दीपन द्रव्यों के साथ विरेचन का

प्रयोग। शरीरानुगत का अर्थ सर्वशरीरव्यापक व सामरस का अर्थ अपक्व रस है। इति चक्रपाणि

सुश्रुताचार्य ने क्रमश: चिकित्सा बताते हुए सर्वप्रथम दोषानुसार शोधन करने के लिये कहा है। अर्थात् वातज ग्रहणी में निरुह, पित्त प्रधानता में मृदु विरेचन तथा कफाधिक्य में वमन का प्रयोग अपेक्षित है। तत्पश्चात् दीपन औषधियों से सिद्ध जल में पकाये हुए पेया, विलेपी, यूष, ओदन आदि का प्रयोग कराना चाहिये। तत्पश्चात पाचन द्रव्यगण (हरिद्रादि गण), संग्राही द्रव्यगण (अम्बष्ठादि गण) तथा दीपनीय द्रव्यगण (पिप्पल्यादि गण) के द्रव्यों से निर्मित क्वाथ या चूर्ण का सुरा, आसवारिष्ट, घृततैलादि स्नेह, गोमूत्र या सुखोष्ण जल के साथ दोष, काल और सात्म्य का विचारकर प्रात:काल सेवन करना चाहिये। अथवा उपरोक्त तीन गण में से किसी एक गण के द्रव्यों से निर्मित चूर्ण का तक्र के साथ या सिर्फ चूर्ण का सेवन भी हितकारक है। इसके अतिरिक्त ग्रहणी में कृमि, गुल्म, उदर व अर्शरोग को नष्ट करनेवाली चिकित्सा का प्रयोग भी लाभकर होता है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने अजीर्ण के समान चिकित्सा व अतिसार में वर्णित आमपाचन का प्रयोग करना चाहिये ऐसा कहा है।

**ग्रहणीमाश्रितं दोषमजीर्णवदुपाचरेत्।**
**अतीसारोक्तविधिना तस्यामं च विपाचयेत्॥** अ. हृ. चि. १०/१

इसके साथ साथ लघु तथा दीपनपाचन आहार का प्रयोग करने के लिये कहा है। तक्र प्रयोग का ग्रहणी में उपयोग भी वर्णन किया है।

## २. साम ग्रहणी चिकित्सा–

**आमलिङ्गान्वितं दृष्ट्वा सुखोष्णेनाम्बुरोद्धरेत्।**
**फलानां वा कषायेण पिप्पली सर्षपस्तथा॥**

च. चि. १५/७४

साम ग्रहणी के लक्षणों को देखकर उष्ण अर्थात् सुखोष्ण जल पिलाकर वमन द्वारा दोषों को बाहर निकालना चाहिये। अथवा मदनफल क्वाथ में पीपर (पिप्पली) तथा सरसों का कल्क मिलाकर वमन कराना चाहिये।

विष्टम्भ (मलबद्धता), प्रसेक (मुंह से पानी गिरना) अर्ति (वेदना), दाह, अरुचि व गौरव यह साम ग्रहणी के लक्षण बताये है।

३. **परीक्ष्यैवपुरासामं निरामं चामदोषिणम्।**
**विधिनोपचरेत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा॥** च. चि. १५/९५

मल की सामता या निरामता का परीक्षण कर यदि मल साम हो तो विधिपूर्वक पाचन औषधी से उसकी चिकित्सा करें। यदि निराम हो तो संशमन औषधी द्वारा शमन करें। अथवा पाचन औषधी से मल की सामता नष्ट हो जाने पर संशमन औषधी का प्रयोग करें।

चरकाचार्य ने ग्रहणी दोष चिकित्साध्याय में साममल की चिकित्सा के कई योग व कई अवस्थाओं का वर्णन किया है। साममल के साथ उदरशूल, वातकफजन्य ग्रहणी में मल की सामता, या पित्तकफजन्य ग्रहणी में मल की सामता रहने पर किन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये उसका वर्णन यथास्थल देखें।

## ४. वातज ग्रहणी चिकित्सा–

**ज्ञात्वा तु परिपक्वामं मारुतग्रहणीगदम्।**
**दीपनीययुतं सर्पिः पाययेताल्पशो भिषक्॥** च. चि. १५/७७

(आमपाचन चिकित्सा में) आमपाचन हुआ ऐसा जानकर वैद्य ने वातज ग्रहणी में दीपनीय द्रव्यों से सिद्ध घृत या दीपनीय द्रव्यों से मिश्रित घृत का पान कराना चाहिये।

दीपनीययुतमिति षड्विरेचनशताश्रितीयोक्तदीपनीयगणसाधितम्। इति चक्रपाणि अर्थात् 'दीपनीययुतं' से, षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय में वर्णित दीपनीय गण के द्रव्यों से सिद्ध, समझना चाहिये।

## ५. घृत प्रयोग–

**किंचित्सन्धुक्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम्।**
**द्व्यहं त्र्यहं वा संस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्तं निरुहयेत्॥**

च. चि. १५/७८

इस दीपनीय घृत प्रयोग से जब अग्नि थोड़ा सा प्रज्वलित होकर भी मल मूत्र अपान वायु की प्रवृत्ति उचित रूप में न होती हो तो दो तीन दिन तक घृतपान द्वारा स्नेहन स्वेदन करने के बाद शरीर में वातघ्न तैलो से स्नेहन तथा मर्दन कर निरुह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी सूत्र को दोहराया है।

## ६. विरेचन–

**तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा।**
**सक्षारेणानिलेशान्ते स्रस्तदोषं विरेचयेत्॥** च. चि. १५/७९

(निरुह के पश्चात्) जब वायु शांत हो जाय तथा दोष शिथिल हो जाय तब एरण्ड तैल अथवा तिल्वक घृत में क्षार मिलाकर उसे विरेचनार्थ प्रयोग करना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी को दोहराया है।

## ७. अनुवासन प्रयोग–

**शुद्धं रुक्षाशयं बद्धवर्चसं चानुवासयेत्।**
**दीपनीयाम्लवातघ्नसिद्धतैलेन मात्रया।।** च. चि. १५/८०

विरेचन से सम्यक् शोधन हुआ हो लेकिन कोष्ठ भी रुक्ष हो गया हो व मलबद्धता भी हो तो अनुवासन का प्रयोग करना चाहिये। यह अनुवासन दीपनीय द्रव्य, अम्लरस व वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध होनी चाहिये तथा उचित मात्रा में इसका प्रयोग करना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी सूत्र को दोहराया है।

## ८. घृत प्रयोग–

**निरुढं च विरिक्तं च सम्यक् चैवानुवासितम्।**
**लघ्वन्नं प्रतिसंभुक्तं सर्पिरभ्यासयेत पुनः।।** च. चि. १५/८१

इस प्रकार निरुह, विरेचन व अनुवासन के पश्चात् वातज ग्रहणी से पीड़ित रोगी में लघु अन्न का भोजन कराएं। साथ साथ घृतपान का भी पुन: अभ्यास कराएं।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी सूत्र को दोहराया है। संक्षेप से वातज ग्रहणी में सर्वप्रथम आमपाचन कराकर तत्पश्चात दीपनीय द्रव्यों से सिद्ध घृत सेवन कराएं। इस घृत प्रयोग से अग्नि कुछ दीप्त हो जाता है लेकिन मलमूत्र व अपान की प्रवृत्ति सही ढंग से नहीं होती है तो और दो-तीन दिन स्नेहनार्थ घृतपान कराएं व स्वेदन का प्रयोग करें। तत्पश्चात् वातघ्न तैल से मर्दन कर निरुह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। निरुह बस्ति से जब वायु शान्त हो जाय व अन्य दोष शिथिल हो जाय तब विरेचन देना चाहिये। विरेचन से यदि कोष्ठ में रुक्षता हो तथा मलबद्धता हो तो अनुवासन का प्रयोग करना चाहिये। तत्पश्चात लघु अन्न से भोजन कराते हुए पुनश्च घृतपान कराना चाहिये।

## ९. पित्तज ग्रहणी चिकित्सा–

**स्वस्थानगतमुक्लिष्टमग्निनिर्वापकं भिषक्।**
**पित्तंज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद्वमनेन वा।।** च. चि. १५/१२२

पित्त स्वस्थानगत हो, उसमें उत्क्लेश हो रहा हो तथा बढ़ा हुआ पित्त जठराग्नि

को नष्ट कर रहा हो तो पित्तज ग्रहणी में पित्त का विरेचन तथा वमन द्वारा निष्कासन करना चाहिये।

पित्त का शोधन यह विरेचन का कार्य है। लेकिन यहां विरेचन के साथ साथ वमन का भी उल्लेख है। यहां वमन से ऊर्ध्वग पित्त का शोधन अपेक्षित है। चक्रपाणि ने कहा भी है, वमनेन वेत्यूर्ध्वगपित्तापेक्षया ज्ञेयम्। इसी सूत्र को अष्टाङ्ग हृदयकार ने दोहराया है और अरुणदत्त ने चक्रपाणि की टीका को दोहराया है। सुश्रुताचार्य ने ग्रहणी पित्तोल्वण होने से मृदु विरेचन का प्रयोग करने को कहा है।

## १०. पित्तज ग्रहणी में आहार व औषधी–

**अविदाहि भिरन्नैश्च लघुभिस्तिक्तसंयुतैः।**
**जाङ्गलानां रसैर्यूषैर्मुद्गादीनां खडैरपि॥**
**दाडिमाम्लैः ससर्पिष्कैर्दीपनग्राहि संयुतैः।**
**तस्याग्निं दीपयेच्चूर्णैः सर्पिर्भिश्चापि तिक्तकैः॥**

(पित्तज ग्रहणी में विरेचन अथवा वमन के पश्चात्) अविदाही तथा लघु अन्न से निर्मित आहार में तिक्त रस प्रधान द्रव्यों को मिलाकर जांगल पशुपक्षियों के मांसरस से अथवा मूंग आदि के यूष या खडयूष से भोजन करना चाहिये। अथवा दीपन व ग्राही औषधियों को घृत तथा खट्टे अनार के रस में मिलाकर उपरिनिर्दिष्ट आहार में मिलाकर भोजन करना चाहिये। अथवा दीपनीय द्रव्यों से निर्मित चूर्ण या तिक्तघृत से अग्निसंधुक्षण करना चाहिये।

## ११. कफज ग्रहणी चिकित्सा–

**ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां वमितस्य यथाविधि।**
**कट्वम्ललवणक्षारैस्तिक्तैश्चाग्निं विवर्धयेत्॥**

च. चि. १५/१४१

श्लेष्मज ग्रहणी में यथाविधि वमन कराना चाहिये। तत्पश्चात कटु, अम्ल, लवण क्षार एवं तिक्त द्रव्यों का प्रयोग कर अग्नि प्रदीप्त करना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने तीक्ष्ण वमन देकर कटु अम्ल लवण क्षार के (क्रमबद्ध) प्रयोग से धीरे धीरे अग्नि प्रदीप्त करना चाहिये ऐसा कहा है।

## १२. त्रिदोषज ग्रहणी–

**त्रिदोषे विधिविद्वैद्यः पञ्चकर्माणि कारयेत्।**
**घृतक्षारासवारिष्टान् दद्याचाग्निविवर्धनान्॥** च. चि. १५/१९४

त्रिदोषज ग्रहणी में पंचकर्म की विधि जाननेवाले वैद्य ने विधिपूर्वक पंचकर्म का प्रयोग करना चाहिये। तत्पश्चात अग्निवर्धन के लिये घृत क्षार आसव तथा अरिष्ट का प्रयोग करना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी, 'निचये पञ्चकर्माणि युञ्ज्याच्चैतद्यथाबलम्' कहते हुए चरकाचार्य का अनुमोदन किया है।

**१३. क्रिया या चानिलादीनां निर्दिष्टा ग्रहणीं प्रति।**
**व्यत्यासात्तां समस्तां वा कुर्याद्दोषविशेषवित्।।**

ग्रहणी चिकित्सा दोषानुसार अलग अलग बतायी गई है। उन चिकित्साओं को क्रम से एक के बाद एक अथवा सभी को मिलाकर करनी चाहिये। यह कार्य दोष विशेष का ज्ञान रखने वाला वैद्य ही कर सकता है।

## १४. ग्रहणी नाशक विविध प्रयोग/ संक्षेप में ग्रहणी चिकित्सा—

**स्नेहनं स्वेदनं शुद्धिर्लङ्घनं दीपनं च यत्।**
**चूर्णानिलवणक्षारमध्वरिष्टसुरासवाः ।।**
**विविधास्तक्रयोगाश्च दीपनानां च सर्पिषाम्।**
**ग्रहणी रोगिभिः सेव्याः............. ।।**

च. चि. १५/१९६-१९७

स्नेहन, स्वेदन, शोधन (वमन, विरेचनादि), लंघन, दीपन, विविध प्रकार के चूर्ण, लवण, क्षार, मध्वारिष्ट, सुरासव, विविध प्रकार के तक्र योग तथा दीपनीय घृतों का प्रयोग ग्रहणी रोग से पीड़ित रोगी के लिये करना चाहिये।

## १५. अवस्थानुसार ग्रहणी चिकित्सा—

**ष्ठीवनं श्लैष्मिके रुक्षं दीपनम् तिक्तसंयुतम्।**
**सकृद्रूक्षं सकृस्निग्धं कृशे बहुकफे हितम्।**
**परीक्ष्यामं शरीरस्य दीपनं स्नेहसंयुतम्।।**

च. चि. १५/१९८-१९९

१. श्लैष्मिक ग्रहणी में रुक्ष, दीपन तथा तिक्तद्रव्यों का क्वाथ बनाकर कवल धारण कर उसे थूकना चाहिये।

२. यदि कफ की मात्रा बढ़ी हो व रोगी कृश हो तो रुक्ष तथा स्निग्ध द्रव्यों का क्रम से एक के बाद एक प्रयोग करना चाहिये।

३. शरीर में आमावस्था की परीक्षा करने के बाद स्नेह संयुत अर्थात स्नेह मिलाये हुए दीपनीय द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।

कफज ग्रहणी व कृश रोगी यह अवस्था चिकित्सा के लिये कष्टसाध्य होती है। यदि कफ की अधिकता को देखकर रुक्ष द्रव्यों का प्रयोग किया तो रोगी की बलाहानि होती है व रोगी के बल को बढ़ाने के लिये स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग किया तो पहले से ही प्रकुपित कफ और बढ़ने का भय रहता है। इसलिये व्यत्यास में रुक्ष तथा स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करने के लिये कहा है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी को दोहराया है। उन्होंने क्षीण शुष्क शरीरवाले रोगी में स्नेहयुक्त दीपन औषधी का प्रयोग करने को कहा है।

**१६. दीपनं बहुपित्तस्य तिक्तं मधुरसंयुतम्।**
**बहुवातस्य तु स्नेहलवणाम्ल हुतं हितम्।।** च. चि. १५/२००
**सन्धुक्षति तथा वन्हिरेषां विधिवदिन्धनैः।**

१. पित्तप्रधान ग्रहणी विकार में तिक्त मधुर रस युक्त दीपन औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

२. वातप्रधान ग्रहणी में स्निग्ध लवण एवं अम्ल रसों से युक्त दीपन औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इन उपर्युक्त औषधियों का विधिपूर्वक सेवन अग्निवर्धक होता है।

चक्रपाणि ने "स्नेहलवणाम्लयुतमिति दीपनमित्यर्थः" ऐसा कहा है।

## १७. ग्रहणी में घृत प्रयोग–

**स्नेहमेवपरंविद्याद् दुर्बलानलदीपनम्।**
**नालं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि।।** च. चि. १५/२०

दुर्बल अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये स्नेह ही उत्तम औषधी है। स्नेह से जठराग्नि प्रज्वलित हो जाने पर किसी भी प्रकार के गुरु अन्न का सेवन उसे शान्त नहीं कर सकता।

इस सूत्र में अग्नि दीपन के लिये स्नेह का श्रेष्ठत्व वर्णन किया है। यहां स्नेह से घृत का व घृत से गोघृत का ग्रहण करना चाहिये। इसी सूत्र को अष्टाङ्ग हृदयकार ने दोहराया है।

## १८. घृत का कार्यकारित्व–

**तया समानः पवनः प्रसन्नोमार्गमास्थितः।**
**अग्नेः समीपचारित्वादाशुप्रकुरुते बलम्।।** च. चि. १५/२०३

इससे (मात्रापूर्वक घृतपान से) समान वायु प्रसन्न अर्थात् पूर्ण रूप से

प्राकृतावस्था में आकर अपने मार्ग में चली आती है। समान वायु अग्नि के समीप ही रहती है इसलिये अग्नि को तत्काल बलवान बनाती है।

अन्न का ग्रहण, पाचन तथा विवेचन यह समान वायु के कार्य है। इसलिये इस वायु के कर्म प्राकृत होना ग्रहणी रोग में परमावश्यक है। ग्रहणी में समान वायु की विकृति हो जाने से ही अग्नि मन्द होती है। इसलिये इस अवस्था में समान वायु को प्राकृतावस्था में लाना ही अग्निमांद्य की चिकित्सा है।

### १९. साममलप्रवृत्ति में दीपनीय घृत–

**मन्दाग्निरविपक्वं तु पुरीषं योतिसार्यते।**
**दीपनीयौषधैर्युक्तां घृतमात्रां पिबेत्तुसः॥** च. चि. १५/२०२

जो ग्रहणी रोगी अग्नि मंद होने के कारण अपक्व मल का अतिसरण करता हो उसे दीपनीय औषधों से सिद्ध घृत का मात्रानुसार सेवन कराना चाहिये।

इस सूत्र को और स्पष्ट करते हुए चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि अविपक्व शब्द पुरीष से संबंधित है न कि आमरस से। रसधातू की सामावस्था में स्नेह निषिद्ध है। वैसे ही यदि पुरीष की अपक्वावस्था स्नेहपानजन्य हो तो भी स्नेहपान निषिद्ध है। इस अवस्था में प्रयुक्त घृत दीपनीय द्रव्यों से सिद्ध है इसलिये अविपक्व पुरीष मे उपयोगी है, तथा स्नेह भी वायु द्वारा अग्निसंधुक्षण में सहायभूत होता है।

### २०. ग्रहणी में मलविबन्ध–

**काठिन्याद्यः पुरीषं तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः।**
**सघृतं लवणैर्युक्तं नरोऽन्नावग्रहं पिबेत्॥** च. चि. १५/२०४

जिस ग्रहणी रोगी का मल कठिन होने के कारण बड़ी कठिनता से निकल रहा हो तो उसे घृत में नमक मिलाकर भोजन के मध्य में देना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी को दोहराया है।

### २१. ग्रहणी में मंदाग्नि--

**रौक्ष्यान्मन्दे पिबेत्सर्पिस्तैलं वा दीपनैर्युतम्।**
**अतिस्नेहाश्च मन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवहिताः॥**
**भिन्ने गुदोपलेपात्तु मले तैल सुरासवाः।**
**उदावर्तात्तु मन्देऽग्नौ निरुहाः स्नेहबस्तयः॥**
**दोषवृद्ध्यातु मन्देऽग्नौ शुद्धो दोषविधिंचरेत्।**
**व्याधियुक्तस्य मन्देतु सर्पिरेवाग्निदीपनम्॥**

**उपवासाच्च मन्देऽग्नौ यवागुभिः पिबेद्घृतम् ।**
**अन्नावपीडितं बल्यं दीपनं बृंहणम् च तत् ।।**

च. चि. १५/२०५-२०८

१. अग्नि मंद होने का कारण यदि आतों की रुक्षता हो तो दीपन औषधियों से सिद्ध घृत और तैल अथवा घृत या तैल में दीपन औषधियों के चूर्ण को मिलाकर पीना चाहिये ।

२. अग्नि मंद होने का कारण यदि स्निग्ध पदार्थों का अत्यधिक सेवन हो तो चूर्ण अरिष्ट तथा आसव हितकर होते है ।

३. यदि मल गुदा में लिप्त हो व प्रतला होकर निकलता हो तो तैल, सुरा, आसव का प्रयोग करना चाहिये ।

४. यदि अग्नि मंद होने का कारण उदावर्त हो तो निरुह व अनुवासन का प्रयोग करना चाहिये ।

५. अग्नि मंद होने का कारण यदि वृद्ध दोष हो तो वमन विरेचन द्वारा शरीर की शुद्धि कर वृद्ध दोष की यथाविधि चिकित्सा करें ।

६. रोग मुक्त होने पर भी यदि अग्निमंद हो तो अग्नि दीपन के लिये घृत सेवन करना चाहिये ।

७. मंदाग्नि का कारण यदि उपवास हो तो मंड पेया विलेपी आदि में घृत सेवन करना चाहिये ।

अन्न में अवपीडित घृत बलवर्धक अग्निदीपक और बृंहण होता है ।

## २२. भस्मक रोग चिकित्सा–

**तमत्यग्निंगुरुस्निग्धशीतैर्मधुरविज्जलैः ।**
**अन्नपानैर्नयेच्छान्ति दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः ।।**
**मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत् ।**
**निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत् ।।**

च. चि. १५/२२१-२२

बढ़े हुए अग्नि की शान्ति जिस प्रकार जल के द्वारा शीघ्र ही होती हे उसी प्रकार जठराग्नि के अत्यन्त तीव्र हो जाने पर गुरु, स्निग्ध, शीतल, मधुर और विज्जल अन्नापान के द्वारा शीघ्र ही उसकी शान्ति होती है । गुरु, स्निग्ध अन्नपान से अजीर्ण हो जाय तो भी उस रोगी को बारबार भोजन देना चाहिये जिससे इंधन (भोजन) के न रहने से वह तीव्र जठराग्नि रोगी को मार न डाले ।

# अर्श

## १. शुष्कार्श में स्वेदन–

**स्तब्धानि स्वेदयेत् पूर्वं शोफशूलान्वितानि च ।।** च. चि. १४/३९

जो अर्श शोफ और शूल से युक्त हो व जो जकड़ाहट युक्त हो उस अर्श में सर्वप्रथम स्वेदन करना चाहिये ।

आगे चरकाचार्य ने शुष्कार्श में पिंडस्वेद व पोट्टली स्वेद के अनेक योग बताये है । उसे यथास्थल देखें । अष्टाङ्ग हृदयकार ने अर्श के चिकित्सा की शुरुआत क्षारकर्म व अग्निकर्म से की है । व कफवातज अर्श में द्रवस्वेद व पोट्टली स्वेद का प्रयोग करने को कहा है ।

## २. अर्श में अवगाह–

**बिल्वक्वाथेऽथवा तक्रे दधिमण्डाम्लकाञ्जिके ।**
**गोमूत्रे वा सुखोष्णे तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ।।**
च. वि. १४/४७

बेल का क्वाथ, तक्र, दधिमंड, खट्टी कांजी अथवा गरम गोमूत्र में पहले स्नेहन कर तत्पश्चात् अवगाहन करें ।

## ३. अर्श में पाचक चूर्ण प्रयोग–

**पाचनं पाययेद्वा तद्यदुक्तं ह्यातिसारिके ।**
**सगुडामभया वाऽपि प्राशयेत् पौर्वभक्तिकीम् ।।** च. चि. १४/६५

जिन पाचन चूर्णों का अतिसार में प्रयोग किया है उन्हीं चूर्णों का प्रयोग अर्श में भी करना चाहिये । अथवा भोजन के पूर्व गुड और हरीतकी का सेवन करना चाहिये ।

इन पाचन चूर्णों का उपयोग मुख्यतः मंदाग्नि को दूर करने में होता है ।

## ४. अर्श में तक्रसेवन–

**वातश्लेष्मार्शसां तक्रात् परं नास्तीह भेषजम् ।**
**तत् प्रयोज्यं यथा दोषं सस्नेहं रुक्षमेव वा ।।** च. चि. १५/७७
**सप्ताहं वा दशाहं वा पक्षं मासमथापि वा ।**
**बलकालविशेषज्ञो भिषक् तक्रं प्रयोजयेत् ।।** च. चि. १४/७८

वातकफ अर्श में तक्र से श्रेष्ठ और कोई औषधी नहीं है । उस तक्र का प्रयोग

दोषानुरूप स्नेह सहित या स्नेहविरहित करना चाहिये। बल और काल के विशेषज्ञ वैद्यने सात, दस या पंद्रह दिन तक अथवा एक मास तक इसका प्रयोग करना चाहिये।

तक्र प्रयोग के विषय में चरकाचार्य ने विस्तार से वर्णन किया है। जैसे जिन अर्श रोगियों की जठराग्नि अत्यन्त मृदु हो गयी हो उनमें तक्र का प्रयोग करना चाहिये। तक्र प्रयोग धीरे धीरे बढ़ाए व धीरे धीरे कम करे। उसे अचानक बंद नहीं करना चाहिये। दोष व जाठराग्नि के बल को जानने वाले वैद्य ने रुक्ष तक्र, आधा मख्खन निकाला हुआ तक्र व बिलकुल मख्खन नहीं निकाला है ऐसा तक्र इन तीन प्रकार के तक्रों का प्रयोग करने को कहा है।

## ५. शुष्कार्श में अनुवासन–

**उदावर्तपरीता ये ये चात्यर्थं विरुक्षिताः ।**
**विलोमवाताः शूलार्तास्तेष्विष्टमनुवासनम् ।।** च. चि. १४/१३०

उदावर्त से पीड़ित अत्यन्त रुक्ष शरीरवाले, जिसकी वायु मूढ़ हो गयी हो और जो शूल से पीड़ित हो ऐसे शुष्कार्श के रोगी में अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

यहां चार अवस्था मुख्य रूप से बतायी है। उदावर्त का होना, वायु विलोम गति को प्राप्त होना, शूल का होना व शरीर रुक्ष होना। इन अवस्थाओं में अलग अलग अथवा एकत्रित अनुवासन बस्ति का प्रयोग किया जा सकता है। अन्य कोई अवस्थाविशेष न हो तो चरकाचार्य ने निरुह बस्ति का प्रयोग बताया है।

## ६. रक्तार्श चिकित्सा–

**स्निग्धशीतं हितं वाते रुक्षशीतं कफानुगे ।**
**चिकित्सितमिदं तस्मात् संप्रधार्य प्रयोजयेत् ।।** च. चि. १४/१७५

रक्तार्श में वात का अनुबन्ध होने पर स्निग्ध और शीतल आहार विहार तथा औषध द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। यदि कफ का अनुबन्ध हो तो रुक्ष और शीतल आहार विहार तथा औषधों का प्रयोग हितकर होता है। इस चिकित्सा सूत्र को ध्यान में रखते हुए चिकित्सा करनी चाहिये।

## ७. रक्तार्श में पित्तकफाधिक्य–

**पित्तश्लेष्माधिकंमत्वा शोधनेनोपपादयेत् ।**
**स्रवणं चाप्युपेक्षेत लङ्घनैर्वा समाचरेत् ।।** च. चि. १४/१७६

**प्रवृत्तमादावर्शोभ्यो यो निगृण्हात्यबुद्धिमान् ।**
**शोणितं दोषमनिलं तद्रोगाञ्जनयेद् बहून् ।।** च. चि. १४/१७७

रक्तार्श में पित्त व कफ की अधिकता होने पर शोधन (वमन, विरेचन) करना चाहिये । यदि अर्श से रक्तस्राव हो रहा हो तो उसकी उपेक्षा करे या लङ्घन द्वारा चिकित्सा करें । जो मूर्ख वैद्य अर्श से निकलने वाले रक्त, दोष व वायु को रोक देता है उस रोगी में इस कारण बहुत से रोग उत्पन्न होते है ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इस सूत्र को और सरल बनाया है । उन्होंने रक्तार्श में रक्त दुष्ट व रोगी बलवान रहने पर शोधन तथा दुर्बल रोगी में लंघन का प्रयोग बताया है । वैसे ही दोषों के कारण जब तक अशुद्ध रक्त का स्राव हो रहा हो तब तक स्तंभन का निषेध बताया है ।

**दुष्टेऽस्त्रे शोधनं कार्यं लङ्घनं च यथाबलम् ।**
**यावच्य दोषैः कालुष्यं स्रुतेस्त्रावदुपेक्षणम् ।।** अ.हृ.चि.८/९८

यहां चिकित्सा की दृष्टि से एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि जब तक रक्त अशुद्ध व उसका स्राव रोगी के लिये घातक न हो तब तक ही स्राव होने देना चाहिये । अन्यथा उसे तुरंत रोकने के लिये प्रयास करने चाहिए ।

### ८. रक्तस्तंभन–

**अग्निसंदीपानार्थं च रक्तसंग्रहणाय च ।**
**दोषाणां पाचनार्थं च परं तिक्तैरूपाचरेत् ।।** च. चि. १४/१८२

रक्तार्श में जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए, रक्तस्राव को बंद करने के लिए तथा दोषपाचनार्थ तिक्त द्रव्यों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए ।

रक्तार्श में दुष्ट, रक्त निकल जाने पर ही रक्तस्राव को रोका जाना चाहिये । इसलिये तिक्त द्रव्यों का प्रयोग बताया है ।

### ९. अर्श में स्नेह प्रयोग–

**यत्तुप्रक्षीण दोषस्य रक्तं वातोल्बणस्य च ।**
**वर्तते स्नेहसाध्यं तत् पानाभ्यङ्गानुवासनैः ।।** च. चि. १४/१८३

जिन क्षीण दोषवाले वातप्रधान व्यक्तियों में अर्श से रक्तस्राव हो रहा हो तब स्नेह के प्रयोग से अर्थात् स्नेहपान, अभ्यङ्ग व अनुवासन बस्ति द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए ।

इस सूत्र में चरकाचार्य ने वात की प्रधानता अन्य दोष क्षीण होने की अवस्था

में घृत/स्नेह का प्रयोग बताया है। चरकमतानुसार अर्श में वात की प्रधानता होती है। रक्तस्राव के कारण भी वातप्रकोप ही होता है। कफ पित्त के अधिक मात्रा में दूषित होने पर भी वात का प्रकोप होता है।

**प्रायेण वातबहुलान्यर्शांसि भवन्त्यतिसृते रक्ते।**
**दुष्टेऽपि च कफपित्ते तस्मादनिलोऽधिकोज्ञेयः।।** च. चि. १४/२१२

## १०. रक्तस्राव न रुकने पर–

**आभिः क्रियाभिरथवा शीताभिर्यस्य तिष्ठन्ति न रक्तम्।**
**तं काले स्निग्धोष्णैर्मांसरसैस्तर्पयेन्मतिमान्।।**

च. चि. १४/२२२

**अवपीडकसर्पिर्भिः कोष्णैर्घृततैलिकैस्तथाऽभ्यङ्गैः।**
**क्षीरघृततैलसेकैः कोष्णैस्तमुपाचरेदाशु।।**

च. चि. १४/२२३

**कोष्णेन वातप्रबले घृतमण्डेनानुवासयेच्छीघ्रम्।**
**पिच्छाबस्तिं दद्यात् काले तस्याथवासिद्धम्।।**

च. चि. १४/२२४

पूर्व वर्णित चिकित्सा कर्मों द्वारा अथवा शीतल क्रियाओं द्वारा यदि रक्तस्राव न रुक रहा हो तो बुद्धिमान वैद्य ने उचित समय पर स्निग्ध एवं उष्ण मांस रसों द्वारा रोगी का तर्पण करना चाहिये। अवपीडक घृत, कवोष्ण घृत, तैलाभ्यङ्ग, गरम दूध, घृत या तैल से परिसेचन द्वारा रक्तस्राव बंद करने के लिए शीघ्र उपाय करने चाहिए। वातप्रधान रक्तार्श में कोष्ण घृतमंड से शीघ्र अनुवासन बस्ति अथवा उचित समय पर पिच्छाबस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

अवपीडक घृत के दो अर्थ है। एक, भोजन के पश्चात् घृतपान व दूसरा अधिक मात्रा में घृतपान। इस सूत्र के संदर्भ में भोजनोत्तर घृतपान ज्यादा संयुक्तिक लगता है।

## ११. अर्श में व्यत्यास कर्म–

**व्यत्यासान्मधुराम्लानि शीतोष्णानि च योजयेत्।**
**नित्यमग्निबलापेक्षी जयत्यर्शः कृतान् गदान्।।**

च. चि. १४/२४३

अर्श पीड़ित रोगी में अग्निबल को देखकर बारीबारी से मधुर अम्ल व शीत

उष्ण द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए । इससे अर्श सम्बन्धी सर्व विकार शान्त हो जाते है ।

अर्श चिकित्सा में मधुर व अम्ल इन दो रसों का व उष्ण व शीत इन दो गुणों का महत्व चरकाचार्य ने बताया है । यह आत्ययिक चिकित्सा में कम व दीर्घकाल चिकित्सा में ज्यादा उपयोगी प्रतीत होता है ।

## १२. तीन विकारों का परस्पर संबंध–

**त्रयोविकारा: प्रायेण ये परस्पर हेतवः ।**
**अर्शांसिचातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च ।।** च. चि. १४/२४४
**एषामग्निबलेहीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः ।**
**तस्मादग्निबलं रक्ष्यमेषु त्रिषु विशेषतः ।।** च. चि. १४/२४५

प्राय: अर्श, अतिसार और ग्रहणी ये तीन रोग परस्पर एक दूसरे के हेतु होते है । अग्निबल का नाश होने पर यह उत्पन्न होते है और जठराग्नि बढ़ी हुई रहने पर यह अपने आप नष्ट हो जाते है । इसलिये इन तीनों रोगों में जठराग्नि की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए ।

●

## नवमोऽध्यायः

# रसवह स्त्रोतस

## ज्वर

### १. संतत ज्वर चिकित्सा–

**इति बुद्ध्वा ज्वरं वैद्य उपक्रामेत्तु सन्ततम् ।**
**क्रियाक्रमविधौयुक्तः प्रायः प्रागपतर्पणैः ।।** च. चि. ३/६०

इस प्रकार सन्तत ज्वर के लक्षण व कारणों को जानकर प्राय: अपतर्पण द्वारा इसकी चिकित्सा करें ।

सन्तत ज्वर की उत्पत्ति सन्निपात से होती है । चरकाचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि इस ज्वर में उपशय मिलने का कोई निश्चित समय नहीं होता । यह दीर्घकाल तक चलनेवाला ज्वर है । इस ज्वर में दोष, धातु व मलों की दुष्टि समान नहीं होती । इनमें से कुछ दोष या धातु या मल शुद्ध होते है व कुछ अशुद्ध, इसलिये इन्हें समझना बहुत आवश्यक होता है । इस सूत्र में अपतर्पण से लंघन का ग्रहण करना चाहिये ।

### २. लंघन से लाभ–

**लङ्घनेन क्षयं नीते दोषे संधुक्षितेऽनले ।**
**विज्वरत्वं लघुत्वं च क्षुच्चेवास्योपजायते ।।** च. चि. ३/१४०

लंघन करने से वृद्ध दोषों का क्षय होता हैं व जठराग्नि प्रदीप्त होकर ज्वर का नाश होता है शरीर हलका होता है व भूख भी लगती है ।

सुश्रुताचार्य ने लंघन के गुण इस प्रकार बताये है,

**अनवस्थितदोषाग्नेर्लङ्घनं दोषपाचनम् ।**
**ज्वरघ्नं दीपनं काङ्क्षा रुचिलाघवकारकम् ।।**

अर्थात् जिसके दोष व अग्नि अनवस्थित अर्थात् अव्यवस्थित हो उसे लंघन कराने से आमदोषों का पाचन होता है । लंघन ज्वरनाशक एवं अग्नि दीपक भी है तथा भोजन में इच्छा व रुचि उत्पन्न करता है एवं शरीर में लाघव भी उत्पन्न करता है ।

अष्टांग हृदयकार ने भी लंघन के गुणो का सुंदर वर्णन किया है ।

**लङ्घनैः क्षपिते दोषे दीप्तेऽग्नौ लाघवे सति ।**
**स्वास्थ्यं क्षुतृड् रुचिः पक्तिर्बलमोजश्च जायते ।।** अ. हृ. चि. १

अर्थात् लंघन से दोष क्षीण, अग्निप्रदीप्त व शरीर हलका होने पर स्वास्थ्य क्षुधा, तृषा, रुचि, पचनशक्ति, बल व ओज उत्पन्न होते है ।

अष्टाङ्ग संग्रहकार ने लंघन से ज्वर की प्रथमावस्था में संप्राप्ति भंग कैसे होता है इसका वर्णन करते हुए कहा है,

**आमाशयस्थोहत्वाग्निं सामो मार्गान्पिधापयन् ।**
**विदधातिज्वरं दोषस्तस्मात्कुर्वीत लंघनम् ।।** अ.सं.चि.१/१

अर्थात् आमाशयस्थ साम दोष जठराग्नि को मंद करके स्रोतो को ढककर अर्थात् स्रोतोरोध उत्पन्न कर ज्वर निर्माण करते है । इसलिये ज्वर में सर्वप्रथम लंघन का प्रयोग करना चाहिये ।

### ३. ज्वर में आमदोष पाचन के साधन–

**लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः ।**
**पाचनान्य विपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे ।।** च. चि. ३/१४२

तरुण अर्थात् आमज्वर में आमपाचन के लिये लंघन, स्वेदन, काल या समय (आंठवा दिन), व तिक्तरस युक्त यवागू का प्रयोग उपयोगी होते है ।

इस सूत्र पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि 'काल' शब्द से आंठवे दिन का या आठ दिन का ग्रहण करना चाहिये । काल इति अष्टहः । तिक्त रस से यवागू या जल के संस्कार के लिये तिक्त रस का प्रयोग अपेक्षित है न कि स्वतंत्र औषधी के रूप में । क्योंकि तरुण ज्वर में स्वतंत्र भेषज प्रयोग निषिद्ध है । तिक्त को रसोऽत्र यवागूपानीयादिसंस्कारकत्वेन ज्ञेयः, स्वतंत्र भेषजप्रयोगस्तरुणे निषिद्ध एव । आगे वो कहते है कि अविपक्व दोषों का तरुण ज्वर के साथ उल्लेख यह दर्शाता है आठ दिन के बाद भी यदि दोषों का पाचन नहीं हुआ तो कषाय के प्रयोग से पाचन कराना चाहिये न कि लंघन से । 'अविपक्वानां दोषाणां' इति कृत्वापि 'तरुणे ज्वरे' यत् करोति, तेनाष्टाहादूर्ध्वमतरुणे ज्वरेऽपक्वेषु दोषेषु प्राधान्येन कषायपानं पाचनमधिकृतं, न लङ्घनादय इति दर्शयति ।

'यवाग्वः' यह यवागू का बहुवचन है । गंगाधर के मतानुसार 'यवाग्वः' से मंड, पेया व विलेपी इन तीनों का ग्रहण करना चाहिये । यह औषध सिद्ध होंना चाहिये । बिना औषधी के मंड पेया विलेपी का प्रयोग यहां अपेक्षित नहीं है । उन्होंने तिक्त रस का प्रयोग व्यंजन के साथ करने के लिये कहा है जो बाल व वृद्ध दोनों

के लिये नवज्वर में आमपाचनार्थ प्रयोग में लाया जा सकता है। यवाग्व: पेयामण्ड विलेपी चेति त्रिधाभिप्रायेण बहुवचनम्, ताश्चौषधसिद्धा एव न तु निरौषधा:। व्यञ्जनादिरुपेण प्रयोगे तिक्तको दोषपाचन इत्यर्थ:। सम्यग्लंघिते बालवृद्धादिषु च नवज्वरे व्यञ्जनोपयोगसंभवात्। गंगाधर

एक बार लंघन का वर्णन होने के बाद पुन: लंघन का उपदेश क्यों ? ऐसा प्रश्न उपस्थित कर जेज्जट ने कहा है कि यहां लंघन के पुनरुक्ति से पाचन का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि ज्वर आमाशय समुद्भव माना गया है। वैसे भी लंघन तीन प्रकार का बताया गया है, अनशन, पाचन व दोषविरेचन। पुनर्लङ्घनाभिधानं किम् ? अत्रब्रूम:। विमानस्थाने पाचनमग्रमुपदिष्टम्। ज्वरोह्यामाशयसमुत्थ: प्रायशो भेषजानि चामाशयसमुत्थानां पाचनादीन्येवोक्तानि तत्र च प्रधानं लंघनमेवावोचत्। ......अपि च त्रिविधं लंघनम् अनशनं, पाचनं, दोषावसेचनञ्चेति। जेज्जट

अष्टाङ्ग हृदयकार ने चरक मत का अनुमोदन किया है।

## ४. ज्वर में जल प्रयोग–

**तृष्यते सलिलं चोष्णं दद्याद्वातकफज्वरे।।** च. चि. ३/१४३
**मद्योत्थे पैत्तिके चाथ शीतलं तिक्तकै: श्रृतम्।**
**दीपनं पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयं हितत्।।** च. चि. ३/१४४
**स्त्रोतसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम्।**

वातकफज या वातज अथवा कफज ज्वर के रोगी को प्यास लगने पर उष्ण जल देना चाहिये। अति मद्यपान से उत्पन्न ज्वर या पित्तज्वर में तिक्त रस से सिद्ध शीतल जल देना चाहिये। यह दोनों प्रकार के जल दीपन, पाचन, ज्वरहर, स्त्रोत: शोधक, बल्य, रुचिकर, स्वेदकर तथा शिवम् अर्थात् ज्वर में लाभकारक होते है।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी ने कहा है कि यद्यपि यहां त्रिदोषज ज्वर का उल्लेख नहीं है तथापि विमान स्थान में दिये निर्देशानुसार उष्णजल का प्रयोग किया जा सकता है। इस सूत्र में आए 'तिक्त' शब्द से इसके बाद आने वाले श्लोक में वर्णित मुस्ता आदि का ग्रहण करना चाहिये।

गंगाधर के अनुसार उष्ण जल से उबालकर आधा किया हुआ व स्पर्श से उष्ण जल का ग्रहण करना चाहिये। वैसे ही मद्यपान से उत्पन्न ज्वर को उन्होंने पैत्तिक माना है लेकिन चक्रदत्त ने उसे कफज तथा पित्तज दोनों प्रकार से मानकर कफज में उष्ण जल का व पित्तज में शीत जल का प्रयोग करने को कहा है। जेज्जट ने पित्त के अतिवृद्धि की अवस्था को छोड़कर वातपित्तज तथा कफपित्तज ज्वर में उष्ण जल का ही प्रयोग करने के लिये कहा है।

सुश्रुत ने भी ज्वर में शीतल जल का निषेध करते हुए पित्तजन्य, मद्यजन्य व विषजन्य ज्वर में तिक्त द्रव्यों से सिद्ध जल शीतल करके पीने को कहा है। वैसे ही कफवात ज्वर में उष्ण जल का सेवन करने को कहा है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी मोटामोटी तौर पर इसी का अनुमोदन किया है तथा उष्ण जल निषेध में पित्तज, मद्यज तथा विषज ज्वर के साथ दाह, मोह, अतिसार युक्त ज्वर में, उरःक्षत, क्षय व रक्तपित्त में तथा ग्रीष्म ऋतु में उत्पन्न ज्वर का अंतर्भाव किया है।

## ५. ज्वर में वमन–

**कफप्रधानानु क्लिष्टान् दोषानामाशयस्थितान्।।** च. चि. ३/१४६
**बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत्।**

आमाशयस्थ दोषों में जब कफ की प्रधानता हो तथा वह उत्क्लिष्ट हो, आमाशय में स्थित हो तथा ज्वरकारक हो तो वमन के लिये योग्य रोगी में समय पर वमन द्वारा कफ का र्निहरण करना चाहिये।

इस सूत्र में ज्वर में वमन करने योग्य अवस्थाएं स्पष्ट रूप से बताई गयी है। एक तो आमाशयस्थ दोषों में कफ की प्रधानता चाहिये, दूसरा वह उक्लिष्ट अर्थात् बाहर निकलने के लिये तैयार चाहिये और वह आमाशय में स्थित होना चाहिये। वैसे तरुण ज्वर में वमन का निषेध है लेकिन वाग्भट के अनुसार यदि ज्वर भोजन के तुरंत बाद उत्पन्न हुआ हो, या साम ज्वर हो या संतर्पणोत्थ हो तो वमन देना चाहिये।

इस सूत्र पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि कहते है, उक्लिष्टानिति हृल्लासादिना बहिर्गमनोन्मुखान्। आमाशयस्थितानित्यनेन सर्व शरीरं परित्यज्यामाशयगमनं दर्शयति। अर्थात् उत्क्लिष्ट शब्द से हृल्लास आदि लक्षणों से बाहर आने के लिये तैयार दोष का ग्रहण करना चाहिये। वैसे ही 'आमाशय स्थित' शब्द से सर्व शरीर का परित्याग कर आमाशय में आया हुआ दोष, जो शोधन के लिये योग्य है, का ग्रहण करना चाहिये। आगे वे कहते है, अत्र च वमने स्वयमेवोत्क्लिष्टत्वाद् दोषस्य दोषोत्क्लेशप्रयोजनकौ स्नेहस्वेदौ न क्रियते, अल्पौ वा क्रियते। अर्थात् दोष उत्क्लिष्ट अवस्था में रहने के कारण स्नेहन स्वेदन की आवश्यकता नहीं रहती अथवा अल्प मात्रा में रहती है। योगेन्द्रनाथ सेन के मतानुसार कफवातज या कफपित्तज, जहां भी कफ की प्रधानता हो व दोष आमाशय में हो तो वमन का प्रयोग करना चाहिये। कफोतरत्वात् कफस्थानगतत्वाच्च वातपित्तयोर्वमनम्। योगेन्द्रनाथ

सुश्रुताचार्य ने 'आमाशयस्थे दोषे तु सोत्क्लेशे वमनं परम्।' ऐसा कहते हुए चरक मत का अनुमोदन किया है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने इस अवस्था का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा है,

**सद्योभुक्तस्य सञ्जाते ज्वरे सामे विशेषतः ।**
**वमनं वमनार्हस्य शस्तं कुर्यात्तदन्नथा ।।** अ. हृ. चि. १/५
**श्वासातीसार संमोह हृद्रोगविषमज्वरान् ।**

अर्थात् भोजनोत्तर तुरंत ज्वर आया हो, वह साम ज्वर हो व रोगी वमनार्ह हो तो उसे वमन देना चाहिये । इसके अतिरिक्त किसी अन्य अवस्था में वमन देने से श्वास, अतिसार, मूर्च्छा व हृत्पीड़ा उत्पन्न होती है तथा ज्वर विषमत्व को प्राप्त होता है ।

आगे उन्होंने अन्य चिकित्सा से लाभ न होने पर वमन का प्रयोग करने के लिये कहा है ।

**न शाम्यत्येवमपि चेज्ज्वरःकुर्वीत शोधनम् ।।**
**शोधनार्हस्य वमनं प्रागुक्तं तस्य योजयेत् ।**
**आमाशयगते दोषे बलिनः पालयन् बलम् ।।**

अ. हृ. चि. १/९९

यदि शमन चिकित्सा से ज्वर कम न होता हो व रोगी शोधनार्ह हो तो शोधन देना चाहिये । दोष आमाशय में हो व रोगी बलवान हो तो पूर्ववर्णित वमन का प्रयोग करें ।

### ६. वमनोत्तर यवागू प्रयोग–

**वमितं लङ्घितं काले यवागूभिरूपाचरेत् ।।** च. चि. ३/१४९
**यथास्वौषध सिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः ।**

वमन तथा लंघन के पश्चात् यथा समय यवागू, मण्ड आदि का प्रयोग करें । यह मण्ड, यवागू आदि दोषानुसार औषधी जल से सिद्ध होने चाहिये ।

चक्रपाणिदत्त कहते हैं कि 'वमितं लङ्घितं' से प्रथम वमन व तत्पश्चात लंघन करना चाहिये । अवस्थानुसार कभी वमन, कभी लंघन या कभी वमन व लंघन दोनों का प्रयोग किया जा सकता है । वमन के बाद भी यदि सम्यग शुद्धि न हुई हो तो शेष दोष पाचनार्थ लंघन का प्रयोग किया जाता है ।

'यथास्वौषधसिद्धाभि' से जिस यवागू के लिये जो औषध उचित हो अथवा जिस ज्वर मे जो औषधि का प्रयोग पाचन के लिये अपेक्षित हो उसका ग्रहण करना चाहिये । 'मण्डपूर्वाभिरिति' से मण्ड का प्रथम प्रयोग अपेक्षित है । तत्पश्चात पतली पेया का प्रयोग करना चाहिये ।

जेज्जट के अनुसार भी वमन और लंघन का प्रयोग आवश्यकतानुसार वमन व लंघन अथवा वमन या लंघन इस प्रकार करना चाहिये । अन्य विद्वानों के मतानुसार जिस दिन वमन दिया जाता है उसी दिन लंघन देना चाहिये ।

सुश्रुताचार्य ने भी वमन के बाद लङ्घन का उल्लेखकर तत्पश्चात् संसर्जन क्रम का प्रयोग करने को कहा है । कुर्य्यादनशनं तावत्ततः संसर्गमाचरेत् ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने वमन के बाद या पक्व दोष शिथिल होने पर अथवा विषज या मद्यज ज्वर में विरेचन का प्रयोग बताया है । तत्पश्चात् प्रथम मण्ड व तत्पश्चात् पेयादि क्रम से संसर्जन क्रम का पालन करना चाहिये ।

विरिक्तानां च संसर्गी मण्डपूर्वा यथाक्रमम् ।

इस सूत्र के बाद चरकाचार्य ने प्रयोग काल, यवागू से लाभ व यवागू प्रयोग के अपवादों का भी वर्णन किया है ।

## ७. ज्वरसमेत उर्ध्वग रक्तपित्त की चिकित्सा–

**तत्र तर्पणमेवाग्रे प्रयोज्यं लाजसक्तुभिः ।।** च. चि. ३/१५५
**ज्वरापहैः फलरसैर्युक्तं समधुशर्करम् ।**

यदि ज्वर में मुख से रक्त आता हो तो सर्वप्रथम ज्वरनाशक फलों के रस व धान के लावा के सत्तू में मधु और चीनी मिलाकर तर्पण का प्रयोग करना चाहिये ।

इस सूत्र के पूर्व सूत्र में यवागू प्रयोग के अपवादों का वर्णन किया है । उसमें रक्तपित्त के साथ मदात्यय से उत्पन्न ज्वर, मदात्यय में नित्य मदिरा पान से उत्पन्न ज्वर, ग्रीष्म ऋतु में उत्पन्न ज्वर तथा पित्तकफज ज्वर का उल्लेख है । इस सूत्र में तत्र शब्द से इन सभी अवस्थाओं का ग्रहण कर इनमें भी तर्पण का प्रयोग करना चाहिये । वैसे भी यवागू या पेया अधिक उष्ण रहने से पित्तप्रकोपक होती है और इसीलिये उपरिनिर्दिष्ट अवस्थाओं में वर्ज्य है ।

तर्पण शब्द की व्याख्या करते हुए चक्रपाणिदत्त कहते है, तर्पणं तोयपरिप्लुताः सक्तवः । अर्थात् पानी से पतले किये सत्तू को तर्पण कहते है । आगे वे कहते है, ज्वरापहानि फलानि द्राक्षादाडिमादीनि । वचनं हि–द्राक्षादाडिम खर्जूर प्रियालैः सपरुषकैः । तर्पणार्हेषु कर्तव्यं तर्पणं ज्वरनाशनम् । इति अर्थात् ज्वरनाशक फलों से द्राक्षादाडिम आदि का ग्रहण करना चाहिये । कहा भी है, द्राक्षा, दाडिम, प्रियाल, परूषक इनका प्रयोग तर्पण के लिये करना चाहिये । तर्पण से ज्वरनाश होता है ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी, ज्वरापहै फलरसैरद्भिर्वा लाजतर्पणम् । पिबेत्सशर्कराक्षौद्रं, कहते हुए चरकाचार्य का अनुमोदन किया है ।

८. **ततः सात्म्यबलापेक्षी भोजयेज्जीर्णतर्पणम् ।।** च. चि. ३/१५६
**तनुना मुद्गयूषेण जाङ्गलानां रसेन वा ।**

तत्पश्चात जब तर्पण का पूर्ण पाचन हो गया हो तब रोगी के सात्म्य व बल के अनुसार पतली मूग की यूष अथवा जांगल पशुपक्षियों के मांसरस के साथ चावल का भोजन करावे ।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणिदत्त ने कहा है, 'जीर्णं' तर्पणं यस्य तं जीर्णतर्पणम् । मुद्गयूषस्य जाङ्गलरसस्य च विकल्पः सात्म्यापेक्षो बलापेक्षश्च ज्ञेयः । दुर्बलो हि दुर्बलाग्निः प्रायो भवति, तस्य च मुद्गयूषो लघुत्वेन देयः, इतरस्य तु जाङ्गलो रसः । अर्थात् जीर्ण तर्पणं से तर्पण का पूर्ण पाचन अपेक्षित है । मुद्गयूष व जाङ्गलरस एकमेक के विकल्प के रूप में सात्म व बल का विचार कर प्रयोग में लाना चाहिये । दुर्बल रोगी की अग्नि प्रायः दुर्बल होती है अतः उसे मुद्गयूष ही देना चाहिये । अन्य रोगियों को जाङ्गल मांसरस दिया जा सकता है ।

### ९. ज्वर में कषाय–

**पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेभ्दिषक् ।।** च. चि. ३/१६०
**ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोंजितम् ।**

ज्वर के रोगियों ने छह दिन के बाद ज्वर और दोष के विपरीत हलका भोजन कराकर अपक्व दोष में पाचन व निराम दोष में शमन कषाय को पिलावे ।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणिदत्त ने कहा है, पाचनमिति आमदोषपाचनम् । शमनीयमिति पक्वदोषोपशमनम् । एवच्च विकल्पद्वयं योग्यतया यथाक्रममामदोष विषयं तथा पक्वदोषविषयम् ज्ञेयम् । षडहेऽतीते इति ज्वराहादारभ्य षडहेऽतिक्रान्ते, अतः सप्तमेऽहनि लघ्वन्नं मात्रयास्वरूपेण च यत्, तत्प्रतिभोजितं ज्वरितमष्टमेऽहनि कषायं पाययेदिति वाक्यार्थः । अर्थात् पाचन से आमदोषपाचन का व शमन से पक्वदोषशमन का ग्रहण करना चाहिये । आमपाचन के बाद ही पक्वदोषों का शमन करना चाहिये । यह दिन से ज्वरोत्पत्ति का छठवा दिन समझकर सातवें दिन लघु भोजन कराकर आठवें दिन कषायपान कराना चाहिये । वैसे भी आठवा दिन यह ज्वर के निरामावस्था का एक लक्षण है ।

जेज्जट के अनुसार जहां आम का पाचन आवश्यक है वहां पाचन व अन्यत्र शमन का प्रयोग करना चाहिये । यत्रापाकस्तत्र पाचनम्, इतरत्र शमनमिति । पाचन वहीं है जो अग्नि को वृद्ध करता है । यदि आमपाचन के पश्चात् भी ज्वर आ रहा है तो शमन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये । कुछ विद्वानों के मतानुसार पाचन व

शमन कफ तथा पित्तदोष के लिये उपयोगी है। लेकिन यह सही नहीं है। पाचन सभी दोषों के लिये उपयोगी है। वैसे ही 'षडहेऽतीते' का तात्पर्य पेया पिलाने के छह दिन बाद कषाय पिलाना चाहिये ऐसा उनका मानना है।

## १०. यवागू पान के बाद–

**यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जाङ्गलैर्वा रसैर्हितैः ।।** च. चि. ३/१६३
**दशाहं यावदश्नीयाल्लघ्वन्नं ज्वरशान्तये ।**

जांगल पशुपक्षियों के मांसरस अथवा जो हितकारी यूष है उसमें खट्टे अनार का रस मिलाकर या न मिलाकर यवागू पिलाने के बाद जब भोजनकाल उपस्थित हो तब ज्वरशान्ति के लिये खिलाना चाहिये।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणिदत्त ने कहा है, यदि, कफ प्रबलता बलवदग्निश्च तदा यूषैः, वातप्राबल्ये तु दुर्बलत्वे च रसैरिति व्यवस्था। अर्थात् कफ की प्रबलता हो व अग्नि बलवान हो तो यूष का व वायु प्रबल हो तथा रोगी दुर्बल हो तो मांसरस का प्रयोग करना चाहिये। आगे वे कहते है अम्लविकल्पोऽपि सात्म्यापेक्षयाऽग्न्यपेक्षया च ज्ञेयः। वक्ष्यति हि–'मन्दाग्नयेऽम्ल सात्म्याय तत्साम्लमपिकल्पयेत्' इति। अम्लं चात्र ज्वरघ्नं दाडिमाद्येव कार्यम्। लघ्विति मात्रालघु प्रकृति लघु च रक्तशाल्यादिकम्। अर्थात् अम्लता का सेवन सात्म्य व अग्नि की अपेक्षा करता है। इसलिये इन दो बातों को ध्यान में रखकर अनार का रस कितना खट्टा चाहिये यह निश्चित करना चाहिये। लघु अन्न से मात्रा में लघु व लघु गुण से युक्त अन्न समझना चाहिये।

अम्ल व अनम्ल पर टिप्पणी करते हुए जेज्जट ने कहा है, व्यवस्थित विकल्पोऽयम्। अम्लैर्वायौ, कफे (पुनरम्लैः), पित्तेऽपि पुनरनम्लैर्यावतोऽम्लस्य स्निग्धत्वात्। अर्थात्, वायु बलवान होने पर दाडिमादि अम्ल रस मिलाकर यूष का प्रयोग करना चाहिये। कफ अथवा पित्त का प्राधान्य रहने पर अम्ल रस का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

## ११. ज्वर में घृतपान–

**अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे ।।** च. चि. ३/१६४
**परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम् ।**

कफ के मंद होने पर या वात पित्त प्रधान ज्वर में दोष पक्व हो जाने पर दस दिन के बाद दोषानुसार औषध से सिद्ध किये हुए घृत का पान कराना चाहिये। यह घृत अमृत के समान लाभकारी होता है।

ज्वर चिकित्सा की शुरुवात ही लंघन से होती है। इसलिये कफ का क्षीण होना स्वाभाविक है। ज्वर के संताप से भी शरीर में रुक्षता बढ़ती है, धातुओं का शोषण होना प्रारंभ होता है व परिणामत: वात पित्त बढ़ते है। इसलिये घृतपान का प्रयोग बताया है। चक्रपाणिदत्त ने कहा भी है, दशाहादुत्तरं तु लङ्घनादिना कफ: क्षीणो भवति, ज्वर संतापेन च रुक्षेण धातु शोषणाच्च वातपित्ते वर्धते। वैसे ज्वर में पेया कषाय आदि क्रम से घृतपान की अवस्था चौबिस दिन बाद आती है। लेकिन इस सूत्र में दस दिन के पश्चात् यदि कफमंद व वातपित्त वृद्ध हो तो क्या करना चाहिये यह बताया है। यदि दस दिन बाद कफ मंद न हो तो घृतपान नहीं कराना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी कफ क्षीण व वातपित्त वृद्ध ऐसी ज्वर की अवस्था का वर्णन किया है और उसमें घृतपान बताया है।

**१२. यावल्लघुत्वादशनं दद्यान्मासरसेन च ।।** च. चि. ३/१६६
**बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणां, बलकृच्च तत् ।**

जब तक शरीर में हलकापन न आ जाय अर्थात् लंघन के लक्षण न दिखने लगे तब तक जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस का लघु अन्न के साथ सेवन करना चाहिये। इससे दोषों का बल नष्ट होता है और शरीर में बल की वृद्धि होती है।

## १३. ज्वर में दुग्धपान–

**दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम् ।।** च. चि. ३/१६७
**बद्धप्रच्युतदोषं वा निरामं पयसा जयेत् ।**

यदि वातपित्तप्रधान ज्वर में रोगी दाह व प्यास से पीड़ित हो अथवा रोगी दाह व प्यास से पीड़ित हो और उसके दोष रुके हो या अल्प मात्रा में निकलते हो और ज्वर निराम हो तो दूध का प्रयोग करना चाहिये।

चक्रपाणि कहते है, बद्ध प्रच्युतदोषं वेत्यत्र बद्धदोषत्वम् अप्रवर्तमानदोषत्वं, प्रच्युत दोषत्वं तु स्तोकेन प्रवर्तमान दोषत्वम्। तत्र क्षीरं तावद् यथा बद्धे प्रवर्तकं भवति, तथा प्रच्युतेऽपि सविबन्धदोषप्रवर्तकतयो पकारकं भवति, अतएव क्षीरगुणेषु– ''पुरीषे ग्रथिते पथ्यं'' तथा ''अतीसारे च पथ्यं'' (सू.अ. १) इत्युक्तम्। किंवा बद्धदोषे गव्यं क्षीरं सरत्वाद्देयं, प्रच्युते तु संग्राहित्वाच्छागं देयम्। चक्रपाणि

अर्थात् बद्ध दोष से अप्रवर्तमान दोष का व प्रच्युत दोष से प्रवर्तमान दोष का ग्रहण करना चाहिये। दूध स्वभावत: विबन्ध को दूर करने वाला है। इसलिये बद्ध दोष में वह प्रवर्तन कराता है व अल्पमात्रा में दोष निकलते हो तो भी दूध उपकारक है। सूत्रस्थान अध्याय एक में कहाँ भी है कि क्षीरपान ग्रथित पुरिष में तथा अतिसार

में भी पथ्य है। अथवा बद्ध दोष में गाय के दूध का व प्रच्युत दोष में बकरी के दूध का प्रयोग करना चाहिये। अष्टाङ्ग हृदयकार ने ज्वर की अन्यान्य अवस्थाओं में सिद्ध क्षीर के कई कल्पों का वर्णन किया है। उसे यथास्थल देखें।

## १४. ज्वर में विरेचन–

**क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदा ज्वरः ।।** च. चि. ३/१६८
**अक्षीणबलमांसाग्नेः शमयेत्तं विरेचनैः ।**

यदि पूर्ववर्णित चिकित्सा से ज्वर शान्त न हुआ हो और यदि रोगी का बल, मांस और अग्नि क्षीण न हुआ हो तो विरेचन द्वारा उस ज्वर को शान्त करना चाहिये।

इस सूत्र में विरेचनैः यह बहुवचनी उल्लेख है। चक्रपाणि ने इससे वमन व विरेचन दोनों का ग्रहण करना चाहिये ऐसा कहा है और उसके पुष्टि के लिये कल्पस्थान के श्लोक का आधार लिया है। विरेचनैरिति बहुवचनेन वमन विरेचने अपि गृह्यते; यदुक्तं–"उभयमपि दोषमलविरेचनाद्विरेचन शब्दं लभते" (क. अ. १) इति, तथा विरेचनयोगविवरणे वमन विरेचनयोगानेवाभिधास्यति। चक्रपाणि

सुश्रुताचार्य ने भी विरेचन की अवस्था का वर्णन किया है।

**यदाकोष्ठानुगाः पक्वा विबद्धाः स्रोतसां मलाः ।**
**अचिरज्वरितस्यापि तदा दद्याद्विरेचनम् ।।**

सु. उ. ३९/१२३

अर्थात् जब मल कोष्ठ में पहुँच गये हो व पक्व हो और स्रोतसों मे रुक गये हो तथा ज्वर पुराना न भी हो तो भी इस अवस्था में विरेचन का प्रयोग करना चाहिये। इसके अलावा भी सुश्रुताचार्य ने वमन के बाद विरेचन का प्रयोग करने के लिये कहा है। वैसे ही पैत्तिक ज्वर में मलाशय, पक्वाशय व पित्ताशय के शिथिल होने पर विरेचन देना चाहिये। पित्तप्राये विरेकस्तु कार्यः प्रशिथिलाशये। सु. उ. ३९/१२६

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी पक्व दोष के शिथिल होने पर अथवा विषज व मद्यज ज्वर में विरेचन देने को कहा है। वैसे ही विरेचन यह पक्वाशयस्थ पित्त व कफ पित्त को बाहर निकालता है ऐसा भी कहा है।

**पित्तं वा कफपित्तं वा पक्वाशयगतं हरेत् ।** अ. हृ. चि. १/११५

लेकिन चरकाचार्य ने इसी पंक्ति को

**पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत् ।** च. चि. ३/१७१

ऐसा कहा है। पित्ताशय शब्द पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणिदत्त ने उसे

आमाशय के बाद का भाग माना है । पित्ताशय आमाशय अधो भाग एव । चक्रपाणि

**१५. क्षीण ज्वरी में निरुह व दुग्धपान–**

**ज्वर क्षीणस्य न हितं वमनं न विरेचनम् ।।** च. चि. ३/१६९
**कामं तु पयसा तस्य निरुहैर्वाहरेन्मलान् ।**

क्षीण ज्वरी को वमन व विरेचन हितकारक नहीं है । लेकिन ऐसे रोगी में यदि शोधन आवश्यक हो तो दुग्धपान कराकर निरुह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये ।

दूध बल्य भी है और अनुलोमक भी । इसलिये इस अवस्था में इसका उपयोग बताया है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने दोष पक्व होकर पक्वाशय में जाने पर निरुह का प्रयोग करने को कहा है । उससे बल व आनंद की प्राप्ति होती है, ज्वर निकल जाता है, अग्नि प्रदीप्त होता है व भोजन में रुचि बढ़ती है ।

**निरुहस्तु बलं वह्नि विज्वरत्वम् मुदं रुचिम् ।।**
अ. हृ. चि १/११४
**दोषे युक्तः करोत्याशु पक्वे पक्वाशय गते ।**

सुश्रुताचार्य ने पीडायुक्त तथा उदावर्त विबन्ध वाले वातज्वर में निरुह बस्ती देने को कहा है ।

**सरुजेऽनिलजे कार्यं सोदावर्ते निरुहणम् ।** सु. उ. ३९/१२७

**१६. ज्वर में अनुवासन–**

**ज्वरे पुराणे संक्षीणे कफ पित्ते दृढाग्नये ।।** च. चि. १/१७२
**रुक्षबद्धपुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम् ।**

ज्वर को जीर्णावस्था प्राप्त हुई हो, कफ व पित्त क्षीण हो गये हो, रोगी की अग्नि तीव्र हो अथवा रोगी बलवान हो लेकिन विरेचन तथा निरुह से उचित मात्रा में मल निस्सरण हुआ हो अथवा मल पित्त और कफ के क्षय होने पर भी ज्वर शान्त न हुआ हो अथवा जो व्यक्ति रुक्ष तथा बद्धपुरीष हो तो अनुवासन का प्रयोग करना चाहिये ।

सुश्रुताचार्य ने कटि और पृष्ठ के जकड़ाहट से पीड़ित तथा प्रदीप्त अग्नि वाले ज्वररोगी को अनुवासन बस्ति देने को कहा है ।

**कटी पृष्ठग्रहार्तस्य दीप्ताग्नेरनुवासनम् ।** सु. उ. ३९/१२७

अष्टाङ्ग हृदयकार ने जिस ज्वरी में कफ और पित्त क्षीण हो गये हो, अग्नि

प्रदीप्त हुआ हो तथा मलावरोध हो तथा त्रिक्, कटि व पृष्ठभाग में जकड़ाहट हो उस ज्वरी में अनुवासन देने को कहा है।

## १७. ज्वर में नस्य–

**गौरवे शिरसःशूले विबद्धेष्विन्द्रियेषु च।।** च. चि. ३/१७३
**जीर्णज्वरे रुचिकरं कुर्यान्मूर्ध विरेचनम्।**

यदि शिरोगौरव, शिर:शूल या इंद्रियों की विबद्धता हो और ज्वर जीर्ण हो गया हो तो रुचिकर नस्य देना चाहिये।

चक्रपाणि के अनुसार इंद्रिय विबन्ध का अर्थ इंद्रियों का स्व विषय में प्रवृत्त न होना है। इन्द्रियाणां विबन्धः स्वविषयप्रवृत्तौ जाड्यम्।

सुश्रुताचार्य ने कफजन्य ज्वर में विरेचन नस्य का प्रयोग करने के लिये कहा है। जिसके फलस्वरूप शिर का भारीपन व शिर:शूल नष्ट होता है तथा नासा कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रिया जागृत हो जाती है।

**शिरोगौरवशूलघ्नमिन्द्रियप्रतिबोधनम्।**
**कफाभिपन्ने शिरसि कार्यं मूर्ध विरेचनम्।।** सु. उ. ३९/१२८

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसके साथ साथ शिर:शून्यता में स्निग्ध नस्य व दाह से पीड़ित होने पर पित्तघ्न नस्य का प्रयोग करने के लिये कहा है।

**शिरोरुग्गौरवश्लेष्महरमिन्द्रिय बोधनम्।**
**जीर्णज्वरे रुचिकरं दद्यान्नस्यविरेचनम्।।** अ. हृ. चि. १/१२५
**स्नैहिकं शून्य शिरसो दाहार्ते पित्तनाशनम्।**

## १८. ज्वर में बाह्य चिकित्सा–

**अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकावगाहने।।** च. चि. ३/१७४
**विभज्य शीतोष्णकृतं कुर्याज्जीर्णे ज्वरे भिषक्।**
**तैराशु प्रशमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः।।** च. चि. ३/१७५
**लभन्ते सुखमङ्गानि बलं वर्णश्च वर्धते।**

जीर्ण ज्वर में शीत व उष्ण ज्वरों मे भेद कर शीतजन्य ज्वर में उष्ण अभ्यङ्ग, प्रदेह, परिषेक व अवगाहन स्नान करना चाहिये। यदि उष्णता अधिक हो तो शीतल अभ्यङ्ग, प्रदेह, परिषेक व अवगाह करना चाहिये। इन क्रियाओं से बहिर्मार्ग में होनेवाले ज्वर शान्त होते है, शरीर के अंगों में सुख प्राप्त होता है और शरीर में बल तथा वर्ण की वृद्धि होती है।

यहां प्रदेह का अर्थ लेप है। चक्रपाणि ने सुश्रुतमत का आधार लेकर दाहप्रशमन लेप पतला व शीतप्रशमन लेप मोटा लगाने को कहा है। बहिर्मार्ग शाखा को कहा है। रक्त आदि धातु व त्वचा को शाखा कहते है। शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च। अर्थात् शाखागत ज्वर में इन क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिये।

सुश्रुताचार्य ने भी ज्वरी में कई प्रकार के बाह्य उपायों का वर्णन किया है। विशेष रूप से दुर्बल ज्वरी में आध्मान, उदरशूल रहने पर देवदारु, वचा, कुष्ठ, सोंफ, हिङ्गु, गोमूत्र आदि से बनाये हुए लेप का उदर पर लेप करने के लिये कहा है। इसके अलावा जीर्णज्वर के लिये क्षीरिवृक्षादि तैल, शीतज्वर के लिये पलाश क्षार सिद्ध तैल से अभ्यङ्ग, दाहयुक्त ज्वर में प्रल्हादक तैल वातहर औषधियों के क्वाथ में निमज्जन आदि का प्रयोग करने के लिये कहा है।

## १९. ज्वर में धूप–

**धूपनाञ्जनयोगैश्च यान्ति जीर्णज्वराः शमम्।।** च. चि. ३/१७६
**त्वङ्मात्रशेषा येषां च भवत्यागन्तुरन्वयः।**

जो जीर्णज्वर केवल त्वचा में अवशिष्ट हो और जो ज्वर आगन्तुज हो तो वह जीर्णज्वर धूप व अञ्जन के प्रयोग से शान्त होता है।

यहां आगन्तुज ज्वर से भूत, प्रेत, अभिशाप, अभिचार आदि से उत्पन्न ज्वर समझना चाहिये। सिर्फ त्वगाश्रित ज्वर से अन्य सभी धातुओं को निकालकर सिर्फ त्वचा में आश्रित ज्वर समझना चाहिये। चक्रपाणिदत्त ने भी त्वङ्मात्रशेषा इति धात्वन्तरत्यागेन त्वङ्मात्रावस्थितदोष जन्याः ......ऐसा कहा है।

सुश्रुताचार्य ने विषमज्वर में धूपन तथा अंजन, भूताभिषङ्गोत्थ ज्वर में मंत्रपूर्वक रज्जुबंधन, आवेशन (मंत्रपूर्वक सर्षपादी से ताडन) व पूजन का प्रयोग तथा काम क्रोध शोकादि से उत्पन्न मानस ज्वर में धी, धैर्य, आत्मविज्ञान आदि का प्रयोग करने को कहा है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी धूपन व अंजन का प्रयोग विषम ज्वर में करने को कहा है।

## २०. ज्वर में तृष्णा–

**घर्माम्बु चानुपानार्थं तृषिताय प्रदापयेत्।।** च. चि. ३/१९४
**मद्यं वा मद्यसात्म्याय यथादोषं यथाबलम्।**

ज्वरी को यदि प्यास लगे तो भोजन के बाद गरम जल पिलाना चाहिये। यदि

ज्वरी को मद्य सात्म्य हो या वह नित्य मद्यपान करता हो तो दोष, रोग, एवं रोगी के बलानुसार अनुपान के रूप में मदिरा का प्रयोग करना चाहिये ।

## २१. ज्वरोपरांत घृत प्रयोग–

**ज्वराः कषायैर्वमनैर्लङ्घनैर्लघुभोजनैः ।**
**रुक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम् ।।** च. चि. ३/२१६
**रुक्षं तेजो ज्वरकरं तेजसा रुक्षितस्य च ।**
**यः स्वादनुबलो धातुः स्नेहवध्यः स चानिलः ।।** च. चि. ३/२१७

जो ज्वर कषायपान, वमन, लंघन और लघुभोजन से शान्त हो गया हो लेकिन रोगी के शरीर में रुक्षता हो तो उसे घृतपान से जीतना चाहिये । रुक्ष तेज ज्वर को उत्पन्न करता है व तेज से शरीर रुक्ष हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वात प्रकोप होता है । वह अनुबल वातधातु स्नेहवध्य अर्थात् स्नेह से नष्ट किया जा सकता है ।

यहां रुक्ष तेज से द्रवहीन पित्त का या रुक्ष स्वरूप उष्मा का व अनुबल से बाद में कुपित वात का ग्रहण करना चाहिये । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी को दोहराते हुए घृतपान ज्वर में किस तरह कार्य करता है इसका वर्णन किया है ।

**विपरीतं जयोष्माणं जयेत्पित्तं च शैत्यतः ।।** अ. हृ. चि. १/८६
**स्नेहाद्वातघृतं तुल्यं योगसंस्कारतः कफम् ।**

स्नेह अपनी शीतलता से ज्वर के व पित्त के उष्मा को, अपनी स्निग्धता से वायु को व समान गुण का होने के बावजूद दूसरे पदार्थ के संयोग से तथा अग्नि आदि के संस्कार से कफ को भी जीतता है । वैसे भी अष्टाङ्ग हृदयकार ने सभी ज्वरघ्न कषायों को उस उस दोष के अनुसार घृत मिलाकर ही देने को कहा है । पूर्वे कषायाः सघृताः सर्वे योज्या यथामलम् ।

सुश्रुताचार्य ने भी, वमन विरेचनादि शोधन उपक्रमों के बावजूद भी दोषों की विशेषता व शरीर की रुक्षता के कारण ज्वर शान्त न हुआ हो तो उसे घृत प्रयोग से जीतना चाहिये, ऐसा कहा है ।

**शुद्धस्योभयतो यस्य ज्वरः शान्तिं न गच्छति ।**
**सशेष दोषरुक्षस्य तस्य तं सर्पिषा जयेत् ।।**
सु. उ. ३९/१३२

## २२. ज्वर में दुग्ध प्रयोग–

**चतुर्गुणेनाम्भसा वा श्रृतं ज्वरहरं पयः ।**
**धारोष्णं वा पयः सद्यो वातपित्तज्वरं जयेत् ।।** च. चि. ३/२३८

**जीर्णज्वराणां सर्वेषां पयः प्रशमनं परम् ।**
**पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वं भेषजैः शृतम् ।।** च. चि. ३/२३९

चौगुने जल से पकाया गोदुग्ध ज्वरहर होता है। धारोष्ण गोदुग्ध पीने से वातपित्तजन्य ज्वर पर मनुष्य तत्काल विजय पाता है। सभी प्रकार के जीर्ण ज्वर में दूध प्रशस्त है। उस दूध को दोषानुसार औषधियों से सिद्ध कर शीत या उष्ण पीना चाहिये।

यहां उष्ण व शीत का उल्लेख रोगी की इच्छा को दर्शाता है। या प्रबल वात में उष्ण व प्रबल पित्त में शीत दूध का प्रयोग कर सकते है। उष्णं शीतं चेतिविकल्प इच्छाविशेषकृत:; प्रबले वाते उष्णं, पित्ते त्वतिबले शीतम्। चक्रपाणि

## २३. ज्वर में लंघन निषेध–

**वातजे श्रमजे चैव पुराणे क्षतजे ज्वरे ।**
**लङ्घनं न हितं विद्याच्छमनैस्तानुपाचरेत् ।।** च. चि. ३/२७२

वातज, श्रमज, जीर्ण व क्षतज ज्वर में लंघन हितकर नहीं होता। इन ज्वरों में शमन चिकित्सा का ही प्रयोग करना चाहिये।

इसी अध्याय के १२९ वे श्लोक में चरकाचार्य ने धातुक्षयजन्य ज्वर, वातज, भयज, क्रोधज, कामज, शोकज व श्रमज ज्वर में लंघन का निषेध किया है।

**ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात् ।।** च. चि. ३/१२९
**क्षयानिलभयक्रोधकामशोक श्रमोद्भवात् ।**

सुश्रुताचार्य ने भी वातज, धातुक्षयज व मानसज्वर में लंघन का निषेध बताया है। वैसे ही द्विव्रणीय अध्याय में लंघन के लिये निषिद्ध गर्भिणी, वृद्ध, बालक, दुर्बल व भीरु व्यक्ति के ज्वरग्रस्त होने पर भी लंघन का निषेध किया है।

**न लङ्घयेन्मारुतजे क्षयजे मानसे तथा ।**
**अलङ्घ्याश्चापि ये पूर्वं द्विव्रणीये प्रकीर्त्तिताः ।।** सु. उ. ३९/१०३

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी, शुद्धवातक्षयागन्तुजीर्णज्वरिषु लङ्घनम् नेष्यते, अर्थात् वातज्वर, धातुक्षयजन्यज्वर, आगंतुकज्वर व जीर्णज्वर में लंघन इष्ट नहीं है ऐसा कहा है।

## २४. वातज ज्वर में अभ्यङ्ग–

**ज्वरे मारुतजे त्वादावनपेक्ष्यापि हि क्रमम् ।।** च. चि. ३/२७९
**कुर्यान्निरनुबन्धानामभ्यङ्गादीनुपक्रमान् ।**

वातज ज्वर में ज्वर के सामान्य चिकित्सा क्रम की अपेक्षा न करते हुए यदि वायु निरनुबन्ध हो अर्थात् पित्त या कफ का अनुबन्ध न हो तो उसमें अभ्यङ्ग आदि चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये।

सामान्य रूप में नवज्वर में अभ्यङ्ग निषिद्ध है। अभ्यङ्ग का प्रयोग जीर्णज्वर में रुक्षता दूर करने के लिये किया जाता है। लेकिन वातज ज्वर में यदि पित्त या कफ का अनुबन्ध न हो तो रुक्षता शुरु से ही बनी रहती है। इसलिये अभ्यङ्ग का प्रयोग अपेक्षित है।

## २५. वातज्वर-जीर्णज्वर चिकित्सा साम्य–

**पाययित्वा कषायं च भोजयेद्रसभोजनम्** ।। च. चि. ३/२८०
**जीर्णज्वरहरं कुर्यात् सर्वशश्चाप्युपक्रमम्** ।

वातज्वर में कषायपान के पश्चात् मांसरसयुक्त भोजन करना चाहिये और जीर्णज्वरनाशक सभी चिकित्साओं का प्रयोग करना चाहिये।

## २६. ज्वर में स्वेदन–

**त्रयोदशविधः स्वेदः स्वेदाध्याये निदर्शितः** ।
**मात्राकालविदा युक्तः स च शीतज्वरापहः** ।। च. चि. ३/२६८
**स्वेदानान्यन्नपानानि वातश्लेष्महराणि च** ।
**शीतज्वरं जयन्त्याशु संसर्गबलयोजनात्** ।। च. चि. ३/२७१

(सूत्रस्थान के) स्वेदाध्याय में १३ प्रकार के स्वेदों का वर्णन किया है। मात्रा को जाननेवाले व काल को जाननेवाले वैद्य द्वारा उनका उचित प्रयोग शीतज्वरनाशक होता है। वैसे ही स्वेद को उत्पन्न करनेवाले उष्ण अन्नपान व वातकफनाशक अन्नपान का संसर्ग बलानुसार प्रयोग करने पर शीघ्र ही ज्वर शान्त होता है।

चरकाचार्य ने ज्वर में स्वेदन के लिये कुटी, शयन, आच्छादन, अगरु से धूपन, युवतियों से आलिंगन का भी उल्लेख किया है। इसका प्रयोग शीतज्वर में करना अपेक्षित है। शीतज्वर मुख्यतः वातकफज होता है। जब यह वातप्रधान हो तब गुरु, उष्ण व स्निग्ध अन्नपान तथा कफ प्रधान हो तो लघु, उष्ण व रुक्ष अन्नपान का प्रयोग करना चाहिये। संसर्ग बल से यही अर्थ लेना चाहिये।

## २७. कफज ज्वर के उपक्रम–

**श्लेष्मलानामवातानां ज्वरोऽनुष्णः कफाधिकः** ।। च. चि. ३/२८१
**परिपाकं न सप्ताहेनापि याति मृदूष्मणाम्** ।

**तं क्रमेण यथोक्तेन लङ्घनाल्पाशनादिना ।।** च. चि. ३/२८२
**आदशाहमुपक्रम्य कषायाद्यैरुपाचरेत् ।**

ज्वर का रोगी कफ प्रकृति का हो, वात का अनुबन्ध बिल्कुल न हो, ज्वर कफप्रधान हो व अग्नि मृदु हो तो दोषों का पाक सात दिन में नहीं होता । ऐसे मृदु अग्निवाले रोगियों में ज्वर की प्रथम अवस्था में बताये हुए लंघन, अल्प भोजन, लघु भोजन आदि विधियों का दस दिन पालन कर तत्पश्चात् कषाय आदि क्रम से चिकित्सा करनी चाहिये ।

योगेन्द्रनाथजी ने मृदूष्मणां से अल्पपित्त वाले पुरुष का व लंघन से अल्पाशन का ग्रहण किया है । मृदूष्मणां अल्पपित्तानां पुंसाम् । लङ्घनम् अल्पाशनञ्च । योगेन्द्रनाथ मृदु उष्मा, अल्पपित्त या मंदाग्नि समानार्थी है ।

## २८. लङ्घन योग्य–

**सामा ये ये च कफजाः कफपित्तज्वराश्च ये ।।** च. चि. ३/२८३
**लङ्घनं लङ्घनीयोक्तं तेषु कार्यं प्रतिप्रति ।**

यदि ज्वर साम हो या कफप्रधान हो या कफपित्त प्रधान हो तो लंघन करने योग्य व्यक्तियों में हर व्यक्तिनुसार योग्य लङ्घन कराना चाहिये ।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणिजी कहते है, यहां साम से सामवात का ग्रहण करना चाहिये । कहा भी है–"सामे वातेऽपि लङ्घनम्" । कफप्रधान ज्वर में निरामावस्था में भी लंघन का प्रयोग हितकर है । कफपित्तज शब्द से कफ युक्त पित्त समझना चाहिये । निराम पित्त में लंघन नहीं देते व सामपित्त में भी आमपाचन पर्यंत ही लंघन प्रशस्त है । यहां साम पित्त से द्रव पित्त समझना चाहिये । यदि द्रवत्व कम हो गया हो तो लंघन नहीं देना चाहिये । 'लंघनीयोक्तम्' से लंघन के दस प्रकार समझना चाहिये व आवश्यकतानुसार हर व्यक्ति में योग्य प्रकार से लंघन अपेक्षित है । लेकिन अवस्था निषिद्ध लंघन को छोड़कर अन्य का ग्रहण करें । सामा इत्यनेन वातिकस्यापि सामस्य लङ्घनीयत्वं ब्रूते । उक्तं ह्यन्यत्र–"सामे वातेऽपि लङ्घनम्" इति । कफजे तु निरामेऽपि लङ्घनं शस्यते । कफपित्तजशब्देन कफयुक्त पित्तजस्यैव लङ्घनीयत्वं न केवलं निरामपित्तजस्य, सामपित्तजस्य तु आमक्षयार्थं लङ्घनं शस्यत एव । ....., तदपि सामत्वेन सद्रवपित्तापेक्षया, क्षीणद्रवांशेतु पित्ते लङ्घनं न कर्तव्यमेव । लङ्घनीयोक्त-मितिवचनेन लङ्घनबृंहणीयोक्तं दशविधं लङ्घन मवस्थानिषिद्ध वमनादिसर्वथानिषिद्ध-व्यायामादिरहितं च ग्राह्यम् । चक्रपाणिदत्त

जेज्जटाचार्य के अनुसार साम ज्वर, चाहे वह वातिक हो पैत्तिक हो या

वातपैत्तिक हो तथा कफज या कफपित्तज ज्वर चाहे व निराम भी हो, इनमें लंघन का प्रयोग करना चाहिये। सिर्फ पित्तज ज्वर में कभी भी लंघन नहीं देना चाहिये। सहामेन वर्तन्त इति सामा:। के ते–वातिका: पैत्तिका वातपैत्तिका:। निराम अपि कफजा: कफपित्तजाश्च। केवलपैत्तिको न लंघ्य इति कफपित्तद्वद्वारब्धा इति ज्ञापयति। जेज्जट

सुश्रुताचार्य ने लङ्घन के लिये उपवास का ही वर्णन किया है और उसके साथ साथ उपवास मर्यादा भी स्पष्ट की है। सु. उ. ३९/१०२। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी ज्वर में लंघन बताते हुए स्नान, अभ्यङ्ग, प्रदेह व उपवास के अतिरिक्त अन्य सभी लंघन ज्वर में वर्ज्य बताये है।

## २९. ज्वर में दोषानुसार शोधन–

**वमनैश्चविरेकैश्च बस्तिभिश्चयथाक्रमम्।।** च. चि. ३/२८४
**ज्वरानुपचरेद्धीमान् कफपित्तानिलोद्भवान्।**

बुद्धिमान वैद्य ने वात, पित्त तथा कफ प्राधान्य से उत्पन्न होनेवाले ज्वरों में क्रमश: वमन, विरेचन व बस्ति द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

योगीन्द्रनाथजी के अनुसार इसे एकदोषज ज्वर का चिकित्सा सूत्र मानना चाहिये। सम्प्रति एकैकदोषजानां चिकित्सासूत्रमाह-वमनैश्चेति। योगीन्द्रनाथ

## ३०. द्वंद्वज ज्वर का चिकित्सा सूत्र–

**संसृष्टान् सन्निपतितान् बुद्ध्वा तरतमैः समैः।।** च. चि. ३/२८५
**ज्वरान् दोषक्रमापेक्षी यथोक्तैरौषधैर्जयेत्।**

बुद्धिमान वैद्य ने संसृष्ट (द्वंद्वज) व सन्निपातज ज्वरों में दोषों के तर तम व सम रूप को व दोषों के क्रम को जानकर इन तर तम व सम अवस्था में जिन जिन औषधियों का वर्णन किया गया है उन उन औषधियों के प्रयोग से चिकित्सा करनी चाहिये।

सभी टीकाकारों ने इस सूत्र पर व इसके बाद आनेवाले सन्निपातज्वर के चिकित्सा सूत्र पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उसका यहां संक्षेप में वर्णन किया है। जिज्ञासुओं ने मूल टीका पढ़नी चाहिये। चक्रपाणि के अनुसार तर व तम भाव संसर्ग व सन्निपात में दोषों की अवस्थानुसार लागू होता है। उन्होंने दोषक्रम शब्द में दोष व क्रम को अलग अलग माना है तथा दोष से दोषों की अवस्था का व क्रम से चिकित्साक्रम का ग्रहण करने के लिये कहा है।

जेज्जटाचार्य ने तर का संबंध संसृष्ट से व तम का संबंध सन्निपात से सम का संबंध दोनों से है ऐसा कहा है। दोषक्रम यह शब्द भी दोष व क्रम तथा दोषों का क्रम इन दोनों अर्थो से लिया है। या इसका अर्थ दोष के विशिष्ट संप्राप्ति के विरुद्ध ऐसा भी लिया जा सकता है।

## ३१. सन्निपातज ज्वर का चिकित्सा सूत्र–

**वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा ।।** च. चि. ३/२८६
**कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरंजयेत् ।**

एक दोष को बढ़ाकर व बढ़े हुए दोष को घटाकर अथवा कफस्थानानुसार चिकित्सा करते हुए सन्निपातज्वर को जीतना चाहिये।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि सन्निपात ज्वर में द्युल्बण दोषों की चिकित्सा वर्धन से, एकोल्बण दोष की चिकित्सा क्षपण से तथा तीनों दोष सम होने पर कफस्थान से करनी चाहिये। द्युल्बण सन्निपात में ही हीन, मध्य तथा बलवान दोषों का विचार होता है। समसन्निपात ज्वर में कफस्थान की चिकित्सा कफ के साथ करनी चाहिये। ज्वर के व्यतिरिक्त अन्य सन्निपातज रोगों में वायु की चिकित्सा प्रथम की जाती है। कुछ लोग ''शमयेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु। दुर्निवारतरं तद्विज्वरार्तेषु विशेषतः'' इस सुश्रुतवचन का आधार लेकर 'कफस्थानानुपूर्व्या' की जगह 'पित्तानुपूर्व्या' ऐसा पढ़ते है। लेकिन यह सही नहीं है। क्योंकि सुश्रुत का यह वचन जीर्णसन्निपात के लिये है और चरकाचार्य का नव्य सन्निपात के लिये। कुल पच्चीस सन्निपातों का वर्णन मिलता है। लेकिन उनमें से बारह क्षीणदोष के कारण होने से वह ज्वरोत्पत्ति नहीं कर सकते।

जेज्जटाचार्य के अनुसार वर्धन से क्षीण दोष का वर्धन व क्षपण से उर्वरित दोनों वृद्ध दोषों का क्षपण समझना चाहिये जिससे दोष सम अवस्था में आये, यही चिकित्सा है। या वर्धन से छेदन व क्षपण से संशोधन व संशमन का ग्रहण करना चाहिये। आमाशय यह कफस्थान है और ज्वर आमाशय समुद्भव व्याधि है। इसलिये कफस्थान की व कफ की चिकित्स संयुक्तिक ही है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी श्लोक को इस प्रकार पढ़ा है।

**वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोछ्रितस्य च ।।**
अ. हृ. चि. १/१४६
**कफस्थानानुपूर्व्या वा तुल्यकक्षाञ् जयेन्मलान् ।**

अर्थात्, एक दोष को बढ़ाकर या बढ़े हुए का ह्रास कर अथवा तीनों दोष

समान रहने पर सर्वप्रथम कफ, तत्पश्चात, पित्त व अंत में वायु की चिकित्सा सन्निपात में करनी चाहिये ।

## ३२. कर्णमूलशोथ चिकित्सा–

**रक्तावसेचतैः शीघ्रं सर्पिष्पानैश्च तं जयेत् ।।** च. चि. ३/२८८
**प्रदेहैः कफपित्तघ्नैर्नावनैः कवलग्रहैः ।**

कर्णमूल शोथ में शीघ्रतापूर्वक रक्तावसेचन, घृतपान, कफपित्तनाशक प्रदेह, नस्य और कवलग्रह का प्रयोग करना चाहिये ।

कर्णमूलशोथ सन्निपातज्वरके उपद्रव के रूप में होता है जो स्वभाव से ही प्राणघातक है । चरकाचार्य ने भी इसमें से कोई कोई बच पाता है ऐसा कहा है । इसमें सर्वप्रथम जलौका से रक्तमोक्षण, तत्पश्चात् लेप व बाद में नस्य, कवलग्रह इस क्रम से चिकित्सा करना अपेक्षित है ।

## ३३. ज्वर में रक्तमोक्षण–

**शीतोष्णस्निग्धरुक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति ।।**
च. चि. ३/२८९
**शाखानुसारी रक्तस्य सोऽवसेकात् प्रशाम्यति ।**

शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष इन चिकित्साओं द्वारा भी जिन व्यक्तियों का ज्वर शान्त न हो तो वह ज्वर शाखानुसारी अर्थात् शाखा में प्रविष्ट हो गया है ऐसा जानना चाहिये । यह शाखानुसारी ज्वर रक्तमोक्षण से शान्त हो जाता है ।

यद्यपि शाखा से सभी धातुओं का ग्रहण होता है फिर भी यहां चिकित्सा (रक्तमोक्षण) को देखते हुए सिर्फ रक्त का ही ग्रहण करना चाहिये ऐसा चक्रपाणिदत्त व जेज्जटाचार्य दोनों का मत है । रक्तमोक्षण का स्थान बाहुमध्य है । शीतोष्णादि चिकित्सा से सभी दोषानुरूप चिकित्सा का ग्रहण करना चाहिये । अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी को दोहराया है ।

## ३४. विभिन्न ज्वरों में घृतपान–

**विसर्पेणाभिघातेन यश्च विस्फोटकैर्ज्वरः ।।** च. चि. ३/२९०
**तत्रादौसर्पिषः पानं कफ पित्तोत्तरो न चेत् ।**

विसर्प, अभिघात अर्थात् चोट लगना और विस्फोट के कारण ज्वर उत्पन्न हुआ हो तथा उसमें कफ व पित्त की प्रधानता न हो तो सर्वप्रथम घृतपान कराना चाहिये ।

अर्थात् यह ज्वर अन्य रोग के अनुबंध के रूप में उत्पन्न हुआ वातज ज्वर है ऐसा समझना चाहिये। इसलिये सर्वप्रथम घृतपान कराना चाहिये। योगेन्द्रनाथजी के मतानुसार इसमें अभ्यङ्ग आदि का भी प्रयोग किया जा सकता है। कहा भी है,

**केवलानिलवीसर्पविस्फोटाभिहतज्वरे।**
**सर्पिष्पानहिमालेपसेकमांसरसाशनम्॥** अ. स. चि. २

## ३५. जीर्णज्वर में बृंहण–

**दौर्बल्याद्देहधातूनां ज्वरो जीर्णोऽनुवर्तते॥** च. चि. ३/२९१
**बल्यः संबृंहणैस्तस्मादाहारस्तमुपाचरेत्।**

देह और धातु की दुर्बलता से ज्वर जीर्णावस्था को प्राप्त होता है। इसलिये देह और धातुओं को बल देने हेतु बलकारक व बृंहण आहारों द्वारा जीर्ण ज्वर की चिकित्सा करनी चाहिये।

सुश्रुताचार्य ने क्षीण ज्वरी, संतत ज्वर, विषम ज्वर तथा चिरकालिक ज्वर का उपचार लघु तथा हितकर आहार से करने को कहा है।

**सततं विषमं वाऽपि क्षीणस्य सुचिरोत्थितम्।**
**ज्वरं संभोजनैः पथ्यैर्लघुभिः समुपाचरेत्॥** च. चि. ३९/१४९

## ३६. वातप्रधान (विषम) ज्वर की चिकित्सा–

**वातप्रधानं सर्पिर्भिर्वस्तिभिः सानुवासनैः॥** च. चि. ३/२९३
**स्निग्धोष्णैरन्नपानैश्च शमयेद्विषमज्वरन्।**

वातप्रधान ज्वर में घृतपान, निरुह तथा अनुवासन बस्ति, तथा स्निग्ध व उष्ण अन्नपान द्वारा चिकित्सा करनी चाहिंये।

इस सूत्र के पूर्व सूत्र में तृतीयक व चतुर्थक विषमज्वर का उल्लेख है। अतः इस सूत्र में भी वातप्रधान ज्वर से वातप्रधान तृतीयक व चतुर्थक विषम ज्वर का ग्रहण करना चाहिये।

इस सूत्र के पूर्व सूत्र में कहा है,

**कर्मसाधारणं जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ॥** च. चि. ३/२९२
**आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशोविषमज्वरे।**

अर्थात्, तृतीयक व चतुर्थक ज्वर को साधारण कर्म नष्ट करता है। विषमज्वर में प्रायः आगन्तुक अनुबंध होता है।

चक्रपाणिदत्त ने साधारण कर्म से दैवव्यपाश्रय व युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा का ग्रहण करने को कहा है ।

### ३७. पित्तप्रधान विषमज्वर चिकित्सा–

**विरेचनेन पयसा सर्पिषासंस्कृतेन च ।।** च. चि. ३/२९४
**विषमं तिक्तशीतैश्च ज्वरं पित्तोत्तरं जयेत् ।**

पित्तप्रधान तृतीयक व चतुर्थक ज्वर में विरेचन, पित्तनाशक द्रव्यों से सिद्ध दूध, घृत तथा तिक्त एवं शीत द्रव्यों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ।

**तिक्तशीतैरनुपानैर्भेषजैश्चेति विज्ञेयम् ।** चक्रपाणि

### ३८. कफप्रधान विषमज्वर चिकित्सा–

**वमनं पाचनं रुक्षमन्नपानं विलङ्घनम् ।।** च. चि. ३/२९५
**कषायोष्णं च विषमे ज्वरे शस्तं कफोत्तरे ।**

कफप्रधान विषमज्वर में वमन, पाचन, रुक्ष अन्न सेवन व उष्ण कषाय का प्रयोग लाभकर होता है ।

**कषायोष्णमिति उष्णाः कषायाः ।** चक्रपाणि

### ३९. विषमज्वर में वमन–

**सर्पिषो महतीं मात्रां पीत्वा वा छर्दयेत पुनः ।।** च. चि. ३/३००
**उपयुज्यान्नपानं वा प्रभूतं पुनरुल्लिखेत् ।**

उत्तम मात्रा में घृतपान कराकर वमन करावे अथवा पूर्ण भोजन कराने के बाद वमन करावे ।

यहा घृत से षट्पलघृत समझना चाहिये जिसका उल्लेख पहले आया है । वमन के पूर्व दोषों का पूर्ण रूप से उत्क्लेश होना अपेक्षित है । विषमज्वर में वेग आने से पहले चिकित्सा करनी चाहिये ।

### ४०. विषमज्वर के वेगावस्था की चिकित्सा–

**सान्नं मद्यं प्रभूतं वा पीत्वा स्वप्याज्ज्वरागमे ।।** च. चि. ३/३०१
**आस्थापनं यापनं वा कारयेद्विषमज्वरे ।**

ज्वरावेग समय अन्न के साथ अधिक मात्रा में मद्यपानकर शयन करना चाहिये अथवा वेगावस्था में ही आस्थापन या यापन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये ।

### ४१. विषमज्वर में धूम, धूप आदि–

**ये धूमा धूपनं यच्च नावनं चाञ्जनं च यत् ।।** च. चि. ३/३०८
**मनोविकारे निर्दिष्टं कार्यं तद्विषमेज्वरे ।**

मनोविकारों में बताये गये धूम, धूप, नस्य एवं भोजन का प्रयोग विषमज्वर में भी करना चाहिये ।

**मनोविकारे उन्मादेऽपस्मारे च ।** चक्रपाणि

### ४२. विषमज्वर में दैवव्यपाश्रय–

**मणीनामोषधीनां च मङ्गल्यानां विषस्य च ।।** च. चि. ३/३०९
**धारणादगदानां च सेवनान्न भवेज्ज्वरः ।**

विषमज्वर में मणि, औषधियां, माङ्गलिक द्रव्य तथा विष एवं अगद का धारण करने से रोगी को विषमज्वर से शीघ्र ही मुक्ति मिलती है ।

इसके साथ साथ भिन्न भिन्न देवताओं की पूजा, विष्णुसहस्रनाम का पाठ, यज्ञ आदि का उल्लेख भी विषम ज्वर के दैवव्यपाश्रय चिकित्सा में आया है । कुछ सद्वृत्त का भी पालन करने के लिये कहा गया है ।

### ४३. सप्तधातुगत ज्वर चिकित्सा–

**ज्वरे रसस्थे वमनमुपवासं च कारयेत् ।।** च. चि. ३/३१५
**सेकप्रदेहौ रक्तस्थे तथा संशमनानि च ।**
**विरेचनं सोपवासं मांसमेदस्थिते हितम् ।।** च. चि. ३/३१६
**अस्थिमज्जगते देया निरुहाः सानुवासनाः ।**

जब ज्वर रसस्थ हो, अर्थात् रसधातुगत हो तब वमन तथा उपवास करना चाहिये । जब ज्वर रक्तगत हो तब परिषेक, प्रदेह तथा संशमन औषधियों का सेवन करना चाहिए । मांस तथा मेद धातुस्थित ज्वर में विरेचन व उपवास हितकर होता है । अस्थि और मज्जागत ज्वर में निरुह तथा अनुवासन देना चाहिये ।

सुश्रुत, अष्टाङ्ग हृदयकार ने धातुक्षयजन्य ज्वर का उल्लेख तो किया है लेकिन धातुगत ज्वर का कही उल्लेख नहीं है । इस सूत्र में शुक्रगत ज्वर की चिकित्सा का कहीं उल्लेख नहीं है । इस पर योगेन्द्रनाथजी कहते है, शुक्रगतज्वरस्या साध्यत्वात् चिकित्सा नोक्ता । अर्थात् शुक्रगत ज्वर असाध्य होने से उसकी चिकित्सा का उल्लेख नहीं है ।

## ४४. शाप आदि के उत्पन्न ज्वर की चिकित्सा–

**शापाभिचाराद्भूतानामभिषङ्गाच्च ये ज्वरः ।।** च. चि. ३/३१७
**दैवव्यपाश्रयं तत्र सर्वमौषधमिष्यते ।**

शाप, अभिचार, भूतप्रेत आदि द्वारा उत्पन्न सभी ज्वरों में सर्वप्रकार की दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये ।

इसके पहले विषम ज्वर में मणिधारण से लेकर साधुदर्शन तक जो भी दैवव्यपाश्रय चिकित्सा बतायी गयी है उन सभी का प्रयोग करना यहां अपेक्षित है । सुश्रुताचार्य ने भी भूतविद्यासमुद्दिष्टैर्बन्धावेशन पूजनैः, जयेद् भूताभिषङ्गोत्थं–ऐसा कहते हुए भूताभिषङ्गोत्थ ज्वर में भूतविद्यातंत्र में वर्णित मंत्रों से रज्जुबंधन, आवेशन तथा पूजन करना चाहिये ऐसा कहा है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी ग्रहोत्थे भूतविद्योक्तं बलि मंत्रादि साधनम्, तथा शापाथर्वणमन्त्रोत्थे विधिर्दैवव्यपाश्रयः । ऐसा कहा है । अर्थात् ग्रहपीडा से उत्पन्न भूतप्रतिषेधाध्याय में वर्णित बलिमंत्रादि चिकित्सा व शाप से तथा आथर्वण मंत्रों से उत्पन्न ज्वर में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा करनी चाहिये ।

## ४५. अभिघातज ज्वर चिकित्सा–

**अभिघातज्वरोनश्येत् पानाभ्यङ्गेन सर्पिषः ।।** च. चि. ३/३१८
**रक्तावसेकैर्मद्यैश्च सात्म्यैर्मांसरसोदनैः ।**
**सानाहो मद्यसात्मानां मदिरारसभोजनैः ।।** च. चि. ३/३१९

घृत का पान एवं अभ्यङ्ग, रक्तविस्रावण, मद्यपान तथा मनोनुकूल या सात्म्य मांसरस के साथ भात का भोजन करने से अभिघातज ज्वर नष्ट होता है । मदिरा पीनेवाले व्यक्तियों का आनाह से युक्त अभिघातज ज्वर मद्यपान व मांसरस के साथ भात का सेवन करने से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

सुश्रुताचार्य ने अभिघातजन्य ज्वर में उष्ण क्रिया को छोड़कर चिकित्सा करने के लिये कहा है । अथवा कषाय, मधुर व स्निग्ध उपचार या वातादि दोषों का संबंध जानकर चिकित्सा करने को कहा है ।

## ४६. क्षत या व्रणजन्य ज्वर–

**क्षतानां व्रणितानां च क्षतव्रणचिकित्सया ।** च. चि. ३/३२०(a)

क्षतजन्य या व्रणजन्य ज्वर में क्षत या व्रण की चिकित्सा करनी चाहिये ।

## ४७. काम, शोक, भयादि जन्य ज्वर चिकित्सा–

**आश्वासेनेष्टलाभेन वायोः प्रशमनेन च ।**

**हर्षणैश्च शमं यान्ति कामशोकभयज्वराः ।।**
**काम्यैरर्थैमनोज्ञैश्च पितघ्नैश्चाप्युपक्रमैः ।**
**सद्वाक्यैश्च शमं याति ज्वरः क्रोध समुत्थितः ।।**
**कामात् क्रोधज्वरोनाशं क्रोधात् कामसमुद्भवः ।**
**यातिताभ्यामुभाभ्यां च भयशोक समुत्थितः ।।**

३२०(b)-३२३(a) च. चि. १

आश्वासन, इष्टवस्तुओं का लाभ, वातनाशक औषधियों के सेवन से वायु का शमन और मन को हर्षित अर्थात् प्रसन्न करनेवाले उपायों से काम, शोक तथा भय से उत्पन्न ज्वर शान्त हो जाते है। मनोनुकूल प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति से पित्तनाशक चिकित्सा से, प्रिय एवं सुंदर वचनों से क्रोध से उत्पन्न ज्वर शान्त हो जाता है। वैसे ही काम उत्पन्न होने से क्रोध ज्वर व क्रोध उत्पन्न होने से काम ज्वर नष्ट हो जाता है। तथा भयज व शोकज ज्वर काम तथा क्रोध के उत्पन्न होने से नष्ट हो जाते है।

काम, शोक, भय व क्रोध यह मानस भाव होने से उनकी चिकित्सा भी उसी प्रकार बतायी गई है। लेकिन काम, क्रोध व शोक के शमन के लिये वात शामक चिकित्सा का उल्लेख व क्रोध से उत्पन्न ज्वर में पित्तशामक चिकित्सा का उल्लेख महत्वपूर्ण है। यहां जो द्रव्य प्रयुक्त होंगे वे मेध्य होंगे तो उपशय जल्दी मिलने की संभावना रहेगी। माधवकर ने भी काम, क्रोध व भय से वायु, क्रोध से पित्त व भूताभिषङ्ग में तीनों दोष प्रकुपित होते है ऐसा कहा है।

**कामशोक भयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः ।**
**भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूत सामान्य लक्षणाः ।।** मा. नि.

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी क्रोधादि ज्वर का सामान्य चिकित्सा सूत्र बताते हुए क्रोधादिको से उत्पन्न ज्वर में रोगी के मनोनुकूल मनोरंजक विषयों की चर्चा, उन उन दोषों का प्रशमन व हितकर विचार की चर्चा से उसे जीतना चाहिये ऐसा कहा है। वैसे ही क्रोधजन्य ज्वर को काम से व कामजन्य ज्वर को क्रोध उत्पन्न कर तथा भयज व शोकज ज्वर को काम तथा क्रोध से व काम क्रोधोत्पन्न ज्वर को भयज व शोकज ज्वर से जीतना चाहिये ऐसा कहा है।

## ४८. ज्वर वेग में विस्मरण से लाभ–

**ज्वरस्य वेगं कालं च चिन्तयज्ज्वर्यते तु यः ।** च. चि. ३२३(b)
**तस्येष्टैस्तु विचित्रैश्च विषयैर्नाशयेत् स्मृतिम् ।।** ३२४(a)

जो व्यक्ति ज्वर वेग के समय को बारबार याद करता है और उस नियतकाल

पर उसे ज्वर आता भी है तो ऐसे व्यक्ति में उसका मन उस समय किसी मनोनुकूल विषय में लगे व उसे ज्वर वेग के समय की स्मृति न हो ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये। जब समय का स्मरण नहीं होगा तब ज्वरोत्पत्ति भी नहीं होगी।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी 'ज्वर कालस्मृतिं चास्य हारिभिर्विषयै हरेत्'। ऐसा कहते हुए चरकाचार्य का अनुमोदन किया है।

## ४९. पुनरावर्तक ज्वर की चिकित्सा–

**निर्वृत्तेऽपि ज्वरे तस्माद्यथावस्थं यथाबलम्।**
**यथाप्राणं हरेद्दोषं प्रयोगैर्वा शमं नयेत्॥** च. चि. १/३३९

ज्वर के पुनः लौट आने पर अवस्था, बल और प्राण अर्थात् आभ्यन्तर बल के अनुसार दोषों का पूर्णरूप से हरण करे अर्थात् शोधन करें या शमन औषधी का प्रयोग कर दोषों को शान्त करें।

किसी भी रोग में पुनरावर्तन की संभावना रहती है। इसके मुख्य दो कारण है। (१) अपूर्ण चिकित्सा (२) आहार विहार के नियमों का अर्थात् पथ्य का पालन नहीं करना। यहीं नियम ज्वर को भी लागू होता है। इस पुनरावर्तन में वह किस अवस्था में फिर से लौट के आ रहा है यह चिकित्साकी दृष्टीसे सबसे महत्वपूर्ण है। इसलिये अवस्थाका उल्लेख सर्वप्रथम है। तत्पश्चात् दोषों का शोधन या शमन करना चाहिये। इसलिये चरकाचार्य ने ही आगे कहा है,

**तस्यां तस्यामवस्थायां ज्वरितानां विचक्षणः।**
**ज्वरक्रियाक्रमापेक्षी कुर्यात्तत्तचिकित्सितम्॥** च. चि. ३/३४४

अर्थात्, ज्वर में चिकित्साक्रम की अपेक्षा करने वाले वैद्य ने ज्वरी की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में बतायी गयी चिकित्सा का प्रयोग पुनरावर्तक ज्वर में करना चाहिये।

## ५०. पुनरावर्तक ज्वर चिकित्सा–

**मृदुभिः शोधनैः शुद्धिर्यापना वस्तयो हिताः।**
**हिताश्च लघवो यूषा जाङ्गलाभिषजा रसाः॥**
**अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानधूपनान्यञ्जनानि च।**
**हितानि पुनरावृत्ते ज्वरे तिक्त घृतानि च॥**
**गुर्वभिषन्द्यसात्म्यानां भोजनात् पुनरागते।**
**लङ्घनोष्णोपचारादिः क्रमः कार्यश्च पूर्ववत्॥**

च. चि. ३/३४०, ३४१, ३४२

ज्वर के पुनरावर्तन में,

१. मृदु संशोधन द्वारा दोषों की शुद्धि, यापन बस्ति का प्रयोग और भोजन में जाङ्गल पशुपक्षियों के मांस का रस हितकर होता है।

२. अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, स्नान, धूप, अञ्जन और तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृतपान हितकर होता है।

३. गुरु, अभिष्यन्दी एवं असात्म्य भोजन करने से पुनरावर्तक ज्वर आया हो तो लंघन व उष्ण चिकित्सा का क्रम सामान्य ज्वर के समान पूर्ववत् करना चाहिए।

## ५१. जीर्ण ज्वर में घृतपान–

जीर्णज्वरेषु तु सर्वेष्वेव सर्पिषः पानं प्रशस्यते यथास्वौषध सिद्धस्य सर्पिर्हि स्नेहाद्वातं शमयति, संस्कारात् कफं, शैत्यात् पित्तमूष्माणं च, तस्माज्जीर्णज्वरेषु सर्वेष्वेव सर्पिर्हितमुदकमिवाग्निप्लुष्टेषु द्रव्याष्विति। च. चि. १/३७

जीर्णज्वर में दोषानुसार औषधों से सिद्ध घृत का प्रयोग करना प्रशस्त अर्थात् हितकारक है। घृत अपने स्निग्ध गुण से वात को, संस्कार से कफ को तथा शीत गुण के कारण पित्त तथा उष्मा को शांत करता है। अतः जिस प्रकार अग्नि से जले द्रव्यों को जल छिड़कने से लाभ होता है वैसे ही सभी जीर्ण ज्वर में घृत हितकारी होता है।

# मदात्यय चिकित्सा

## १. मदात्यय-सामान्य चिकित्सा सूत्र– १

**सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषमधिकं तु यम्।**
**दोषं मदात्यये पश्येत् तस्यादौ प्रतिकारयेत्।।**

च. चि. २४/१०७

सर्व मदात्यय त्रिदोषज होते है। लेकिन चिकित्सा करते समय जिस दोष की अधिकता दिखाई पड़े उस दोष का प्रतिकार सर्वप्रथम करना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी, 'यं दोषमधिकं पश्येत्तस्यादौ प्रतिकारयेत्', ऐसा कहते हुए चरकाचार्य का अनुमोदन किया है। सुश्रुताचार्य ने इसपर कोई टिप्पणी नहीं की है।

## २. सामान्य चिकित्सा सूत्र– २

**कफस्थानानुपूर्व्या च क्रिया कार्या मदात्यये।**
**पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण ही मदात्ययः।।** च. चि. २४/१०८

मदात्यय में कफस्थान की आनुपूर्वी चिकित्सा करनी चाहिये, अर्थात् कफ की चिकित्सा सर्वप्रथम करनी चाहिये। क्योंकि प्राय: मदात्यय में पित्त और वायु का प्रकोप अंत में होता है।

इसपर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणिदत्त कहते है, कफस्थानानुपूर्व्या चात्र चिकित्सा कफस्थानोद्भूततया प्रथमं कफसंबन्धात् सन्निपातज्वर इव ज्ञेया। आदौ कफप्रबलतामेवाह–पित्तमारुतपर्यन्त इति; अनेन चार्थात् कफादित्वं लम्भयति। अर्थात् यह रोग कफस्थान से उत्पन्न होने के कारण कफ की चिकित्सा पहले करनी चाहिये जैसे की सन्निपातज्वर में होता है। इस रोग में कफ की प्रबलता रहने से व पित्त और वायु का प्रकोप अंत में होने से 'पित्तमारुतपर्यन्त:' ऐसा कहा है।

### ३. मदात्यय में मद्य प्रयोग–

**मिथ्यातिहीनपीतेन यो व्याधिरुपजायते।**
**समपीतेन तेनैव समद्येनोपशाम्यति॥** च. चि. २४/१०९

अनुचित रूप से, अधिक मात्रा में या हीन मात्रा में मदिरापान करने से जो व्याधि उत्पन्न होते है वह उसी मदिरा को सम मात्रा में पीने से शान्त हो जाते है।

'समपीतेन तेनैव' पर टीका करते हुए चक्रपाणि ने कहा है कि 'समपीतेन' से उसी जाति की मदिरा का ग्रहण करना चाहिये। लेकिन कुछ लोगों के मतानुसार अन्य प्रकार की मदिरा का प्रयोग ज्यादा उचित है लेकिन जेज्जट ने सुश्रुत का आधार लेकर उसी जाति की मदिरा का प्रयोग करना चाहिये ऐसा कहा है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इन दोनों मतों का स्पष्टीकरण कुछ इसप्रकार किया है। मिथ्यापान, अतिपान व हीनपान से उत्पन्न व्याधि में उसी जाति के मद्य सेवन से उपशय मिलता है। क्योंकि मद्य का विष से सादृश्य है। लेकिन विष तीक्ष्णादि गुण से युक्त होने के कारण उससे उत्पन्न रोगों में दूसरे विष के प्रयोग की अपेक्षा रहती है। अर्थात् मद्य में यह स्थिति न रहने के कारण समान जाति के मद्य का ही प्रयोग करना चाहिये।

**४. जीर्णाममद्यदोषाय मद्यमेव प्रदापयेत्।**
**प्रकाङ्क्षालाघवे जाते यद्यदस्मैहितं भवेत्॥** च. चि. २४/११०

आममद्यदोष के जीर्ण हो जाने पर जब रोगी को भूख लग गई हो व शरीर में हलकापन उत्पन्न हो गया हो तब रोगी के लिये हितकर मद्य का प्रयोग करना चाहिये।

अष्टाङ्ग संग्रहकार ने इसी श्लोक को इस प्रकार लिखा है।

**जीर्णाममद्यदोषस्य प्रकाङ्क्षालाघवे सति ।**
**यौगिकं विधिवद्युक्तं मद्यमेवनिहन्ति तान् ।।** अ. हृ. चि. ७/७

५. **मद्योत्किष्टेन दोषेण रुद्धः स्रोतःसु मारुतः ।**
**करोति वेदनां तीव्रां शिरस्यास्थिषु सन्धिषु ।।**
**दोषविष्यन्दनार्थं हि तस्मै मद्यं विशेषतः ।**
**व्यवायितीक्ष्णोष्णतथा देयमम्लेषु सत्स्वपि ।।**
च. चि. २४/११७-११८

मद्य द्वारा उत्किष्ट दोषों से स्रोतसों में रुकी हुई वायु सिर, अस्थि एवं सन्धियों में तीव्र वेदना उत्पन्न करती है। ऐसी दशा में दोषों के विष्यन्दनार्थ, अर्थात् उन्हें गीला कर निकालने के लिये अन्य अम्ल द्रव्यों के रहते हुए भी व्यवायी, तीक्ष्ण व उष्ण होने के कारण विशेष रूप से मद्य सेवन कराना ही उचित है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने ऊपर के दो पंक्तियों को दोहराते हुए आगे कहा है,

**जीर्णाममद्यदोषस्य प्रकाङ्क्षालाघवे सति ।**
**यौगिकं विधिवद्युक्तं मद्यमेवनिहन्ति तान् ।।** अ. हृ. चि. ६/७

अर्थात्, मद्यजन्य आमदोष पक्व होने पर व मद्य पीने की इच्छा कम होने पर शास्त्रोक्त रीति से निर्मित मद्य यथाविधि सेवन करने पर मदात्यय से उत्पन्न उपरोक्त विकार नष्ट होते है। आगे वे कहते है,

**क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः ।**
**मद्यमम्लेषु हि श्रेष्ठं दोषविष्यन्दनादलम् ।।** अ. हृ. चि. ६/८

अर्थात् अम्लरस का संपर्क होने पर क्षार को तत्काल माधुर्य प्राप्त होता है। (इसलिये) मद्य उसके दोषविष्यन्दन (दोषों को पतला बनाने के) गुणधर्म के कारण सभी अम्ल द्रव्यों में श्रेष्ठ माना जाता है।

**६. पित्तकफज मदात्यय में वमन–**

**आमाशयस्थमुत्किष्टं कफ पित्तं मदात्यये ।**
**विज्ञाय बहुदोषस्य दह्यमानस्य तृष्यतः ।।**
**मद्यये द्राक्षारसं तोयं दत्वा तर्पणमेव वा ।**
**निःशेषं वामयेच्छीघ्रमेवं रोगद्विमुच्यते ।।**
च. चि. २४/१४१-१४२

मदात्यय रोग में आमाशय में कफ व पित्त उत्किष्ट अवस्था में है ऐसा तब

समझना चाहिये जब दोष अधिक मात्रा में पाए जाय और वह व्यक्ति दाह एवं प्यास इन लक्षणों से पीडित हो। इस अवस्था में मद्य में अंगूर का रस व जल मिलाकर या तर्पण अर्थात् जल में सत्तू घोलकर व उसे पिलाकर शीघ्रता से वमन कराना चाहिये जिससे रोग शान्त हो जाता है।

यहां वमन के लिये 'निःशेष वमन' ऐसा शब्द प्रयोग किया है जिससे ऐसा वमन अपेक्षित है जिसमें कोई दोष शेष न रहे हो। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी पित्तकफज मदात्यय में गन्ने का रस व मद्य अथवा द्राक्षारस पीकर वमन करने के लिये कहा है व तत्पश्चात् शेष दोषों के पाचन के लिये पेया, विलेपी आदि से संसर्जन क्रम का प्रयोग करने के लिये कहा है। अ. हृ. चि. ६/२२, २३। सुश्रुताचार्य ने भी इक्षुरस व मद्य का आकंठपान या गुडूची छोड़ काकोल्यादि गण की औषधियों से सिद्ध क्वाथ में मद्य मिलाकर आकंठ पान कर वमन करने के लिये कहा है। तत्पश्चात लावा, तीतर आदि के मांस रस से या अनार का रस व मूंग से सिद्ध यूष से संसर्जन क्रम का पालन करने के लिये कहा है।

### ७. कफज मदात्यय में वमन व उपवास–

**उल्लेखनोपवासाभ्यां जयेत् कफ मदात्ययम्।** च. चि. २४/१६४

कफज मदात्यय को वमन व उपवास द्वारा जीतना चाहिये। कफज मदात्यय में प्यास लगने पर हाउबेर, बला, पृश्नपर्णी कंटकारी अथवा सोंठ इनमें से किसी एक से सिद्ध जल का ही प्रयोग करने के लिये चरकाचार्य ने कहा है। लेकिन सुश्रुताचार्य ने कन्दूरी व वेतसफल से सिद्ध जल में मद्य मिलाकर वमन कराने के लिये कहा है। तत्पश्चात जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस का तिक्त कटु रसात्मक द्रव्यों से सिद्ध कर सेवन करने के लिये कहा है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने चरक मत को ही दोहराया है। यह चिकित्सा विशेष रूप से आमपाचनार्थ बतायी गयी है।

### ८. निराम कफज मदात्यय चिकित्सा–

**निरामं कांक्षितं काले सक्षौद्रंपाययेत्तुतम्।**
**शार्करं मधु वा जीर्णमरिष्टं सीधुमेव वा।।**
**रुक्षतर्पण संयुक्तं यवानी नागरान्वितम्।**

च. चि. २४/१६८-१६९

कफज मदात्यय के रोगी को जब निरामावस्था प्राप्त हो और वह भोजन करने की इच्छा करे तो उसे शर्करा से बना हुआ या मधु से बना हुआ पुराना अरिष्ट या सीधु

में रुक्ष और तर्पण मिलाकर तथा अजवाईन और सोंठ का चूर्ण मिलाकर पीने के लिये देना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी मत को दोहराया है और सुश्रुताचार्य ने इस अवस्था का स्वतंत्र वर्णन नहीं किया है।

## ९. सान्निपातिक मदात्यय चिकित्सा–

**यदिदं कर्मनिर्दिष्टं पृथग्दोषबलं प्रति।**
**सन्निपाते दशविधे तद्विकल्प्यं भिषग्विदा।।** च. चि. २४/१८९

यहां जो वातादि दोषों के बलानुसार चिकित्साक्रम बताया है उसी के आधार पर दस प्रकार के सन्निपातज मदात्यय में चिकित्सा की कल्पना करनी चाहिये।

वैसे सन्निपात १३ प्रकार के होते है, लेकिन मदात्यय रोग प्रकृतिसमसमवेत होने के कारण १० प्रकार के सन्निपात का ही उल्लेख किया है। संक्षेप में, पृथक् दोषजन्य मदात्यय चिकित्सा का ही मिश्रित प्रयोग सन्निपातज मदात्यय में चरकाचार्य को अपेक्षित है।

सुश्रुताचार्य ने सन्निपातज मदात्यय में सर्व दोषों को नष्ट करनेवाली चिकित्सा का व द्वंद्वज मदात्यय में प्रधान दोष को ध्यान में रखकर चिकित्सा करने को कहा है। इसके साथ साथ जो भी सामान्य तथा विशिष्ट आहार विहार अपेक्षित है उसका भी पालन करने के लिये कहा है। सु. उ. ४७/२९-३०

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी चरकाचार्य का अनुमोदन किया है। अ. हृ. चि. ७/ ४२b, ४३a

## १०. मदात्यय में हर्षणी क्रिया–

**ना क्षोभ्यं हि मनोमद्यं शरीरमविहत्य च।**
**कुर्यान्मदात्ययं तस्मादेष्टव्या हर्षणी क्रिया।।** च. चि. २४/१९४

मन में क्षोभ व शरीर में उपघात किये बगैर मद्य मदात्यय रोग को उत्पन्न नहीं करता। इसलिये मदात्यय की चिकित्सा में मन में हर्ष उत्पन्न करनेवाली क्रिया करनी चाहिये जिससे रोगी का मन व शरीर स्वस्थ हो जाते है।

सुश्रुताचार्य ने पित्तज मदात्यय के दाह आदि लक्षणों के शमनार्थ कई प्रकार के हर्षणी क्रियाओं का वर्णन किया है लेकिन सामान्य चिकित्सा सूत्र के रूप में उसका कहीं उल्लेख नहीं है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने चरकमत का अनुमोदन किया है। अ. हृ. चि. ७/४६b, ४७a

## ११. मदात्यय में दुग्ध प्रयोग–

**आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिः शमं याति मदात्ययः ।**
**न चेन्मद्यविधिं मुक्त्वा क्षीरमस्य प्रयोजयेत् ।।** च. चि. २४/१९५

सामान्यतः उपरिनिर्दिष्ट सिद्ध चिकित्सा क्रम से मदात्यय रोग शान्त हो जाता है। लेकिन यदि ऐसा न हुआ तो मद्यसेवन विधि को छोड़कर दुग्ध का प्रयोग करना चाहिये।

सुश्रुताचार्य ने तृष्णानिरोधजदाह में शर्करायुक्त दूध अधिक मात्रा में पीने को कहा है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने चरक मत का ही अनुमोदन किया है। वे कहते हैं,

**संशुद्धिशमनाद्येषु मददोषः कृतेष्वपि ।।** अ. हृ. ७/४७
**न चेच्छाम्येत्कफे क्षीणे जाते दौर्बल्य लाघवे ।**
**तस्यमद्यविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य च ।।** अ. हृ. ७/४८
**ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः ।**

अर्थात्, शोधन व शमनोपाय से जिसका मदात्यय कम नहीं होता, सिर्फ कफ क्षीण होता है और दौर्बल्य तथा लघुता उत्पन्न होती है उसे व मद्य से विदग्ध तथा वायु व पित्त जिसमें वृद्ध हुआ है ऐसे व्यक्ति में दूध का प्रयोग ग्रीष्म ऋतु में तप्त वृक्ष को वर्षा जिस प्रकार शामक होती है उस प्रकार शामक होता है।

## १२. ध्वंसक तथा विक्षय की चिकित्सा–

**तयोः कर्म तदेवेष्टं वातिके यन्मदात्यये ।**
**तौ हि प्रक्षीणदेहस्य जायते दुर्बलस्य वै ।।** च. चि. २४/२०३

वातज मदात्यय में जो चिकित्सा बतायी है वही ध्वंसक व विक्षय रोग में इष्ट होती है। ध्वंसक और विक्षय क्षीण देह और दुर्बल पुरुष को ही होता है।

इन रोगों की दो विशेषताओं का उल्लेख चरकाचार्य ने किया है। एक तो जो व्यक्ति मद्य का त्याग करने के बाद पुनः मद्यपान शुरु करता है उस व्यक्ति को यह रोग होते है और जिन लोगों का शरीर क्षीण हो गया हो उनके लिये इन रोगों की चिकित्सा करना अत्यन्त कठिन होता है। सुश्रुताचार्य ने इनका उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने मदात्यय में ही पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण व पानविभ्रम इन चार रोगों का वर्णन किया है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी चरक मत का अनुमोदन करते हुए ध्वंसक व विक्षय रोग पर बृंहण व वातशामक चिकित्सा का प्रयोग करने के लिये कहा है।

●

## दशमोऽध्यायः

# रक्तवह स्रोतस

## रक्तपित्त

### १. सामान्य चिकित्सा क्रम–

**अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः ।**
**तद्दोषदुष्टमुक्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति ।।** च. चि. ४/२५

जिस रक्तपित्त के रोगी का बल व मांस क्षीण न हुआ हो तथा वह उचित रूप से भोजन करता हो ऐसे रोगी में दोषों से दुष्ट व उत्क्लिष्ट रक्त के रोकने का प्रयास चिकित्सा के प्रारंभ में नहीं करना चाहिये ।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणिदत्त कहते है, अश्नत इत्यनेन संतर्पणोत्थितं दर्शयति । उत्क्लिष्टमिति प्रवृत्युन्मुखम्, आमदोषाश्रितत्वात् । चक्रपाणि, अर्थात् इस सूत्र में 'अश्नत' शब्द से संतर्पण दर्शाया गया है । उत्क्लिष्ट का अर्थ यहां बाहर निकलने के लिये प्रवृत् व आमदोष मे आश्रित ऐसा समझना चाहिये ।

जो रक्तपित्त संतर्पणजन्य है और आमाश्रित है वह उर्ध्वग रक्तपित्त है ऐसा अनुमान हम लगा सकते है । चरकाचार्य ने कहा भी है कि उर्ध्वग रक्तपित्त सामान्यत: कफ संसृष्ट होता है और स्निग्ध तथा उष्ण आहार उसके प्रधान कारणों में से है । सुश्रुताचार्य ने 'नादौ संग्राह्यमुद्रिक्तं यदसृग् बलिनोऽश्नत:' अर्थात् बलवान तथा भोजन करनेवाले रोगी में अत्यधिक बढ़े रक्तस्राव को संग्राही औषधियों से रोकना नहीं चाहिये ऐसा कहा है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी का अनुमोदन किया है । उन्होंने 'उत्किष्ट' या 'उद्रिक्त' इन शब्दों का प्रयोग न करते हुए 'अशुद्ध' शब्द का प्रयोग किया है । अश्नितो बलिनोऽशुद्धं न धार्यं तद्धि रोगकृत । अ. हृ. चि. २/८ । इस दुष्ट रक्त का स्तम्भन करने पर कौन कौन सी व्याधियां उत्पन्न होती है इसका भी वर्णन तीनों ग्रंथकारों ने किया है । लेकिन रक्तपित्त में रक्तस्राव की प्रारंभ में उपेक्षा यदि रोगी बलवान हो तो ही करनी चाहिये । दुर्बल रोगी में प्राणरक्षण के लिये रक्तस्तंभन अत्यावश्यक माना गया है ।

### २. रक्तपित्त में लङ्घन–

**प्रायेण हि समुत्क्लिष्टमामदोषाच्छरीरिणाम् ।**
**वृद्धिं प्रयाति पित्तासृक् तस्मात्तल्लङ्घयमादितः ।।** च. चि. ४/२९

प्राय: शरीर में आमदोष बढ़ने के कारण पित्त और रक्त वृद्धि को प्राप्त होते है अर्थात् बढ़ जाते है । अत: आमदोष के पाचनार्थ प्रारम्भ में लंघन का प्रयोग करना चाहिये ।

आमपाचन के लिये लंघन यह सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त है । सुश्रुताचार्य ने जिस रोगी के दोष बढ़े हो तथा जिसका पाचकाग्नि, बल व मांस क्षीण न हुए हो ऐसे रोगी में अपतर्पण अर्थात् लंघन का प्रयोग करने के लिये कहा है । यहां अपतर्पण से दस प्रकार के लंघन का ग्रहण करना चाहिये ।

**अतिप्रवृद्ध दोषस्य पूर्वं लोहितपित्तिनः ।**
**अक्षीण बल मांसाग्नेः कर्तव्यमपतर्पणम् ।।** सु. उ./४५/१४

अष्टांग हृदयकार ने रोग व रोगी के अवस्था का विचार कर तदनुरूप लंघन का प्रयोग करने को कहा है ।

### ३. रक्तपित्त में लङ्घन व तर्पण का प्रयोग–

**मार्गौ दोषानुबन्धं च निदानं प्रसमीक्ष्य च ।**
**लङ्घनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत् ।।** च. चि. ४/३०

रक्त का मार्ग, दोषों का अनुबन्ध, रोग का निदान, अर्थात् कारण की समीक्षा कर रक्तपित्त में प्रारंभ में लंघन या तर्पण का प्रयोग करना चाहिये ।

इस सूत्र पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणि कहते है, तत्रोर्ध्वमार्गः, सामं पित्तं, कफो दोषः, स्निग्धोष्णं च निदानम् लङ्घनप्रयोजकं, तद्व्यतिरिक्तं तु मार्गादि भोजनरुपतर्पण प्रयोजकम् । अर्थात् यदि कफ का अनुबन्ध हो तो रक्त ऊर्ध्व मार्ग से निकलता है, इसमें पित्त सामावस्था में रहता है और स्निग्ध तथा उष्ण (आहार) इसका कारण होता है । इसलिये इस अवस्था में लङ्घन कराना चाहिये । जिससे साम पित्त व कफ का पाचन हो । इसके व्यतिरिक्त हो अर्थात् अधोग रक्तपित्त हो तो वात का अनुबन्ध है ऐसा जानना चाहिये । इसमें रुक्ष व उष्ण गुण के कारण पित्त पक्वावस्था में रहता है । अत: लङ्घन न कराकर तर्पण का प्रयोग करना चाहिये । यहां तर्पण का अर्थ भोजन है । यवागु आदि से भोजन । योगेन्द्रनाथ सेन के मतानुसार तर्पण से बृंहण समझना चाहिये । तर्पयतीति तर्पणमशनम्, बृंहणमिति यावत् ।

सुश्रुताचार्य ने लंघन के पश्चात् तर्पण, पाचन के प्रयोग, अवलेह और विविध प्रकार के घृतों का प्रयोग करने के लिये कहा है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी रक्तपित्त का कारण, मार्ग, सहाय्यकारी दोष, रोगी की शक्ति, देशकाल की विविध अवस्थाओं का विचारकर प्रथम लंघन, बृंहण, शोधन व शमन का प्रयोग करने को कहा है । अ. हृ. चि. २/३-४

४. **ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेयां पूर्वमधोगते।**
**कालसात्म्यानुबन्धज्ञो दद्यात् प्रकृतिमल्पवित्।।** च. चि./४/३२

काल, सात्म्य, दोषों का अनुबन्ध (द्रव्यों की) प्रकृति एवं पथ्य को जाननेवाले वैद्य ने लङ्घन के बाद उर्ध्वग रक्तपित्त में प्रथम तर्पण का प्रयोग व अधोग रक्तपित्त में प्रथम पेया का प्रयोग कराना चाहिये।

इसका स्पष्टीकरण चक्रपाणी दत्त ने इस प्रकार किया है। 'पूर्वमिति पदेन पश्चात् बलऱ्हासकारकं निषेधयति। कालः हेमन्तादिः, अनुबन्धः दोषानुबन्धः। प्रकृतिः स्वाभाविकी द्रव्याणां गुरूलाघवादिरूपा, कल्पनं कल्पः संस्कार इत्यर्थः। एतेन कालं दोषानुबन्धं च ज्ञात्वा यस्य यत्स्वभावं द्रव्यं युक्तं भवति तेन तर्पणं यवागूर्वा कार्येत्यर्थः। संक्षेप में बाद में तर्पण का प्रयोग बलऱ्हासकर होने से निषिद्ध है इसलिये सर्वप्रथम तर्पण व पेया का विधान बताया है। काल से हेमन्त आदि ऋतु, अनुबन्ध से दोषों का संबंध, प्रकृति से द्रव्यों की गुरु लाघवादि स्वाभाविक प्रकृती, व कल्प से कल्प संस्कार का ग्रहण करना चाहिये। इसलिये काल, दोषों का अनुबन्ध आदि का ज्ञान कर जिसका जो स्वभाव है उसके अनुसार द्रव्य निश्चित कर तर्पण अथवा यवागु का प्रयोग करना चाहिये।

सुश्रुताचार्य ने लंघन पश्चात् जिसमें चावल कम हो ऐसी पेया तथा सुगन्धित और स्नेह से संस्कृत मांसरस तथा मुद्गादि यूष का प्रयोग करने को कहा है। इसके अलावा तर्पण एवं पाचन के प्रयोग अवलेह, घृत इनका भी प्रयोग करने को कहा है। सु. उ. ४५/१५ लेकिन इसमें उर्ध्वग रक्तपित्त में और अधोग रक्तपित्त में किसका प्रयोग करना चाहिये यह नहीं बताया गया है।

### ५. रक्तपित्त में वमन विरेचन–

**अक्षीणबलमांसस्य यस्य संतर्पणोत्थितम्।**
**बहुदोषं बलवतो रक्तपितं शरीरिणः।।** च. चि. ४/५५
**काले संशोधनार्हस्य तद्धरेन्निरुपद्रवम्।**
**विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन च।।** च. चि. ४/५६

जिस रोगी का बल और मांस क्षीण न हुआ हो, जिसका रक्तपित्त संतर्पण से उत्पन्न हुआ हो, जिसके शरीर में दोष अधिक हो तथा जो बलवान हो, संशोधन करने योग्य हो और उसका रोग उपद्रव रहित हो ऐसे मनुष्यों के लिये उर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन का व अधोंग रक्तपित्त में वमन का प्रयोग करना चाहिये।

चक्रपाणी के अनुसार 'अक्षीण बल' शब्द से सहज बल का और 'बलवतो'

से कालकृत् बल का ग्रहण करना चाहिये । सुश्रुताचार्य ने अध:प्रवृत्तं वमनैरुर्ध्वगं च विरेचनैः । ऐसा कहते हुए चरकमत का ही अनुमोदन किया है । इस पर टिप्पणी करते हुए डल्हण ने शंका उपस्थित की है की अधोग रक्तपित्त वातानुबंधी होने पर भी बस्ति या स्नेहपान न बताकर वमन का प्रयोग व उर्ध्वग रक्तपित्त कफानुबंधी होने पर भी वमन का प्रयोग न बताकर विरेचन का प्रयोग बताया है । अधोग रक्तपित्त में वमन व उर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन यह व्याधिप्रत्यनिक चिकित्सा है यहीं इन दोनों प्रश्नों का उत्तर है । अष्टाङ्गहृदयकार ने भी चरक मत का ही अनुमोदन किया है । रक्तपित्त अध्याय के साठवें श्लोक में 'अधोवहे रक्तपित्ते वमनं परमुच्यते' कहकर इस सूत्र का पुनरुच्चार किया है ।

## ६. शोधन पश्चात उपक्रम–

**उर्ध्वगे शुद्धकोष्ठस्य तर्पणादिःक्रमो हितः ।**
**अधोगतेयवाग्वादिर्नचेत्स्यान्मारुतो बली ।।** च. चि. ४/६१

शोधन के पश्चात उर्ध्वग रक्तपित्त में तर्पण आदि का प्रयोग व अधोग रक्तपित्त में शोधन के पश्चात् यवागू आदि का प्रयोग करना चाहिये । लेकिन यवागू प्रयोग के पहले वायु तो बलवान नहीं है यह समझ लेना चाहिये ।

वायु के बल को समझने का तात्पर्य चक्रपाणी ने स्पष्ट किया है । न चेत् स्थानमारुतो बलीत्यनेन यदि मारुतो बली स्यात्तदा मांसौदन एव देय इति ज्वरोक्तं विधिं सूचयति । अर्थात् यदि वायु बलवान है तो यवागू का प्रयोग नहीं किया जाता किन्तु मांसौदन अर्थात् मांसरस (या मांस और चावल) का प्रयोग किया जाता है, जैसा की ज्वराधिकार में बताया गया है ।

## ७. रक्तपित्त में शमन चिकित्सा–

**बलमांसपरिक्षीणं शोकभाराध्वकर्शितम् ।**
**ज्वलनादित्यसंतप्तमन्यैर्वा क्षीणमामयैः ।।**
**गर्भिणीं स्थविरं बालं रुक्षाल्पप्रमिताशिनम् ।**
**अवम्यमविरेच्यं वा यं पश्येद्रक्तपित्तिनम् ।।**
**शोषेण सानुबन्धं वा तस्य संशमनी क्रिया ।**

च. चि. ४/६२,६३,६४

जिसका बल व मांस क्षीण हो गया हो, जो शोक के कारण, भार उठाने के कारण या रास्ता चलने के कारण कृश हो गया हो, जो अग्नी या सूर्य के ताप से संतप्त हो अथवा किसी अन्य रोग के कारण जिसका शरीर क्षीण हो गया हो ऐसे

रक्तपित्त के रोगी, तथा गर्भिणी, वृद्ध, बालक, अल्प तथा प्रमित भोजन करनेवाले तथा जिनमें वमन व विरेचन निशिद्ध है ऐसे रक्तपित्त के रोगी तथा जिस रक्तपित्त के रोगी में यक्ष्माका अनुबन्ध प्रतीत होता हो ऐसे रक्तपित्त में संशमन चिकित्सा उत्तम होती है।

सुश्रुताचार्यने बलमांसादि से क्षीण हुए पुरुष में, चाहे उर्ध्वग रक्तपित्त हो या अधोग रक्तपित्त, शमन चिकित्सा का ही प्रयोग करने के लिये कहा है। जयेदन्यतरद्वाऽपि क्षीणस्य शमनैरसृक्। सु. उ. ४५/१३ अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी रोगी बलवान न रहने पर, रोग अपतर्पणजन्य रहने पर व दोष क्षीणबल रहने पर रक्तपित्त में लंघन योग्य होने पर शमन चिकित्सा का व बृंहण योग्य होने पर बृंहण का प्रयोग करने को कहा है। शमनैर्बृहणैश्चान्यल्लङ्घ्यबृंह्यानवेक्ष्य च। अ. हृ. चि /२/७

## ८. रक्तपित्त में अभ्यङ्ग आदि–

**अभ्यङ्गयोगाः परिषेचनानि सेकावगाहाः शयनानिवेश्म।**
**शीतो विधिर्वस्तिविधानमग्र्यं पित्तज्वरे यत् प्रशमाय दिष्टम्॥**

च. चि. ४/९१

**तद्रक्तपित्ते निखिलेन कार्यं कालं च मात्रां च पुरा समीक्ष्य।**

अभ्यङ्ग, परिषेचन, सेक, अवगाह, शयनव्यवस्था, धारागृह आदि शीतल क्रीयायें, तथा पित्तज्वरकी शान्ति के लिये बतायी शीतल बस्तियां आदि का प्रयोग काल, मात्रा आदि का विचार कर रक्तपित्त चिकित्सा में करना चाहिए।

इसी सूत्र का चरकाचार्य ने विस्तार करते हुए रक्तपित्त में उपयोगी शीतल क्रीयाओं का वर्णन इसी अध्याय के अंत में किया है। उसमें धारागृह, शीतभूमिगृह, सुंदर बगीचा, वैदूर्य व मोती जैसे शीतल मणिओं का स्पर्श, शीतल शयन के लिये कमल, केले के पत्ते, हिमालय की कंदराओं ने विचरण, पूर्णचंद्र का उदय, मनोनुकूल कथा सुनना आदि कई रक्तपित्त शामक प्रयोगों का उल्लेख है। उसे यथास्थल देखें। च. चि. ४/१०६, १०७, १०८, १०९

सुश्रुताचार्य ने भी शीतोपारं मधुरञ्च कुर्य्या द्विशेषतः शोणित पित्तरोगे। ऐसा कहते हुए सभी शीतोपचार व मधुर रस का प्रयोग रक्त पित्त में करने के लिए कहा है। उन्होंने रक्तपित्त में उपयोगी वस्तियों का भी स्वतंत्ररूप से वर्णन किया है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी शीतवर्ग की औषधियों से लेप, अभ्यङ्ग आदि का प्रयोग करने के लिए कहा है। वैसे ही पित्तज ज्वर, उरःक्षत व क्षय में प्रयुक्त आभ्यन्तर व बाह्य औषधीप्रयोग रक्त पित्त में भी हितकारी होते हैं।

**कल्पयेच्छीतवर्गं च प्रदेहाभ्यञ्जनादिषु ।।** अ. हृ. चि. २/४९b
**यच्चपित्तज्वरे प्रोक्तं बहिरन्तश्च भेषजम् ।**
**रक्तपित्ते हितं तच्च क्षतक्षीणे हितं च यत् ।।** अ. हृ. चि. २/५०

## कुष्ठ

### १. कुष्ठ में दोषबलानुसार चिकित्सा–

**सर्वं त्रिदोषजं कुष्ठं दोषाणां तु बलाबलम् ।**
**यथास्वैर्लक्षणैर्बुद्ध्वा कुष्ठानां क्रियते क्रिया ।।** च. चि. ७/३१
**दोषस्य यस्य पश्येत् कुष्ठेषु विशेषलिङ्गमुद्रिक्तम् ।**
**तस्यैव शमं कुर्यात्ततः परं चानुबन्धस्य ।।** च. चि. ७/३२

सभी कुष्ठं त्रिदोषज होते हैं । इसलिये कुष्ठ में लक्षणों द्वारा दोषों का बलाबल जानकर चिकित्सा करनी चाहिये । कुष्ठ में जो विशिष्ट या विशेष लक्षण उत्पन्न हुए हो उनकी चिकित्सा पहले करनी चाहिये व तदुपरांत अप्रधान लक्षणों की चिकित्सा करनी चाहिए ।

यह चिकित्सा की दृष्टी से महत्वपूर्ण सूत्र है । सामान्य शब्दों में ये कहा जा सकता है की रुग्ण को जिस लक्षण से तकलीफ जादा हो उस लक्षण की चिकित्सा सर्वप्रथम करनी चाहिए ।

### २. कुष्ठ में दोषानुसार चिकित्सा–

**वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु ।**
**पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्रे ।।** च. चि. ७/३९

वातप्रधान कुष्ठ में सर्वप्रथम घृतपान कराना चाहिए । वैसे ही कफ प्रधान कुष्ठों में सर्वप्रथम वमन का व पित्तप्रधान कुष्ठों में सर्वप्रथम रक्तमोक्षण व विरेचन का प्रयोग करना चाहिए ।

सुश्रुताचार्य ने कुष्ठ के पूर्वरूप में ही वमन व विरेचन का प्रयोग करने के लिए कहा है । तत्पश्चात कुष्ठ की धातुगतावस्था के अनुसार चिकित्साक्रम का वर्णन किया है । उदाहरणार्थ, त्वचागत कुष्ठ में (रसगत) शोधन द्रव्योंका लेप, रक्तगतकुष्ठ में संशोधन, आलेपन, कषायपान, रक्तमोक्षण, मांसगत कुष्ठ में शोधन, आलेपन, कषायपान, रक्तमोक्षण तथा अरिष्ट, मन्थ व प्राश का आभ्यन्तर प्रयोग करना चाहिए । मेदगत कुष्ठ प्रभूत उपकरण वाले व सम्यक् आहार विहार करनेवाले व्यक्ति में ही याप्य होता है । इसमें संशोधन, रक्तमोक्षण आदि का प्रयोग करना चाहिये । इसके

बाद के अस्थि आदि धातुओं में आश्रित कुष्ठ असाध्य होता है। सु. चि. ९/७ अष्टाङ्ग हृदयकार ने चरकाचार्यका अनुमोदन किया है। अ. हृ. चि. १९/९२

## ३. कुष्ठ में रक्तमोक्षण–

**प्रच्छनमल्पे कुष्ठे महति च शस्तं सिराव्यधनम्।** च. चि. ६/४०b

अल्प दोष वाले कुष्ठ में प्रच्छान कर व बहुदोषवाले कुष्ठ में सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिये।

चरकाचार्य ने पित्तप्रधान कुष्ठ में व सुश्रुताचार्य ने रक्तगत, मांसगत व मेदगत कुष्ठ में रक्तमोक्षण का प्रयोग बतलाया है। इन सभी अवस्थाओं में यह नियम लागू होता है।

## ४. कुष्ठ में वारंवार शोधन–

**बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान्।**
**दोषे ह्यतिमात्रहृते वायुर्हन्यादबलमाशु॥** च. चि. ७/४१

जिस कुष्ठी में दोषों की अधिकता हो उसमें बल की रक्षा करते हुए बहुत अधिक संशोधन अर्थात् बार-बार शोधन करना चाहिए। बल घट जाने पर दोषों के अतिमात्रा में र्निहरण से कुपित वायु दुर्बल रोगी का तत्काल प्राणहरण करती है।

किसी भी प्रकार के कुष्ठ में एक बार शोधन करने से रोगी को उपशय नहीं मिलता यह नित्य व्यवसाय में आनेवाला अनुभव है। इसलिये चरकाचार्य ने कुष्ठी में प्रभूत मात्रा में शोधन करनेको कहा है। लेकिन यह शोधन करते समय शोधन का अतियोग भी न हो व रोगी का बल भी न घटे इस तरफ चिकित्सक ने ध्यान देना चाहिए। इसलिये 'बहुश' शब्द पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणीदत्त ने कहा है,'' बहुश इति बहून् वारान्; स्तोकस्तोकर्निहरणेन पुनः पुनः शोध्यः। पुनः पुनः शोधन का अर्थ सुश्रुताचार्य ने स्पष्ट किया है। वे कहते है,

**पक्षात् पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेयाद् मासान्मासा स्रंसनं चापि देयम्।**
**स्राव्यं रक्तं वत्सरे हि द्विरल्पं नस्यं दद्याच्च त्रिरात्रात्त्रिरात्रात्॥**
सु. चि. ९/४३

अर्थात्, कुष्ठरोगी में पंद्रह पंद्रह दिन में वमन, एक-एक मास में विरेचन, वर्ष में दो बार रक्तमोक्षण तथा तीन-तीन दिन पर नस्य देना चाहिये। अष्टाङ्ग हृदयकार ने व चक्रपाणी ने 'चक्रदत्त' नामक चिकित्साग्रंथ में इसीका अनुमोदन किया है।

## ५. शोधन पश्चात स्नेहपान–

**स्नेहस्यपानमिष्टं शुद्धे कोष्ठे प्रवाहिते रक्ते।**

**वायुर्हि शुद्धकोष्ठं कुष्ठिनमबलं विशति शीघ्रम् ।।**

च. चि. ७/४२

(विरेचन से) कोष्ठ शुद्ध होने पर तथा रक्तमोक्षण के उपरांत स्नेहपान इष्ट होता है, अर्थात् स्नेहपान कराना चाहिए। क्योंकी संशोधन से दुर्बल रुग्ण के कोष्ठ में वायु शीघ्रता से प्रवेश करती है।

स्नेहपान का प्रयोग शुद्ध कोष्ठ में ही करना चाहिये। यदि सम्यक् शोधन न हुआ हो तो स्नेहपान नहीं कराना चाहिये। चक्रपाणी ने कहा भी है, अशुद्ध कोष्ठस्य स्नेहपानं व्याधिवर्धनं भवति। सुश्रुताचार्य ने भी, तत्र प्रथममेव कुष्ठिनं स्नेहपानविधानेनोपपादयेत्। ऐसा कहा है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी रक्तमोक्षण व विरेचन के पश्चात कुष्ठनाशक स्नेह का प्रयोग करने को कहा है।

## ६. शरीर के उर्ध्वभाग में होनेवाले कुष्ठ में वमन–

**दोषोत्क्लिष्टे हृदये वाम्यः कुष्ठेषु चोर्ध्वभागेषु ।** च. चि. ७/४३a

शरीरके उर्ध्वभाग में होनेवाले कुष्ठ में जब वक्षप्रदेश (हृदयप्रदेश) में दोषों का उत्क्लेश हो तब वमन का प्रयोग करना चाहिये।

## ७. कुष्ठ में आस्थापन व अनुवासन–

**--------सस्नेहैरास्थाप्यः कुष्ठी-------** । च. चि. ७/४६

**वातोल्बणं विरिक्तं निरुढमनुवासनार्हमालक्ष्य ।।४७**

कुष्ठघ्न द्रव्य के क्वाथ व कल्क मे घृत या तैल मिलाकर कुष्ठ के रोगी में निरुह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। वैसे ही वातप्रधान कुष्ठ के रोगी को विरेचन व निरुह देने के पश्चात् यदि अनुवासन योग्य हो तो अनुवासन बस्ति देनी चाहिये।

सिद्धिस्थान अ.२ में निरुह बस्ति के लिये निषिद्ध रोगों में कुष्ठ की गणना की है व उसका कारण बताते हुए उससे रोगवृद्धी होती है ऐसा कहा है। फिर यहाँ निरुह का उपदेश क्यों ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है। इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणीदत्त ने कहा है, "आस्थापनानुवासने यद्यपि" नास्थाप्याः कुष्ठिनः" (सि. अ.२) इत्यादिना कुष्ठे निषिद्धे तथाऽप्यास्थापनानुवासनैकसाध्यायामवस्थायां कर्तव्ये एव; यदुक्तं– "प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण संयोगेतु गुरुलाघवं संप्रधार्य सम्यगध्यवस्येत्" (वि. अ.८) इति। अर्थात, यद्यपि कुष्ठ में बस्ति का निषेध है लेकिन आवश्यकता पडने पर उसका प्रयोग किया जा सकता है। चरकाचार्य ने विमान स्थान अ.८ में वमन का उदाहरण देते हुए कहा भी है की यदि प्रवृत्ति व निवृत्ति योग्य अर्थात् (शोधन) कराने व न कराने

योग्य एक ही रोग उत्पन्न हो जाये तो उसमें रोग और दोष इन दोनों की गुरुता व लघुता का विचार कर (शोधन) प्रवृत्ति व निवृत्ति का निश्चय करना चाहिये ।

## ८. कुष्ठ में नस्य–

**नस्यं क्रिमिकुष्ठ कफप्रकोपघ्नम् ।** च. चि. ७/४८

नस्य से कृमि, कुष्ठ व कफप्रकोप का नाश होता है । यहाँ नस्य से प्रधमन नस्य अपेक्षित है । इस नस्य का प्रयोग उर्ध्वजत्रुगत भाग में होनेवाले कुष्ठ में करना चाहिये ।

## ९. कुष्ठ में रक्तमोक्षण–

**स्थिरकठिनमण्डलानां स्विन्नानां प्रस्तरप्रनाडीभिः ।**
**कूर्चैर्विघट्टितानां रक्तोत्क्लेशोऽपनेतव्यः ।।** च. चि. ७/५०
**आनूपवारिजानां मांसानां पोट्टलैः सुखोष्णैश्च ।**
**स्विन्नोत्सन्नं विलिखेत् कुष्ठं तीक्ष्णेन शस्त्रेण ।।** च. चि. ७/५१
**रुधिरागमार्थमथवा शृङ्गालाबूनि योजयेत् कुष्ठे ।**
**प्रच्छितमल्पं कुष्ठं विरेचयेद्वा जलौकोभिः ।।** च. चि. ७/५२

स्थिर कठिन व मण्डलाकार कुष्ठ में प्रस्तर या नाडीस्वेद के बाद कूर्चशस्त्र से विघट्टन अर्थात् घर्षण कर उत्क्लिष्ट रक्त को, अर्थात् दूषित रक्त को निकाल देना चाहिये । अथवा आनूप और औदक पशुपक्षियों के मांसको कुछ गर्म कर पोटली बनाकर स्वेदन करना चाहिए । तत्पश्चात् तीक्ष्ण शस्त्र से कुष्ठ का लेखन करना चाहिए । यदि कुष्ठ में दोष अल्पमात्रा में हो तो शृंग या अलाबू यंत्र से रक्तमोक्षण करें अथवा जलौकावचारण का रक्त के विरेचन के लिये प्रयोग करें ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी स्थिर कठिन व मंडलयुक्त कुष्ठ में पोट्टली स्वेद से स्वेदन करने के बाद शस्त्र से लेखन कर तत्पश्चात लेप का प्रयोग करने को कहा है । चरकमतानुसार प्रस्तर व नाडी स्वेद तथा वाग्भट मतानुसार पोट्टली स्वेद का प्रयोग करना अपेक्षित है । सुश्रुताचार्य ने घृत से स्नेहन, तत्पश्चात स्वेदन व उसके बाद रक्तमोक्षण कहा है ।

## १०. कुष्ठ में लेप–

**ये लेपाः कुष्ठानां युज्यन्ते निर्हृतास्रदोषाणाम् ।**
**संशोधिताशयानां सद्यः सिद्धिर्भवेत्तेषाम् ।।** च. चि. ७/५३

जिन कुष्ठरोगियों में पूर्वोक्त विधी से रक्त मोक्षण किया है तथा शोधन कर्म द्वारा

जिनका आशय शुद्ध कर दिया गया है ऐसे कुष्ठी में यदि लेप का प्रयोग करे तो शीघ्र ही लाभ होता है ।

सुश्रुताचार्य ने भी कई प्रकार के लेपों का वर्णन किया है । लेकिन उन्होंने रसगत, रक्तगत व मांसगत कुष्ठ में ही लेप का प्रयोग करने के लिये कहा है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने आभ्यन्तर शोधन के प्रयोग से आभ्यन्तर दोष को जीतने के बाद त्वक्गत दोषों को जीतने के लिए लेप का प्रयोग करने को कहा है । आगे वे कहते है की यदि देह अशुद्ध हो, अर्थात् सम्यक् शोधन न हुआ हो तो तीक्ष्ण लेप का प्रयोग नहीं करना चाहिये । यदि अशुद्ध शरीर में तीक्ष्ण लेप का प्रयोग किया तो कुष्ठ बढता है ।

## ११. कुष्ठ में क्षार का प्रयोग–

**येषु न शस्त्रं क्रमते स्पर्शेन्द्रियनाशनानि यानि स्युः ।**
**तेषु निपात्यः क्षारो रक्तं दोषं च विस्राव्य ।।** च. चि. ७/५४

जिस कुष्ठ में शस्त्र का प्रयोग नहीं किया जा सकता अथवा जिस कुष्ठ में स्पर्शज्ञान नष्ट हुआ हो उन कुष्ठों में रक्त और दोष को निकाल देने के बाद क्षार का प्रयोग करना चाहिए ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी जिस कुष्ठ में स्पर्शज्ञान नष्ट हुआ है, जिसमें शस्त्र का उपयोग नहीं है ऐसे कुष्ठ में रक्त व दोषों का स्राव कर क्षार का प्रयोग कराना चाहिये ऐसा कहा है ।

## १२. कुष्ठ में अगद–

**पाषाणकठिनपरुषे सुप्ते कुष्ठे स्थिरे पुराणे च ।**
**पीतागदस्य कार्यो विषैः प्रदेहोऽगदश्चानु ।।** च. चि. ७/५५

पत्थर के समान कठिन परुष जिसे सूप्तावस्था प्राप्त हो गई हो, जो स्थिर हो गया हो अर्थात बहुत पुराना हो ऐसे कुष्ठ में प्रथम विषनाशक औषधी पिलाकर तत्पश्चात् विष का लेप अथवा विष नाशक औषधी के लेप का प्रयोग करना चाहिये ।

अष्टाङ्गहृदयकार ने भी अत्यन्त कठिन, परुष, जिसमें स्पर्श ज्ञान नहीं है व जो पुराना है ऐसे कुष्ठ मे प्रथम विषनाशक औषधी का सेवन कर तत्पश्चात् विष का लेप करनेको कहा है । इसके बाद पुन: समन्त्र विषघ्न लेप का प्रयोग करना चाहिये ।

**लेपोऽतिकठिनपरुषे सुप्ते कुष्ठे स्थिरे पुराणे च ।**
**पीतागदस्य कार्यो विषैः समन्त्रौऽगदैश्चानु ।।** अ. हृ. चि. १९/५७

## १३. कुष्ठ की सामान्य चिकित्सा–

**मारुतकफकुष्ठघ्नं कर्मोक्तं पित्तकुष्ठिनां कार्यम् ।**

**कफपित्तरक्तहरणं तिक्त कषायैः प्रशमनं च ।।** च. चि. ७/५८

सामान्यतः सभी कुष्ठरोगियों में वातकफ व कुष्ठनाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। और कफ को वमन द्वारा पित्त को विरेचन द्वारा तथा रक्त को रक्तमोक्षण द्वारा निकालना चाहिये। वैसे ही तिक्त व कषाय द्रव्यों से कुष्ठ की शान्ती करनी चाहिये।

## १४. पित्तज कुष्ठ की चिकित्सा–

**सर्पींषि तिक्तकानि च यच्चान्यद्रक्तपित्तनुत् कर्म ।**
**बाह्यभ्यन्तरमग्र्यं तत् कार्यं पित्तकुष्ठेषु ।।** च. चि. ७/५९

तिक्त औषधियों से सिद्ध घृत तथा रक्तपित्त में वर्णित बाह्य व आभ्यन्तर प्रयोग पित्तजन्य कुष्ठ में श्रेष्ठ है। अर्थात उसका प्रयोग करना चाहिये।

चरकाचार्य ने इसी अध्याय में, तिक्तघृतैर्धौतघृतैरभ्यङ्गो दह्यमान कुंष्ठेषु', अर्थात जिस कुष्ठ में अधिक दाह होता हो उसमें तिक्तघृत या शतधौत घृत का अभ्यङ्ग करना चाहिए ऐसा कहा है। वेसे ही चर्मदल व विस्फोटक कुष्ठ में जब कुष्ठ स्थान में अधिक क्लेद हो या कुष्ठ से आक्रान्त प्रदेश कटकर गिर रहा हो या भयंकर दाह व विस्फोट हो और चर्मदल कुष्ठ हो गया हो तो शीतल लेप, परिषेक, सिराव्यध से रक्तमोक्षण, विरेचन व तिक्तघृत का आभ्यन्तर प्रयोग करने को कहा है।

**क्लेदे प्रपततिचाङ्गे दाहे विस्फोटके सचर्मदंले ।**
**शीताः प्रदेहसेका व्यधो विरेको घृतं तिक्तं ।।** च. चि. ७/१३४

## १५. श्वित्र में विरेचन–

**श्वित्राणां सविशेषं योक्त व्यं सर्व तो विशुद्धानाम् ।**
**श्वित्रे स्त्रंसनमग्र्यं मलपूरस इष्यते सगुडः ।।** च. चि. ७/१६२

श्वित्ररोगी में सर्व प्रकार से वमन विरेचन द्वारा शरीर शुद्ध हो जाने पर विशेष रुपये विरेचन कराना चाहिए। इस विरेचन के लिये कठगुल्लर का रस व गुड का प्रयोग सर्वश्रेष्ठ है।

## १६. श्वित्र में सूर्यताप सेवन–

**तं पीत्वा सुस्निग्धो यथाबलं सूर्यपादसंतापम् ।**
**संसेवेत विरिक्तस्त्र्यहं पिपासुः पिबेत् पेयाम् ।।** च. चि. ७/१६३

आभ्यन्तर स्नेहपान से शरीर सुस्निग्ध होने के बाद विरेचन हो जाने पर सतत

तीन दिन तक धूप का सेवन करें। यदि धूप में बैठने से प्यास लगे तो पेयाका पान करना चाहिए।

### १७. श्वित्र में खदिर प्रयोग–

**यच्चान्यत् कुष्ठघ्नं श्वित्राणां सर्वमेव तच्छस्तम्।**
**खदिरोदक संयुक्तं खदिरोदकपानमग्र्यं वा।।** च. चि. ७/१६६

सामान्यत: जितने भी कुष्ठनाशक योग है वे सभी श्वित्र में भी प्रशस्त है। इनका खदिर क्वाथ के साथ या खदिर जल का पान श्वेत कुष्ठ नाशन चिकित्सा में सर्वोत्कृष्ट है।

### १८. श्वित्र में अन्यान्य चिकित्सा–

**शुद्ध्या शोणितमोक्षैर्विरुक्षणैश्च सक्तूनाम्।**
**श्वित्रं कस्यचिदेव प्रणश्यति क्षीणपापस्य।।** च. चि. ७/१७१

शरीर शुद्धी (अर्थात् वमन विरेचन द्वारा), रक्तमोक्षण, रूक्षण चिकित्सा, निरंतर सत्तू का सेवन एवं पाप के क्षीण होने से श्वेतकुष्ठ का नाश होता है।

उपरिनिर्दिष्ट चारो सूत्र श्वेतकुष्ठ से संबंधित है। इसमें सर्वप्रथम विरेचन, तत्पश्चात् आतपसेवन, तत्पश्चात् खदिर का प्रयोग व अंत में रक्तमोक्षण तथा सत्तू के निरंतर सेवन का महत्व वर्णित है। अंत में क्षीण हुए पापों का उल्लेख कर इसमें दैवव्यपाश्रय चिकित्साका व हेतु में पापकर्मों का अनायास ही उल्लेख हुआ है। इन सभी चिकित्सा सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर श्वित्र की चिकित्सा करना अपेक्षित है।

## विसर्प

### १. कफस्थानगत सामदोषोत्पन्न विसर्प चिकित्सा–

**लङ्घनोल्लेखनेशस्ते तिक्तकानां च सेवनम्।**
**कफस्थानगते सामे रुक्षशीतैः प्रलेपयेत।।** च. चि. २१/४४

विसर्प रोग में सामदोष कफस्थान में गये हो तो लंघन व वमन का प्रयोग श्रेयस्कर या लाभकारी होता है। वेसे ही औषधी तथा आहार में तिक्त रस का सेवन व लेप लगाना आवश्यक हो तो रुक्ष व शीतल द्रव्यों का लेप हितकर होता है।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी ने कफस्थान से शरीर के ऊपर के हिस्से का ग्रहण करने को कहा है। कफस्थान गत इति उर्ध्वकाय गते। सूत्रस्थान में चरकाचार्य ने कफस्थान की स्पष्ट व्याख्या की है। उर: शिरो ग्रीवा पर्वण्यामाशयो

मेदश्च श्लेष्मस्थानानि, तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्म स्थानम्। च. सू. २०/८ अर्थात् उर:प्रदेश, शिर, ग्रीवा, पर्व (उंगलियों के) आमाशय व मेदधातु यह कफ के स्थान है। इसमें भी उर:प्रदेश विशेष रूप से कफस्थान माना गया है। विसर्प रोग में इन स्थानों में यदि साम दोष हो तो उपरिनिर्दिष्ट चिकित्साक्रम लाभकारी होता है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी सामदोष कफस्थानगत रहने पर अशीतोष्ण अर्थात जो जादा शीत भी नहीं व उष्ण भी नही व रुक्ष है ऐसे लेप का प्रयोग करने को कहा है। वेसे ही विसर्प चिकित्सा के प्रांरभ में ही लंघन, रुक्षण, रक्तावसेचन, वमन व विरेचन हितावह होते है तथा स्नेहन हितावह नहीं होता ऐसा कहा है।

**आदावेव विसर्पेषु हितं लङ्घनरुक्षणम्।**
**रक्तावसेको वमनं विरेकः स्नेहनं न तु।।** अ. हृ. चि. १८/१

सुश्रुताचार्य ने भी विसर्प की सामान्य चिकित्सा में संशोधन व रक्त मोक्षण को श्रेष्ठ कहते हुए पक्व विसर्प में शोधन करके व्रण चिकित्साविधी के अनुसार उपचार करने को कहा है।

**संशोधनं शोणितमोक्षणंच श्रेष्ठं विसर्पेषु चिकित्सितं हि।**
**सर्वांश्च पक्वान् परिशोध्य धीमान्।**
**व्रणक्रमेणोपचरेद्यथोक्तम्।।** सु. चि. १७/१५-१६

### २. पित्तस्थानगत सामदोषोत्पन्न विसर्प चिकित्सा–

**पित्तस्थानगतेऽप्येतत् सामे कुर्याच्चिकित्सितम्।**
**शोणितस्यावसेकं च विरेकं च विशेषतः।।** च. चि. २१/४५

विसर्प रोग में सामदोष पित्तस्थान में गये हो तो इसी चिकित्सा का (अर्थात् लंघन, वमन व तिक्तरस सेवन) प्रयोग करना चाहिए विशेष रूप से रक्तमोक्षण व विरेचन का प्रयोग करना चाहिए।

स्वेदो, रसो, लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि, तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्। च. सू. २०/८, अर्थात् स्वेद, रस, लसिका, रक्त, आमाशय ये पित्त के स्थान है। इसमें भी आमाशय विशेषकर पित्त का स्थान है। चक्रपाणी दत्त ने 'पित्तस्थानत्वेन मध्यशरीरं' अर्थात् पित्तस्थान से मध्यशरीर का ग्रहण करना चाहिए ऐसा कहा है। यहां लंघन वमन आदि का बार-बार उल्लेख आमपाचन के रूप में या दोषों की सामता दूर करने के दृष्टी से है। इसके बाद बताये गए विरेचन रक्तमोक्षणादि उपक्रम दोष शोधन के लिये है। इसी श्लोक के उत्तरार्ध में चरकाचार्य ने और एक अवस्था का वर्णन किया है। रक्तपित्तान्वये प्यादौ स्नेहनं न हितं मतम्।

अर्थात् विसर्प में यदि रक्त या पित्त का अनुबन्ध हो तो प्रारम्भिक अवस्था में स्नेहन का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इस रोग में शाखाश्रित रक्त दुष्ट होने पर सर्वप्रथम रक्तमोक्षण करने को कहा है। शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत। अ. हृ. चि. १८/८ वैसे ही निराम रोगी में कफ क्षीण व वातपित्त वृद्ध हो तो तिक्त घृत का प्रयोग करने को कहा है। अ. हृ. चि. १८/९

## ३. वातस्थानगत विसर्प चिकित्सा–

**मारुताशयसंभूतेप्यादितः स्याद्विरुक्षणम्।** च. चि. २१/४६

यदि वायु के स्थान में दोष कुपित होकर विसर्प उत्पन्न हुआ हो तो रुक्षण औषधियों का प्रयोग करना चाहिए

चक्रपाणी के मतानुसार पक्वाशय के अधोभाग को वायु का स्थान मानना चाहिए। चरकाचार्य ने सूत्रस्थान अध्याय बीस में बस्ति, पुरिषाधान, कटि, दोनो पैर, अस्थियां और विशेषकर पक्वाशय को वायू के स्थान माना है। लेकिन वायू के स्थान में दोष कुपित होकर विसर्प उत्पन्न होने पर रुक्षण क्यूं करना चाहिए इसका स्पष्टीकरण चक्रपाणीदत्तने नहीं दिया है। रुक्षण के पश्चात तिक्त घृत का प्रयोग अपेक्षित है।

## ४. विसर्प में रक्त अथवा पित्त का अनुबंध–

**रक्तपित्तान्वयेप्यादौ स्नेहनं न हितम् मतम्।।** च. चि. २१/४६

विसर्प में यदि रक्त या पित्त का अनुबंध हो तो चिक्तित्सा के शुरुआत में स्नेहन् का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

इन तीन-चार सूत्रों में जो स्नेहपान विषयक सूचनाएं आयी है उनका उद्देश आमपाचन होना व स्रोतोरोध न हों इसलिये सतर्क रहना है। इसलिये इस विषय में इतनी सूचनाएं चरकाचार्य ने की है।

## ५. घृतपान तथा विरेचन का प्रयोग–

**वातोल्बणे तिक्तघृतं पैत्तिके च प्रशस्यते।**
**लघुदोषे महादोषे पैत्तिके स्याद्विरेचनम्।।** च. चि. २१/४७

वातप्रधान विसर्प मे अथवा पित्तज विसर्प में दोष अल्प होने पर तिक्त घृत का पान कराना चाहिए। पित्तज विसर्प में यदि दोष अधिक मात्रा में हो तो विरेचन का प्रयोग करना चाहिए।

यहां दोष अल्प होने पर शमन चिकित्सा का व दोष जादा रहने पर शोधन चिकित्सा का प्रयोग करने को कहा है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने दोष कोष्ठगत रहने पर विरेचन का प्रयोग करने को कहा। योज्यं कोष्ठगते दोषे विशेषेण विशोधनम्। अ. हृ. चि. १८/४a. तिक्त घृत के पान के बारे में अष्टाङ्ग हृदयकार ने निराम रोगी में कफ क्षीण व वात तथा पित्त अधिक होने पर तिक्त घृत, महातिक्तक घृत, या त्रायमाण घृत का प्रयोग करने को कहा है।

**निरामे श्लेष्मणि क्षीणे वातपित्तोत्तरे हितम्।**
**घृतं तिक्तं महातिक्तं श्रृतं वा त्रायमाणया।।** च. चि. १८/९

## ६. विरेचन के लिये विरेचन घृत–

**न घृतं बहुदोषाय देयं यन्नविरेचयेत्।**
**तेन दोषो ह्युपष्टब्धस्त्वङ्मांसरुधिरं पचेत्।।** च. चि. २१/४८
**तस्माद्विरेकमेवादौ शस्तं विद्याद्विसर्पिणः।**
**रुधिरस्यावसेकं च तद्धत्यस्याश्रयसं ज्ञितम्।।** च. चि. २१/४९

अधिक दोष वाले विसर्प रोग में जो घृत विरेचक नहीं है उसका प्रयोग नही करना चाहिए। जो घृत विरेचक नहीं है उस घृत के सेवन से दोष रूक जाते है और त्वचा, मांस व रक्त का पाक करने लगते है। इसलिये विसर्प रोगियों में सर्वप्रथम विरेचन अथवा प्रारम्भ में ही रक्तमोक्षण करना चाहिए। विसर्प रोग का आश्रय ही रक्त है। रक्तमोक्षण करने से विसर्प की शान्ती स्वयम् हो जाती है।

सुश्रुताचार्य ने भी विसर्प में संशोधन व रक्त मोक्षण को श्रेष्ठ चिकित्सा कहा है तथा सभी पके हुए विसर्पों की व्रणवत् चिकित्सा करने को कहा है। संशोधन शोणितमोक्षणं च श्रेष्ठं विसर्पेषुं चिकित्सितं हि। सु. चि. १७/१५।

## ७. शाखाश्रित विसर्प चिकित्सा–

**शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत्।।** च. चि. २१/६८

विसर्प में यदि शाखाश्रित/शाखागत रक्त दूषित हुआ हो तो सर्वप्रथम रक्तमोक्षण करना चाहिए।

चरकाचार्य ने आगे वात से रक्त दूषित हो तो श्रृङ्ग से पित्त से रक्त दूषित हो तो जलौकावचारण से तथा कफ से रक्त दूषित हो तो अलाबु से रक्तावसेचन करने को कहा है। शरीर के जिस भाग में विसर्प निर्माण हुआ हो उसी के पासवाली सिरा का वेध करना चाहिए।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी शाखाश्रित रक्तदुष्टी रहने पर रक्तमोक्षण करने को कहा

है। कारण रक्त में क्लेदांश बढने पर त्वचा, मांस व स्नायु में भी क्लेद बढ़ जाता है।

**शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत्।**
**त्वङ्मांसस्नायुसंक्लेदो रक्तक्लेदाद्धिजायते।।** अ. हृ. चि. १८/८

## ८. विसर्प में बाह्योपचार कब करें!–

**अंतःशरीरे संशुद्धे दोषे त्वङ्मांससंश्रिते।**
**आदितो वाऽल्पदोषाणां क्रिया बाह्या प्रवक्ष्यते।।** च. चि. २१/७१

शोधन चिकित्सा से शरीर शुद्ध हो जाने पर जब दोष केवल त्वचा और मांस में आश्रित हो अथवा प्रारंभ से ही दोषों का प्रमाण अल्प हो तो बाह्योपचार का प्रयोग करना चाहिए।

अर्थात जब शमन चिकित्सा से काम चल सकता है तब लेप आदि बाह्योपचार का प्रयोग करना चाहिए। अष्टाङ्ग हृदयकार ने सिर्फ रक्तमोक्षण का उल्लेख करते हुए रक्तमोक्षण से दोषशुद्धी होने के पश्चात् लेप का प्रयोग करने को कहा है।

**निहृतेऽस्त्रे विशुद्धेऽन्तर्दोषे त्वङ्गमांससंधिगे।**
**बहिः क्रियाः प्रदेहाद्याः सद्यो विसर्प शान्तये।।** च. चि. १८/१०

## ९. विसर्प की सामान्य चिकित्सा–

**कुर्याच्चिकित्सितादस्माच्छीतप्रायाणि पैत्तिके।**
**रुक्षप्रायाणि कफजे स्नैहिकान्यनिलात्मके।।**
**वातपित्तप्रशमनमग्नि विसर्पणे हितम्।**
**कफपित्त प्रशमनं प्रायः कर्दमसंज्ञिते।।** च. चि. २१/११७-११८

जो चिकित्सा शीतल द्रव्यों से बतायी गयी है उसका प्रयोग पित्तज विसर्प मे, जो चिकित्सा रुक्षप्रधान है उसका प्रयोग कफज विसर्प में जो चिकित्सा स्नेह द्वारा बतायी गयी है उसका प्रयोग वातज विसर्प में करना चाहिए। वैसे ही वातपित्तशामक चिकित्सा अग्नि विसर्प में व कफ पित्त शामक चिकित्सा कर्दभ विसर्प में लाभकर होती है।

इस सूत्र में विसर्प चिकित्सा के मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लेख है जो मुख्यतः दोष प्रत्यनिक है। विसर्प जैसे रोग में चिकित्सक को कई अवस्थाओं का सामना करना पडता है इसलिये चिकित्सा भी सरल नहीं होती। लेकिन इस स्थिति में भी चिकित्सक को मूल सिद्धान्त का विस्मरण न हो इसलिये शायद इस सामान्य सिद्धान्त का वर्णन किया है।

### १०. ग्रंथि विसर्प की चिकित्सा–

**रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा ग्रन्थिवीपर्पमादितः ।**
**रुक्षणैर्लङ्घनैः सेकैः प्रदेहैः पाञ्चवल्कलैः ।।**
**सिरामोक्षैर्जलौकोभिर्वमनैः सविरेचनैः ।**
**घृतैः कषाय तिक्तैश्च कालज्ञः समुपाचरेत् ।।** च. चि. २१/११८-११९

रक्तपित्त प्रधान ग्रन्थि विसर्प में चिकित्सा की शुरुवात से ही रुक्षण, लङ्घन, पञ्चक्षीरी वृक्षों की त्वचा के क्वाथ से परिषेचन तथा उसी से निर्मित प्रदेह का प्रयोग करना चाहिए। काल को जानने वाले कालज्ञ वैद्य ने जलौकावचारण, वमन, विरेचन, कषाय व तिक्त रसों से सिद्ध घृत का प्रयोग ग्रन्थिविसर्प में करना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने ग्रंथिविसर्प में रक्तपित्तनाशक क्रिया करने के पश्चात कफ तथा वातनाशक पिण्डस्वेद का प्रयोग करने को कहा है।

**ग्रन्थ्याख्ये रक्तपित्तघ्नं कृत्वा सम्यग्यथोदितम् ।**
**कफनिलघ्नं कर्मेष्टं पिंडस्वेदोपनाहनम् ।।**

अ. हृ. चि. १८/२३

### ११. ग्रन्थि विसर्प में चिकित्साक्रम–

**ऊर्ध्वं चाधश्च शुद्धाय रक्ते चाप्यवसेचिते ।**
**वातश्लेष्महरं कर्म ग्रन्थिवीसर्पिणे हितम् ।।** च. चि. २१/१२०

ग्रन्थि विसर्प में ऊर्ध्व व अधः शोधन अर्थात् वमन व विरेचन के पश्चात् रक्त मोक्षण करना चाहिए। तत्पश्चात् वात व कफ नाशक चिकित्सा हितकर होती है।

किसी भी रोग की चिकित्सा में किस उपक्रम के पश्चात किस उपक्रम का प्रयोग करना हितकर होता है इसकी जानकारी चिकित्सक को होना परमावश्यक है। इसी के आधार पर रोगी को मिलने वाले उपशय का अंदाजा लगाया जाता है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने ग्रंथि विसर्प में सर्वप्रथम रक्तपित्तनाशक क्रिया कर तत्पश्चात वात व कफनाशक पिण्डस्वेद तथा उपनाह का प्रयोग करने को कहा है।

**ग्रन्थाख्ये रक्तपित्तघ्नं कृत्वा सम्यम्यथोदितम् ।**
**कफनिलंघ्नं कर्मेष्टं पिण्डस्वेदोपनाहनम् ।।** अ. हृ. चि. १८/२३

### १२. ग्रन्थि विसर्प में बाह्योपचार–

**उत्कारिकाभिरुष्णाभिरुपनाहः प्रशस्यते ।**
**स्निग्धभिर्वेशवारैर्वा ग्रन्थिवीसर्प शूलिनाम् ।।** च. चि. २१/१२१

उष्ण व स्निग्ध उत्कारिका अथवा स्निग्ध व उष्ण वेशवार द्वारा उपनाह का प्रयोग ग्रन्थि विसर्प में यदि शूल हो तो उपयोगी होता है।

चरकाचार्य ने इसके पश्चात कई प्रकार के तैल आदि बाह्योपचारों का वर्णन किया है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी कई बाह्योपचारों का वर्णन किया है उसे यथास्थल देखें।

## १३. ग्रन्थि विसर्प में दाह कर्म-शस्त्रकर्म–

**आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्विविधाभिर्बली स्थिरः ।**
**ग्रन्थिः पाषाणकठिनो यदा नैवोपशाम्यति ।।**

च. चि. २१/१३२

**अथास्य दाहः क्षारेण शरैर्हेम्नाऽथ वाहितः ।**
**पाकिभिः पाचयित्वा वा पाटयित्वा समुद्धरेत् ।।** १३३A

इन उपर बताई हुई विविध प्रकार की सिद्ध चिकित्साओं द्वारा यदि पत्थर जैसे स्थिर व कठिन ग्रंथी का उपशय न हो तो उसमें क्षार या बाण अथवा सुवर्ण (शलाका) द्वारा दाहकर्म करना चाहिए। अथवा उसे पकाकर व काटकर उसको निकाल देना चाहिए।

चरकाचार्य ने ग्रन्थिविसर्प के लिये कई प्रकार की चिकित्सा का वर्णन किया है। आभ्यन्तर चिकित्सा के साथ-साथ कई प्रकार के बाह्योपचार का भी वर्णन संहिता ग्रंथो में आया है। इसमें धूम्रपान; शिरोविरेचन द्रव्यों का प्रयोग, गुल्मघ्न द्रव्यों का आभ्यन्तर प्रयोग इसके साथ-साथ लोहा, सेंधानमक, पत्थर, सोना, ताम्र इसे अग्नि में गरम कर उससे ग्रंथीयुक्त भाग को दबाकर सेकने के लिये भी कहा है। इससे भी यदि उपशय न मिले तो ही शस्त्रकर्म का प्रयोग करना अपेक्षित है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी का अनुमोदन किया है।

## १४. शस्त्रकर्मोपरांत उपक्रम–

**मोक्षयेद्बहुशश्चास्य रक्तमुत्क्लेशमागतम् ।**
**पुनश्चापहृते रक्ते वातश्लेष्मजिदौषधम् ।।** च. चि. २१/१३४
**धूमो विरेकः शिरसः स्वेदनं परिमर्दनम् ।।** १३५A

ग्रंथिमोक्ष, अर्थात् ग्रंथी को निकाल देने के कारण रक्त में उत्क्लेश होता है इसलिये बारबार रक्तमोक्षण करना चाहिए। तत्पश्चात वात व कफघ्न औषधियोंका लेप, धूमपान, शिरोविरेचन का प्रयोग करना चाहिए तथा ग्रंथी के स्थान पर स्वेदन तथा मर्दन बार-बार करना चाहिए। इसी सूत्र को अष्टाङ्गहृदयकार ने दोहराया है।

## १५. अनुपशय होने पर– (अप्रशाम्यति किं ?)

**अप्रशाम्यति दोषे च पाचनं वा प्रशस्यते ।।** १३५B
**प्रक्लिन्नं दाहपाकाभ्यां भिषक् शोधनरोपणैः ।**
**बाह्यैश्चाभ्यन्तरैश्चैव व्रणवत् समुपाचरेत् ।।** च. चि. २१/१३६

यदि उपर वर्णित चिकित्सा से लाभ न हो अर्थात दोषों की शान्ति न हो तो ग्रंथी को पकाना चाहिए। सडे हुए, दाह व पाक से युक्त ग्रंथीव्रण का शोधन व रोपण वैद्य ने करना चाहिए तथा उसकी बाह्य व आभ्यन्तर चिकित्सा व्रण के समान करनी चाहिए।

इसी सूत्र को चरकाचार्य ने आगे भी दोहराया है और द्विव्रणीय अध्याय में वर्णन किये अनुसार चिकित्सा करने को कहा है।

**द्विव्रणीयोपदिष्टेन कर्मणा चाप्युपाचरेत् ।**
**देशकालविभागज्ञो व्रणान् विसर्पजान् बुधः ।।** च. चि. २१/१३८

## १६. गलगण्ड चिकित्सा–

**य एव विधिरुद्दिष्टो ग्रन्थीनां विनिवृत्तये ।**
**स एव गलगण्डानां कफजानां निवृत्तये ।।** च. चि. २१/१३९
**गलगण्डास्तु वातोत्था ये कफानुगतां नृणाम् ।**
**घृतक्षीरकषायाणामभ्यासान्न भवन्ति ते ।।** १४०

जिन विधियों का उद्देश ग्रंथिरोग को दूर करना है उन्हीं विधियों का प्रयोग कफज गलगंड के लिए करना चाहिए। वातज गलगंड तथा कफानुबंधी गलगंड के रोगी यदि निरंतर कुछ दिनो तक घृत, दुग्ध व क्वाथ का सेवन करे तो वह नष्ट हो जाता है।

चक्रपाणी के अनुसार यहाँ गलगंड से गंडमाला का भी ग्रहण करना चाहिए।

## १७. विसर्प में रक्तमोक्षण–

**यानिहोक्तानि कर्माणि विसर्पाणां निवृत्तये ।**
**एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः ।।** च. चि. २१/१४१

विसर्प की चिकित्सा में अन्य सभी विसर्पनाशक चिकित्साक्रम एकतरफ व रक्तमोक्षण एक तरफ समझना चाहिये।

अन्य सभी चिकित्सा के तुल्य रक्तमोक्षण को मानने का कारण इस रोग में

दूषित रक्त व पित्त की प्रधानता रहना है । और इस दूषित रक्त निकालने का सर्वोत्तम मार्ग है रक्तमोक्षण । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी का अनुमोदन करते हुए कहा है 'एकत: सर्व कर्माणि रक्तमोक्षणमेकत: । सुश्रुताचार्य ने भी, 'संशोधनं शोणितमोक्षणं च श्रेष्ठं विसर्पेषु चिकित्सितं हि । ऐसा कहा है ।

## पाण्डु - कामला

**१. साध्यानामितरेषांतु प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम्–**

**तत्र पाण्ड्वामयी स्निग्धस्तीक्ष्णैरुर्ध्वानुलोमिकैः ।**
**संशोध्यो मृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः ।।**
**ताभ्यां संशुद्ध कोष्ठाभ्यां पथ्यान्यन्नानिदापयेत् ।**
**शालीन् सयवगोधूमान् पुराणान् यूषसंहितान् ।।**
**मुद्गाढकी मसूरैश्च जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः ।**
**यथा दोषं विशिष्टं च तयोर्भैषज्यमाचरेत् ।।** च. चि. १६/३९-४२

अब मैं असाध्य के अतिरिक्त अर्थात साध्य पाण्डु व कामला की चिकित्सा का उपदेश कर रहा हूँ ।

साध्यपाण्डुरोग में स्नेहन के पश्चात् तीक्ष्ण वमन व विरेचन द्वारा शोधन करना चाहिए । कामला में तिक्त द्रव्यों से सिद्ध मृदु विरेचन औषधियों से संशोधन करना चाहिए । शोधन द्वारा कोष्ठशुद्धी के पश्चात् पथ्य अन्न का सेवन करना चाहिए । पुराना शालि चावल, जौ, गेहूँ, यूष के लिए मूंग, मसूर तथा जंगल पशु पक्षियों के मांसरस का सेवन हितकर होता है । इसके पश्चात दोषानुसार विशिष्ट औषधी द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ।

संक्षेप में, सर्वप्रथम शोधन, तत्पश्चात पथ्याहार व तत्पश्चात विशिष्ट औषधी प्रयोग यह चिकित्सा का क्रम होना चाहिए । आज पाश्चात्य वैद्यक शास्त्र के प्रभाव से हमने यह क्रम उलटा कर दिया है । विशेषत: कामला ने सर्वप्रथम औषधी द्रव्यों का प्रयोग उसके साथ-साथ पथ्य आहार व आवश्यकता पडने पर अनुलोमन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है । पाण्डुरोग में भी दोष प्रत्यनिक चिकित्सा कम व व्याधिप्रत्यनिक चिकित्सा का प्रयोग जादा होता है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी पांडुरोग में सर्वप्रथम स्नेहपान, तत्पश्चात् वमन, पुनश्च स्नेहपान व तत्पश्चात् विरेचन इस क्रम से चिकित्सा प्रारंभ करने को कहा है । कामला की चिकित्सा का वर्णन करने से पूर्व अष्टाङ्ग हृदयकार ने एक वैशिष्ट्य पूर्ण बात कही है । वे कहते हैं, ''कामलायां तु पित्तघ्नं पाण्डुरोगाविरोधि यत्' अर्थात् कामला में प्रयोग की जाने वाली औषधी पित्तघ्न होनी चाहिये लेकिन वह पाण्डुरोग के विरोधी न हो इसका ध्यान रखना चाहिए ।

## २. पांडु व कामला में घृतप्रयोग–

**पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा ।**
**स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे ।।** च. चि. १६/४३

पंचगव्य घृत, महातिक्तक घृत, कल्याणक घृत इनका प्रयोग स्नेहानार्थ पाण्डु व कामला में करना चाहिए ।

इनके व्यतिरिक्त दाडिमघृत, कटुकाद्य घृत, पथ्याघृत, दन्तीघृत, द्राक्षाघृत, हरिद्रादि घृत जैसे कई घृतों का उल्लेख चरकाचार्य ने किया है । इन सभी घृतों में सिर्फ द्राक्षा घृत में पुराण घृत का प्रयोग करने को कहा है । १० वर्ष पुराने घृत को पुराण घृत माना जाता है । यह नियम सभी घृतों के लिये समझना चाहिये ऐसे कई विद्वान मानते है । लेकिन वर्तमानकाल में ये किस हद तक संभव होगा इस विषय में शंका है ।

## ३. स्नेहन पश्चात् विरेचन–

**स्नेहैरेभिरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत् ।** च. चि. १६/५५B

स्नेहन के पश्चात् शरीर स्निग्ध हुआ है ऐसा जनकर विरेचन का प्रयोग करना चाहिये ।

इस सूत्र के आगे चरकाचार्य ने गोमूत्र के साथ दूध मिलाकर अथवा सिर्फ दूध पिलाकर विरेचन करने को कहा है । यहां रोगी के कोष्ठ का विचार कर विरेचन द्रव्यों का प्रयोग करना अपेक्षित है ।

## ४. पाण्डुरोग चिकित्सासूत्र–

**वातिके स्नेहभूयिष्ठं पैत्तिके तिक्तशीतलम् ।** च. चि. १६/११५B
**श्लैष्मिके कटुतिक्तोष्णं, विमिश्रं सान्निपातिके ।।** च. चि.११६A

स्नेहप्रधान औषधी का प्रयोग वातज पाण्डु में, तिक्तरस तथा शीतवीर्य औषधी का प्रयोग पित्तज पाण्डु में, कटु, तिक्त व उष्णवीर्य द्रव्यों का प्रयोग कफज पाण्डु में तथा मिश्रित औषधी द्रव्यों का प्रयोग सन्निपातज पाण्डु में करना चाहिये ।

अनेक कल्पों का वर्णन करने के पश्चात् चरकाचार्य कहते है की इन सभी औषधियों का प्रयोग दोषों का बलाबल देखकर करना चाहिए। उदाहरण स्वरूप उन्होंने उपरिनिर्दिष्ट सूत्र का निर्देश किया है । तरतम भावानुसार अथवा अंशांश कल्पानानुसार प्रत्यक्ष चिकित्सा में स्वानुभवके आधार पर इसका विस्तार किया जा सकता है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी अलग शब्दों में इसी को दोहराया है ।

**स्नेहप्रायं पवनजे तिक्तशीतं तु पैत्तिके ।**
**श्लैष्मिके कुटरुक्षोष्णं विमिश्रं सान्निपातिके ।।**

अ. हृ. चि. १६/३४

इस अध्याय के अंत में अष्टाङ्ग हृदयकार ने कुशल वैद्य ने पांण्डुरोग में शोफ चिकित्सा में वर्णित औषधियों का प्रयोग करना चाहिये ऐसा कहा है । पाण्डुरोगेषु कुशल: शोफोक्तं च क्रियाक्रमम् । अ. हृ. चि. १६/५७

## ५. मृद्भक्षणजन्य पाण्डु–

**निपातयेच्छरीरात्तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक् ।**
**युक्तिज्ञः शोधनैस्तीक्ष्णैः प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ।।**

च. चि. १६/११८

**शुद्धकायस्य सर्पींषि बलाधानानि योजयेत् ।**

युक्तिज्ञ वैद्य ने रोगी के बलाबल का विचार कर तीक्ष्ण शोधन अर्थात वमन विरेचन द्वारा खाई हुई मिट्टी शरीर से बाहर निकालनी चाहिए । शरीर शुद्ध होने पर बल कारक औषधियों से सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिये ।

निदान परिवर्जन यह किसी भी रोग की प्रमुख चिकित्सा है । इसलिये चरकाचार्य ने भी मृद्भक्षण के प्रति द्वेष निर्माण हो इसलिये इस रोग में प्रयुक्त औषधी द्रव्यों से भावित मिट्टी का सेवन करने के लिये कहा है । इसे हमेशा ध्यान में रखना चाहिये । यहां वैद्य के लिये प्रयुत्त 'युक्तज्ञ' यह विशेषण भी महत्वपूर्ण है । इसी रोगके संदर्भ में व्योषाद्य घृत का वर्णन करते समय इस घृत को युक्तिपूर्वक पिलाना चाहिये ऐसा चरकाचार्य ने कहा है । इसी सूत्र को अष्टाङ्गहृदयकार ने भी दोहराया है । मृद्भक्षणको लेकर उनकी एक सूचना भी वैशिष्ट्य पूर्ण है । उन्होंने अलग-अलग प्रकार की मिट्टी से अलग-अलग दोष प्रकुपित होते हैं व तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ऐसा कहा है । मृदभेदभिन्नदोषानुगमाद्योज्यं च भेषजम् । अ. हृ. चि. १६/३९

## ६. शाखाश्रित कामला चिकित्सासूत्र–

**तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली ।**
**श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तत् पित्तं कफहरैर्जयेत् ।।** च. चि. १६/१२५

यदि कामला का रुग्ण तिल कल्क के समान मल त्याग करता है तो यह समझना चाहिये की कफ द्वारा पित्त का मार्ग रूक गया है । इस अवस्था में कफ के अवरोधको दूर करनेवाली व पित्तशामक औषधियों का प्रयोग करना चाहये । इसी सूत्र को अष्टाङ्ग हृदयकार ने दोहराया है ।

## ७. शाखा से दोषों को कोष्ठ में लाने की चिकित्सा–

**सनागरं पिबेत् पित्तं तथाऽस्यैति स्वमाशयम् ।**
**कटुतीक्ष्णोष्णलवणै भृशाम्लैश्चाप्युप्रक्रमः ।।** च. चि. १६/१३०
**आ पित्तरागाच्छकृतो वायोश्च प्रशमाद्भवेत् ।**
**स्वस्थानमागते पित्ते पुरीषे पित्त रञ्जिते ।।** च. चि. १३१
**निवृत्तोपद्रवस्य स्यात् पूर्वः कामलिको विधिः ।** च. चि. १३२a

जब तक पित्त द्वारा मल न रंगने लगे, जब तक पित्त अपने स्व आशय में न आए तब तक अत्यन्त कटु, तीक्ष्ण उष्ण व लवण (द्रव्यों) द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये । इस चिकित्सा द्वारा जब पित्त स्व स्थान में आ जाय, वायु की शान्ति हो, पित्त द्वारा मल को उचित रंग प्राप्त हो, उपद्रव शान्त हो जाय तब कामला की सामान्य चिकित्सा का प्रयोग करें ।

•

## एकादशोऽध्यायः

# मांसवह स्त्रोतस

## कार्श्य

### १. कृशता की सामान्य चिकित्सा–

**कृशानां बृंहणार्थं च लघु संतर्पणं च यत् ।** च. चि. २१/२०B

कृश व्यक्ती में बृंहण के लिए लघु और संतर्पण आहार द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ।

कार्श्य के प्रधान हेतु मुख्यत: वायू को रुक्ष गुण से कुपित करते है । और यह प्रकुपित वायु आहार रस को व्याप्त कर उसके फलस्वरुप अग्निमांद्य निर्माण करता है । जिसके कारण धातुपोषण सही ढंग से नही होता व यह वायु मेद तथा मांसधातु का भी उपशोषण करता है । इस संप्राप्ती को ध्यान में रखते हुए आचार्यो ने लघु तथा संतर्पण द्रव्यों का बृंहणार्थ प्रयोग करने को कहा है । इसे और स्पष्ट करते हुए चक्रपाणीदत्त कहते है, कृशानां तु लघुतर्पणं च देयं; तद्धि लाघवादग्निवृद्धिकरं संतर्पणत्वाश्च पुष्टिकृत् । अर्थात लघु द्रव्यों के प्रयोग से अग्निमांद्य दूर होगा व संतर्पण होने से धातुओं को बल मिलेगा । ऐसे कई द्रव्यों का उल्लेख आचार्योंने स्वयं किया है ।

सुश्रुताचार्य ने सर्वप्रथम निदान परिवर्जन का उल्लेख किया है । अतस्तस्योत्पत्तिहेतुं परिहरेत् । तत्पश्चात बलवर्धक औषधी व आहार विहार का उपदेश किया है ।

### २. कार्श्य चिकित्सा–

**स्वप्नो हर्षः सुखाशय्या मनसो निर्वृतिः शमः ।**
**चिन्ताव्यवायव्यायामविरामः प्रियदर्शनम् ।।**
**नवान्नानि नवं मद्यं ग्राम्यानूपौदका रसाः ।**
**संस्कृतानि च मांसानि दधि सर्पिः पयांसि च ।।**
**इक्षवः शालयो माषा गोधूमा गुडवैकृतम् ।**
**वस्तयः स्निग्धमधुरास्तैलाभ्यङ्गश्च सर्वदा ।।**
**स्निग्धमुद्वर्तनं स्नानं गन्धमाल्यानिषेवणम् ।**
**शुक्लं वासोयथाकालं दोषाणामवसेचनम् ।।**
**रसायनानां वृष्याणां योगानामुपसेवनम् ।**
**हत्वाऽतिकार्श्यमाधत्ते नृणामुपचयं परम् ।।** च. सू. २१/२९ से ३३

निद्रा, आनंद, सुखदायक बिछावन, मानसिक विश्राम, मानसिक शान्ति का अनुभव; चिन्ता, मैथुन व व्यायाम को विराम अर्थात् उनका त्याग, प्रिय अर्थात् मन के अनुकूल वस्तु को देखना, नवीन अन्न, नवनिर्मित मद्य, ग्राम्य, आनूप तथा जल में रहनेवाले जीवों का मांसरस, कटु आदि द्रव्यों से संस्कारित मांस, दही, घृत दुग्ध, गन्ना, शालिचावल, गेहुँ, गुड से निर्मित वस्तुएं, स्निग्ध एवं मधुर द्रव्य, हमेशा तैलाभ्यङ्ग, स्निग्ध उबटन का प्रयोग, स्नान, सुगंध तथा सुगन्धित पुष्पों की माला का धारण शुभ्र वस्त्र धारण आवश्यकतानुसार दोषों का समय-समय पर निर्हरण तथा रसायन एवं वाजीकरण योगों का सेवन अतिकृश पुरुष ने करना चाहिए। जिसके फलस्वरुप कृश पुरुष धीरे-धीरे बलशाली हो जाता है।

इस सूत्र में चरकाचार्य ने कार्श्य के मानस व शरीर भावोंका तथा पुष्टिदायक कर्मों का उल्लेख किया है। कार्श्य में कोई चिकित्सा सद्यफलदायी नहीं होती। सभी चिकित्साक्रमों का असर धीरे-धीरे दिखता है इसे ध्यान में रखना चाहिए।

## ३. निद्रा का महत्व--

**अचिन्तनाच्च कार्याणां ध्रुवं संतर्पणेन च।**
**स्वप्नप्रसङ्गाच्च नरो वराह इव पुष्यति।।** च. चि. २१/३४

सदा निश्चिन्तय रहने, पौष्टिक द्रव्यों का सेवन करने तथा अधिक निद्रा लेने से मनुष्य वराह के समान पुष्ट हो जाता है।

कार्श्यकर मानस भावों का इलाज अतिनिद्रा है। इसके साथ-साथ संतर्पण करनेवाले पदार्थों का सेवन व विहार शरीर को बलवान बनाकर कार्श्य को दूर करता है। अनिद्रा भी कार्श्यकर हेतुओं में से एक है इसका स्मरण रखें।

•

## द्वादशोऽध्यायः

# मेदोवह स्त्रोतस

## स्थौल्य

### १. सामान्य चिकित्सा–

**गुरु चातर्पणं चेष्टं स्थूलानां कर्षनं प्रति ।** च. सू. २१/२०a

स्थूल को कृश बनाने के लिए गुरु तथा अपतर्पण करनेवाला आहार देना चाहिये ।

अतिस्थूल व्यक्तियों की जाठराग्नी तीव्र रहती है । इसलिये उन्हें गुरु भोजन देना चाहिए । लेकिन गुरु भोजन से संतर्पण भी न हो इसलिये अपतर्पण करनेवाले गुरु पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए, जैसे शहद ।

२. **वातघ्नान्यन्नपानानि श्लेष्ममेदोहराणि च ।**
**रुक्षोष्णाबस्तयस्तीक्ष्णा रुक्षाण्युद्वर्तनानि च ।।**

वातघ्न, कफघ्न तथा मेदोघ्न अन्नपान, तीक्ष्ण, रुक्ष एवं उष्ण बस्तियां, रुक्ष उद्वर्तन (उबटन), इनका प्रयोग मेदोरोग में करना चाहिये ।

इस सूत्र के पश्चात् चरकाचार्य ने मेदोरोग चिकित्सा में उपयोगी कई कल्पों का वर्णन किया है । उदा. गुडूची, नागर मोथा, त्रिफला, विडंग, सोंठ, क्षार, तीक्ष्ण लोह चूर्ण, आमलकी, वृहत् पंचमूल, शीलाजित, अनुपानार्थ तक्ररिष्ट व शहद का वर्णन किया है । आयुर्वेदमें मेदोरोग में कहीं वजन का उल्लेख नहीं है । रोगलक्षणों का उल्लेख भी मुख्यत: आकृती से संबंध रखता है । इसलिये मेदोरोग की आयुर्वेद चिकित्सा करते समय रोगी के आकृती में क्या बदलाव आया है इसका भी ध्यान रखना चाहिये ।

### ३. स्थूल व्यक्ती के लिये विहार–

**प्रजागरं व्यवायं च व्यायामं चिन्तनानि च ।**
**स्थौल्यमिच्छन् परित्यक्तुं क्रमेणाभिप्रवर्धयेत् ।।** च. सु. २१/२८

जो व्यक्ति स्थौल्य का त्याग करना चाहता हो उसने रात्रिजागरण, मैथुन, व्यायाम एवं मानसिक परिश्रम को क्रमश: बढाना चाहिए ।

इस सूत्र में 'क्रमेण' यह शब्द सबसे महत्वपूर्ण है । इनमें से किसी भी चीज

का एकान्तिक सेवन अपने आप में रोगकारक है। इसलिये इनकी मात्रा क्रमशः बढाना अपेक्षित है। सुश्रुताचार्य ने भी स्थौल्यहर विहार में व्यायाम का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

## प्रमेह

### १. प्रमेह-सामान्य चिकित्सा सूत्र–

**स्थूलःप्रमेही बलवानिहैकः कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च।**
**संबृंहणं तत्र कृशस्य काय संशोधनं दोषबलाधिकस्य।।**

च. चि. ६/१५

प्रमेहियों में स्थूल प्रेमेही बलवान व कृश प्रमेही दुर्बल होते है। इसिलिये कृश प्रमेही में बृंहण करना चाहिये तथा जिसमें दोषबल व शरीर बल अधिक हो उसमें संशोधन का प्रयोग करना चाहिये।

चरकाचार्य ने प्रमेही दो प्रकार के माने है स्थूल प्रमेही व कृश प्रमेही। यह आज भी देखने को मिलते है। चक्रपाणी ने परिदुर्बल से हीनबल तथा कृश से मांसकृश का ग्रहण करना चाहिये ऐसा कहा है। कृश प्रमेही में सामान्यतः वायू का आधिक्य व स्थूल प्रमेही में सामान्यतः कफ का आधिक्य पाया जाता है। इसलिये कृशप्रमेही में बृंहण व स्थूल प्रमेही में शोधन करना अपेक्षित है।

लेकिन सुश्रुताचार्य ने कृश प्रमेही या सहज प्रमेही में औषधीसिद्ध अन्नपान व वमन विरेचन से संशोधन का प्रयोग करने को कहा है। और स्थूल प्रमेही में मुख्यतः अपतर्पण करने को कहा है। तत्र कृशमन्नपानप्रतिसंस्कृताभिः क्रियाभिश्चिकित्सेत स्थूलमपतर्पणयुक्ताभिः। सु. चि. ११/४ अष्टाङ्गहृदयकार ने कृशप्रमेही में बृंहण औषधी व आहार का प्रयोग करने को कहा है। लेकिन यह औषध या आहार मेदस्कर या मूत्रल भी न हो इसकी ओर ध्यान देने को कहा है। बृंहयेदोषधाहारैरमेदो मूत्रलैः कृशम्। अ. हृ. चि. १३/३७

प्रमेह की चिकित्सा में कई प्रकार के मतमतांतर दिखाई देते हैं। आज रक्तशर्करा का मापन यह मधुमेही में सर्वोपरि माना जा रहा है। मधुमेह को छोडकर अन्य उन्नीस प्रकार के प्रमेह का निदान व चिकित्सा शायद ही कहीं देखने को मिलती है। इसलिये वर्तमान काल में हमें हमारे आचार्यों का इस रोग के प्रति क्या दृष्टिकोण था इसे सहीं ढंग से समझना आवश्यक है। तब तक चिकित्सा के लिये 'युक्ति' सर्वोपरी है।

२. **स्निग्धस्य योगा विविधाः प्रयोज्याः कल्पोपदिष्टा मलशोधनाय।**

**ऊर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीते मेहेषु संतर्पणमेव कार्यम् ।।**

च. चि. ६/१६

बलवान प्रमेही में सम्यग् स्नेहन के पश्चात् मलशुद्धी के लिये कल्पस्थान में बताये गये अनेक प्रकार के योगों का प्रयोग करना चाहिये । उन योगों से वमन विरेचन द्वारा दोषों का नाश होने के पश्चात् प्रमेह रोग में संतर्पण का प्रयोग करना चाहिये ।

शोधनोपक्रम के पश्चात् वातवृद्धी न हो इस हेतु संतर्पण का प्रयोग किया जाता है । कृश प्रमेही में भी बृंहण का प्रयोग सर्वप्रथम इसी दृष्टी से किया जाता है । प्रमेह में धातुओं की विकृती से वैसे ही बल कम रहता है यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिये । इसी अध्याय में आगे चरकाचार्य ने संतर्पण की जगह अपतर्पण चिकित्सा देने पर वृद्ध वायु क्या उपद्रव निर्माण करती है यह भी लिख के रखा है । इसका अर्थ यह सिद्धान्त चिकित्सा में बार-बार परखा जा चुका है ।

## ३. संशमन चिकित्सा कब ?

**संशोधनं नार्हति यः प्रमेही तस्य क्रिया संशमनी प्रयोज्या ।**
**मन्थाः कषाया यवचूर्णलेहाः प्रमेह शान्त्यै लघवश्च भक्ष्याः ।।**

च. चि. ६/८

जो प्रमेही संशोधन के योग्य नहीं रहता उस रोगी में शमन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये । ऐसे रोगियों में प्रमेह की शान्ती के लिये सत्तू, कषाय, जौ का चूर्ण, अवलेह और लघु आहार का प्रयोग करना चाहिये ।

कृश तथा दुर्बल प्रमेही संशोधन के अयोग्य होता है । इसके अलावा अन्य किसी भी कारण से प्रमेही में शोधन करना संभव न हो तो भी इस चिकित्सा का आधार लिया जा सकता है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी, असंशोध्यस्य तान्येव सर्वमेहेषु पाययेत् । अर्थात् शोधन देने योग्य प्रमेही न होने पर शमन औषधियों से चिकित्सा प्रारंभ करनी चाहिये ऐसा कहा है ।

४. **संशोधनोल्लेखन लङ्घनानि काले प्रयुक्तानि कफप्रमेहान् ।**
**जयन्ति पित्त प्रभवान् विरेकः संतर्पणः संशमनो विधिश्चा ।।**

च. चि. ६/२५

संशोधन, वमन, तथा लंघन का उचित समय पर प्रयोग कफज प्रमेह को नष्ट करता है और विरेचन का प्रयोग पित्तज प्रमेह को दूर करता है । इस प्रकार बलवान् और दुर्बल रोगियों के लिए संशमन, संतर्पण विधियों का उल्लेख किया है ।

सामान्य रूप से देखने पर यह पुनरुक्ती लगती है । लेकिन इस सूत्र पर टिप्पणी

करते हुए चक्रपाणी दत्त ने कहा है, उल्लेखन का अर्थ वमन है। उसका संशोधन से अलग उल्लेख कफज प्रमेह की चिकित्सा में वमन का महत्व दर्शाता है। कुछ लोग उसे लंघन ही समझते है। यहां पित्तज प्रमेह के विषय में 'जयन्ति' शब्द आया है। पित्तज प्रमेह याप्य है। यदि पित्तज प्रमेह में मेद की दुष्टी न हो तो विरेचन, संतर्पण, संशमन चिकित्सा द्वारा उस पर विजय प्राप्त हो सकता है ऐसा समझना चाहिए। गंगाधर जी ने 'उल्लेखन' शब्द से वमन का व योगेन्द्रनाथ सेन ने 'उल्लेखन' से वमन व लंघन का ग्रहण करना चाहिये ऐसा कहा है।

५. **संतर्पणोत्थेषु गदेषु योगा मेदस्विनां येच मयोपदिष्टाः ।**
**विरुक्षणार्थं कफपित्तजेषु सिद्धा प्रमेहेष्वपि ते प्रयोज्याः ।।**

च. चि. ६/४९

संतर्पण से उत्पन्न रोगों में जो योग वर्णन किये है तथा मेदस्वी व्यक्तियों के लिये जिन आहार विहार आदी का उपदेश किया है उन्हें कफ व पित्तज प्रमेह में रुक्षण क्रिया के लिये प्रयोग में लाना चाहिये।

सूत्र स्थान मे जो संतर्पणीय अध्याय वर्णन किया है उसका संदर्भ यहां पर लिया गया है। वर्तमानकाल में भी स्थौल्य व प्रमेह में आहार विहार करीबन सरीखा रहता है। वर्तमानकाल की मधुमेह चिकित्सा भी मुख्यतः अपतर्पण चिकित्सा ही है।

## ६. प्रमेह में व्यायामादि–

**व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढैरुद्वर्तनैः स्नानजलावसेकैः ।**
**सेव्यत्वगेलागुरुचन्दनाद्यैर्विलेपनैश्चाशु न सन्ति मेहाः ।।**

च. चि. ६/५०

विविध प्रकार के व्यायाम करने से, उबटन लगाकर बलपूर्वक मालिश करने से, जल में अवगाह तथा स्नान करने से, तथा खस, दालचीनी, छोटी इलायची, अगर व चन्दन का लेप लगाने से प्रमेह रोग उत्पन्न नहीं होते या प्रमेह रोग शीघ्र नष्ट हो जाते है।

व्यायामादी का महत्व प्रमेह में सभी ग्रंथकारों ने वर्णन किया है। यह 'आस्यासुखं स्वप्रमुखं---' आदि प्रमेह के हेतुओं के विपरीत भी है। इसलिये चिकित्सा में व स्वास्थ्यरक्षण इन दोनों के लिये यह परमउपयोगी है।

## ७. प्रमेह में अपतर्पण–

**क्लेदश्च मेदश्च कफश्च वृद्धः प्रमेह हेतुः प्रसमीक्ष्य तस्मात् ।**

**वैद्येन पूर्वं कफपित्तजेषु महेषु कार्याण्यपतर्पणानि ।।**

च. चि. ६/५१

बढे हुए क्लेद, मेद तथा कफ प्रमेह के हेतु है ऐसा समझकर वैद्य ने कफ व पित्तजन्य प्रमेह में अपतर्पण करना चाहिये ।

## ८. प्रमेह में निदान परिवर्जन–

**यैर्हेतुभिर्ये प्रभवन्ति मेहास्तेषु प्रमेहेषु न ते निषेव्याः ।**
**हेतोरसेवा विहिता यथैव जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा ।।**

च. चि. ७/५३

जिन-जिन हेतुओं से जो-जो प्रमेह निर्माण होते है उन-उन प्रमेहों में उन-उन हेतुओं का त्याग करना चाहिये । क्योंकी हेतुओं की असेवा अर्थात् त्याग ही उत्पन्न हुए रोगों की चिकित्सा है ।

●

## त्रयोदशोऽध्यायः

# अस्थिवह-मज्जावह स्त्रोतस

## निद्रानाश

**निद्रानाश की चिकित्सा–**

**अभ्यङ्गोत्सादनं स्नानं ग्राम्यानूपौदका रसाः ।**
**शाल्यन्नं स दधि क्षीरं स्नेहोमद्यंमनः सुखम् ।।**
**मनोसोऽनुगुणागन्धाः शब्दाः संवाहनानि च ।**
**चक्षुशोस्तर्पणं लेपः शिरसो वदनस्य च ।।**
**स्वास्तीर्णं शयनं वेश्म सुखं कालस्तथोचितः ।**
**आनयन्त्यचिरान्निद्रां प्रनष्टा या निमित्ततः ।।**

च. सू. २१/५२-५४

अभ्यङ्ग, उबटन लगाना, स्नान, ग्राम्य आनूप और जलीय पशुपक्षियों का मांसरस, दहीचावल का सेवन, दूध, घृत, मदिरा आदि का सेवन मन के अनुकूल गंध का सेवन व शब्दों का सुनना, संवाहन, नेत्रतर्पण, शिर व मुख पर शीतल द्रव्यों का लेप, सुन्दर, स्वच्छ बिस्तर पर सोना, सुंदर घर में सुखपूर्वक रहना, व अपने समय पर सोने से किसी कारण विशेष से नष्ट निद्रा फिर से आने लगती है ।

सुश्रुताचार्य ने भी निद्रानाश के उपचार में शिरोभङ्ग, कर्णपूरण, शरीरमर्दन, पादसंवाहन, गेहूँ के पदार्थ शक्कर के साथ खाना, दूध व मांसरस का उपयोग व मृदु शय्या आदि का उल्लेख किया है । निद्रानाश में शिरोधारा का भी उपयोग होता है । निद्रानाश के हेतुओं में मुख्यतः वात पित्त प्रकोपक आहार विहार, मानसिकताप, धातुक्षय, अभिघात इन कारणों का अंतर्भाव सुश्रुताचार्य ने किया है । इनके विरुद्ध सभी कर्म निद्राजनन होंगे ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने दूध, मद्य, मांसरस, दही का सेवन, वैसे ही अभ्यङ्ग, उबटन, सिर पर व़ कान में तेल डालना, नेत्रतर्पण, पत्नी के बाहु का आलिंगन, सुख, समाधान, मनोनुकूल विषय यह निद्रा को उत्पन्न करते है ऐसा कहा है ।

## अतिनिद्रा

**कायस्य शिरसश्चैव विरेकच्छर्दनं भयम् ।**
**चिन्ताक्रोधस्तथा धूमो व्यायामो रक्तमोक्षणम् ।।**

**उपवासोऽसुखा शय्या सत्वौदार्य तमोजयः ।**
**निद्राप्रसङ्गमहितं वारयन्ति समुत्थितम् ।।**

च. सू. २१/५५-५६

(काय) विरेचन, नस्य, वमन, भय, चिन्ता व क्रोध उत्पन्न करना, धूमपान, व्यायाम, रक्तमोक्षण, तथा उपवास करना, शय्याका मनोनुकूल न होना, सत्वगुण की अधिकता होना व तमोगुण का नाश होना ये अधिक रूप में आनेवाली निद्रा को नष्ट करते है ।

कफ प्रकोप, तमोगुण का आधिक्य, मेदोवृद्धी, मिष्टान सेवन, भैंस के दूध व दही का सेवन यह अतिनिद्रा के हेतुओं में प्रमुख है । इसका त्याग सर्वप्रथम करना चाहिये । सुश्रुताचार्य ने अतिनिद्रा की चिकित्सा बताते समय कहा है–

**निद्राऽतियोगे वमनं हितं संशोधनानि च ।**
**लङ्घनं रक्तमोक्षश्च मनोव्याकुलनानि च ।।** सु. शा. ४/४६

अर्थात् अतिनिद्रा में वमन, संशोधन, लंघन, रक्तमोक्षण तथा मन को व्याकुल करनेवाली चीजों का प्रयोग लाभदायक रहता है ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी अतिनिद्रा में तीक्ष्ण वमन, अंजन, नस्य, लंघन, चिंता, मैथुन, शोक, भय व क्रोध की योजना करने को कहा है । संक्षेप में, कफनाशक व तमोगुणनाशक चिकित्सा ही अतिनिद्रा की चिकित्सा है ।

## संन्यास

१. **दुर्गेऽम्भसि यथा मज्जभ्दाजनं त्वरया बुधः ।**
**गृह्णियात्तलमप्राप्तं तथा संन्यास पीडितम् ।।**

जिस प्रकार बुद्धिमान मनुष्य जल में डूबने वाले पात्र को तल में जाने से पहले निकाल लेता है उसी प्रकार संन्यास रोगी की चिकित्सा दोषों के गहराई में पहुचने से पहले करनी चाहिये ।

आज भी संन्यास की चिकित्सा को यह सूत्र लागू है । गहरे संन्यास में जाने से पहले यदि रोगी को बाहर निकालने की कोशिश की जाती है तो रुग्ण के बाहर आने की संभावना जादा रहती है । गहरे संन्यास में मनुष्य वनस्पतिवत् हो जाता है । इसलिये संन्यास में सर्वप्रथम आशुलाभकारी उपायोंका प्रयोग सर्वप्रथम किया जाता है ।

**२. संन्यास में आशुलाभकारी उपाय–**

**अञ्जनान्यवपीडाश्च धूमाः प्रधमनानि च ।**
**सूचिभिस्तोदनं शस्तं दाहः पीडा नखान्तरे ।।**

**लुञ्चनं केशलोम्नां च दन्तैर्दशनमेव च ।**
**आत्मगुप्तावघर्षश्च हितं तस्यावबोधने ।।** च. सू. २४/४६-४७
**संमूर्च्छितानि तीक्ष्णानि मद्यानिविविधानि च ।**
**प्रभूत कटुयुक्तानि तस्यास्ये गालयेन्मुहुः ।।** च. सू. २४-४८

अंजन, अवपीडन, धूम, प्रधमननस्य, शरीर में सुई चुभोना, शरीर में दाह, नख के भीतर सुई चुभोना, केश व लोमों को नोचना, दातों से काटना, केवाच के फल को शरीर में रगडना यह सभी क्रीयाएं रोगी को होश में लाने के लिये हितकारी होती है । मूर्च्छित व्यक्ती में अनेक प्रकार के तीक्ष्ण मद्यों को एकत्र मिलाकर उसमें कटु द्रव्य प्रभूतमात्रा में डालकर वारंबार मुख में डालना चाहिये ।

उपरिनिर्दिष्ट क्रीयाओं का मुख्य उद्देश्य शरीर की प्रसूप्त प्रत्यावर्तित क्रीयाओं में उत्तेजनालाना है । इससे संज्ञा लाभ होता है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी संन्यास मे तुरंत तीक्ष्ण अंजन, नस्य, नाक में धूम का प्रधमन, नाखुन के नीचे सुई चुभोना, केश लुंचन, अग्निदग्ध, मुख में कटु तथा अम्ल पदार्थों को डालना, कपिकच्छु का शरीर में लगाना इसके साथ-साथ मधुमक्खी तथा वृश्चिक दंश कराने के लिये कहा है ।

## मद तथा मूर्च्छा

### १. मद तथा मूर्च्छा में पंचकर्म–

**स्नेहस्वेदोपपन्नानां यथादोषं यथाबलं ।**
**पञ्चकर्माणि कुर्वीत मूर्च्छायेषु मदेषु च ।।** च. सू. २४/५४

मद तथा मूर्च्छा के रोगियों में सर्वप्रथम स्नेहन व स्वेदन कराकर दोष तथा रोगी के बलानुसार पंचकर्म का प्रयोग करना चाहिये ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने पंचकर्म के साथ-साथ स्वतंत्र रूप से रक्तमोक्षण का भी उल्लेख किया है । मद तथा मूर्च्छा व संन्यास में फरक बताते हुए चरकाचार्य ने स्पष्ट किया है की मनुष्य में दोषों के वेग शान्त हो जाने पर मद तथा मूर्च्छा तुरंत शान्त हो जाते हैं परन्तु संन्यास औषधी बिना शान्त नहीं होता ।

**दोषेषुमदमूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम् ।**
**स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासोनौषधैर्विना ।।** च. सू. २४/४२

इसका सीधा मतलब यह है की उपर बतायी हुई चिकित्सा मुख्यतः मद व मूर्च्छा के अवेगावस्था की चिकित्सा है ।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि यह मानसरोग होने के कारण विस्मापन,

विस्मारण, प्रियश्रुतिसेवन, विचित्र दर्शन आदि मनोनुकूल चिकित्सा भी इन रोगियों में अपेक्षित है ।

## अपतंत्रक

**श्वसनं कफवाताभ्यां रूद्धं तस्य विमोक्षयेत् ।**
**तीक्ष्णैः प्रधमनैः संज्ञां तासु मुक्तासु विन्दति ।।** च. सि. ९/१६

अपतंत्रक रोग में कफ और वायु द्वारा अवरूद्ध श्वास को तीक्ष्ण प्रधमन द्वारा मुक्त कर प्रवृत्त करना चाहिये ।

इस सूत्र के 'तासु मुक्तासु' भाग पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त कहते है, तास्विति चेतनावहासु धमनीषु । अर्थात् रुके हुए श्वास को पुनः शुरु करने के लिये चेतनावाही धमनी को मुक्त करना चाहिये । सुश्रुताचार्य ने इसे वातव्याधी माना है । अपतंत्रक के वर्णन पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त ने 'जतुकर्ण' का संदर्भ देते हुए उसे दो प्रकार का माना है । (१) कफज (२) वातज और वातज अपतंत्रक को ही अपतानक कहा है । अपतंत्रकं द्विविधं वर्णयन्ति-वातात, कफाच्च, तत्र 'निःसंज्ञ सोऽपतंत्रकः' इत्यनेन वायुना जनितमपतन्त्रकमेवापतानकमाहुः । चक्रपाणी ।

## तंद्रा

**कफघ्नं तत्र कर्तव्यं शोधनं शमनानि च ।**
**व्यायामो रक्तमोक्षश्च भोज्यं च कटुतिक्तकम् ।।** च. सि. ९/२४

कफनाशक शोधन तथा शमन, व्यायाम, रक्तमोक्षण, तथा कटुतिक्त आहार द्रव्यों का सेवन तन्द्रा रोग में कराना चाहिये ।

यह चिकित्सा मुख्यतः हेतुविपरीत चिकित्सा है । तंद्रा रोग के हेतुओं में मधुर, स्निग्ध तथा गुरु अन्न का सेवन, चिंता, श्रम, शोक, दीर्घकाल, किसी रोग से पीडित रहना इनका समावेश है । इनके विपरीत उपरिनिर्दिष्ट चिकित्सा है ।

## उन्माद

**१. साध्यानां तु त्रयाणां साधनानि- स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनो-पशमननस्तःकर्मधूमधूपनाञ्जनावपीडप्रधमनाभ्यङ्गप्रदेहपरिषेकानुलेपनवधबन्धना-वरोधनावरोधनवित्रासनविस्मापनविस्मारणापतर्पणासिराव्यधनानि, भोजनविधानं च यथास्वं युक्त्या, यच्चान्यदपि किंचिन्निदानविपरीत मौषधं कार्यं तदपि स्यादिति ।** च. नि. ७/८

साध्य तीन उन्मादों की चिकित्सा में स्नेहन, स्वेदन, वमन विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, उपशमन, नस्य, धूम, धूपन, अञ्जन, अवपीड, प्रधमन, अभ्यङ्ग, प्रदेह, परिसेचन, अनुलेपन, वध (मार-मार कर अर्धमृतावस्था में लाना), बन्धन, अवरोधन (अन्धेरे घर में बंद करना), वित्रासन (डराना) विस्मापन (आश्चर्य उत्पन्न करना) विस्मारण (भुलाना), अपतर्पण (उपवासं), शिरावेध, दोषानुसार भोजन, और निदान विपरीत औषध का प्रयोग करना चाहिये।

सन्निपातज उन्माद असाध्य है और आगंतुज उन्माद की मुख्य चिकित्सा दैवव्यपाश्रय चिकित्सा है। इसलिये साध्य एकदोषज उन्माद की चिकित्सा का यहां वर्णन किया है। सुश्रुताचार्य ने भी इसी चिकित्सा को दोहराया है। लेकिन आहार व्यवस्था को बडे ही सटीक ढंग से बताया है। रोगी को तीन-तीन दिन के अन्तर से यवागू और यव के मन्थ अथवा लाज सत्तू का तर्पण, कुल्माषों का सेवन तथा हृद्य, अग्निदीपक तथा पथ्य आहार का सेवन कराना चाहिये। सु. उ. ७२/२२, अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी चरकाचार्य का अनुमोदन किया है।

## २. वातज उन्माद की चिकित्सा–

**उन्मादे वातजे पूर्वं स्नेहपानं विशेषवित्।**
**कुर्यादावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदुशोधनम्।।** च. चि. ९/२५

उन्माद चिकित्सा विशेषज्ञ ने वातज उन्माद में सर्वप्रथम स्नेहपान कराना चाहिये। यदि (कफ व पित्त से) वायु का मार्ग आवृत्त अर्थात् अवरुद्ध हुआ हो तो स्नेहयुक्त मृदुशोधन का प्रयोग करना चाहिये।

यहां मृदुशोधन से कफ में वमन व पित्त में विरेचन का ग्रहण करना चाहिये। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी चरकाचार्य का अनुमोदन करते हुए कहा है।

**अथानिलज उन्मादे स्नेहपानं प्रयोजयेत्।**
**पूर्वमावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम्।।** अ. हृ. चि. ६/१८

## ३. उन्माद में पंचकर्म–

**कफपित्तोद्भवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम्।**
**स्निग्धस्विन्नस्य कर्तव्यं शुद्ध संसर्जनक्रमः।।** च. चि. ९/२६

कफ, पित्तज उन्माद में सर्वप्रथम स्नेहन स्वेदन कराकर वमन व विरेचन का प्रयोग करना चाहिये। शरीर शुद्ध होने के बाद संसर्जन क्रम का प्रयोग करना चाहिये।

चक्रपाणी दत्त ने कफपित्तोद्भवे इति कफोद्भवे पित्तोद्भवेच; तत्र कफोद्भवे

वमनं, पितोद्भवे विरेचनम्, ऐसा कहते हुए विषय को और भी स्पष्ट कर दिया है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसीको दोहराया है।

**४. निरुहं स्नेहबस्तिं च शिरसश्च विरेचनम्।**
**ततः कुर्याद्यथादोषं तेषां भूयस्त्वमाचरेत्।।** च. चि. ६/२७

(उन्माद के रोगी में) दोषानुसार निरुह, अनुवसान व शिरोविरेचन अधिक मात्रा में बार-बार करना चाहिये।

संक्षेप में, उन्माद रोगी में सभी कर्म करना अपेक्षित है। इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणीजी कहते है, भूयस्त्वं पुनः पुनः प्रयोग माचरेत; यथादोष मित्यनेन दोषभूयस्त्वे सति पुनः पुनरपि प्रयोगं कुर्यात्। यहां यथादोषं शब्द इन सभी कर्मो का निर्णय वैद्य को अपने अनुभव के आधार निश्चित करना है यह दर्शाता है। यह भी स्पष्ट है की उन्माद जैसा रोग अबलवान, अल्प दोष प्रकोप से उत्पन्न होने की संभावना नहीं है। इसलिये जब तक दोषों का निर्हरण नहीं होता तब तक निरुह अनुवासन, व शिरोबस्ती का प्रयोग करते रहना है। अष्टङ्ग हृदयकार ने भी चरकवचन को ही दोहराया है।

**५. शुद्धस्याचार विभ्रंशे तीक्ष्णं नावनमञ्जनम्।**
**ताडनं च मनोबुद्धि देहसंवेजनं हितम्।।** च. चि. ९/२९

शरीर शुद्धी होने पर भी यदि आचार का विभ्रंश हो जाय, अर्थात् स्मृति और ज्ञान की प्राप्ति न हो तो तीक्ष्णनस्य, अंजन, ताडन, और मन बुद्धि और शरीर में उद्वेग निर्माण करनेवाले कार्य करना हितकर होता है।

इस सूत्र में संवेजन का अर्थ उद्वेजन है ऐसा चक्रपाणी दत्त कहते है। संवेजनमिति उद्वेजनम्। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी चरकोक्त सभी उन्मादनाशक उपायों को दोहराया है। चिकित्सा की इसी शृंखला को आगे बढाते हुए चरकाचार्य ने मन, बुद्धि, स्मृति और संज्ञा का उद्बोधन करनेवाले प्रदेह, उत्सादन, अभ्यङ्ग, धूम्रपान तथा घृतपान कराना चाहिये ऐसा कहा है।

**प्रदेहोत्सादनाभ्यङ्ग धूमाः पानं च सर्पिषः।**
**प्रयोक्तव्यं मनोबुद्धि स्मृति संज्ञा प्रबोधनम्।।** च. चि. ९/३२

**६. आगन्तुज उन्माद की चिकित्सा–**

**सर्पिष्पानादिरागन्तोर्मन्त्रादिश्चेष्यते विधिः।** च. चि. ९/३३

घृतपान, मन्त्र, मणि, बली, पूजापाठ इत्यादि का प्रयोग आगन्तुज उन्माद में करना चाहिये।

आगन्तुज उन्माद में चिकित्सा का प्रारंभ घृतपान से करना अपेक्षित है। आदि शब्द से पंचकर्मों की अन्य क्रीयाओं का यथावश्यक प्रयोग अपेक्षित है। आगन्तुज उन्माद के लक्षण प्रधानतः वातप्रकोपज दिखाई देते है। इसलिये इन रोगियों में बस्ती का प्रयोग लाभकारी सिद्ध हो सकता है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने आगन्तुज उन्माद में चौक में, गाय के गोठे में या नदीं के संगम पर अलग-अलग प्रकार के बली रखने को कहा है। उदा. कच्चा या पक्का मांस खून छिड़के हुए चावल, सुरा, खर्जुरासव इत्यादी।

चरकाचार्य ने इसी अध्याय के ९३-९४ श्लोक में आगंतुज उन्माद का विस्तृत वर्णन किया है।

**बलिभिर्मङ्गलैर्होमैरोषध्यगदधारणैः ।**
**सत्याचारतपोज्ञान प्रदाननियमव्रतैः ।।**
**देवगोब्रह्मणानां च गुरुणां पूजनेन च।**
**आगन्तुः प्रशमं याति सिद्धैर्मन्त्रौषधिस्तथा ।।**

च. चि. ९/९३-९४

अर्थात् आगन्तुज उन्माद बलिकर्म, माङ्गलिक होम, माङ्गलिक औषधों का धारण (उदा. छत्रा, अतिछत्रा इ.) सिद्धार्थक आदि अगदों का धारण, वैसे ही व्यक्तिगत जीवन में सत्य बोलना, सदाचार का पालन, तपस्या, अध्यात्मज्ञान, दान, व्रत का पालन, देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरुओं की पूजा करना, तथा सिद्ध मन्त्र व औषधियों से शान्त होता है।

वर्तमान काल में आगन्तुज उन्माद का निदान करने वाले न रहने के कारण इसकी चिकित्सा करनेवाले वैद्य भी नहीं है। यह चिकित्सा ओझाओं के हाथ में चली गयी है इसलिये उसे समाज में मान्यता भी नहीं है।

### ७. उन्माद मे पुराण घृत–

**विशेषतः पुराणं च घृतं तं पाययेभ्दिषक् ।**
**त्रिदोषघ्नं पवित्रत्वाद्विशेषाद् ग्रहनाशनम् ।।** च. चि. ९/५९
**गुणकर्माधिकं पानादास्वादात् कटुतिक्तकम् ।** च. चि. ९/६०a

चिकित्सक ने उन्माद रोग में विशेष रुपये रोगी को पुराना घृत पिलाना चाहिये। पुराना घृत त्रिदोषघ्न होता है। यह पवित्र होने के कारण देवादि ग्रहों का नाश करता है। पुराण घृत का सेवन करने के पश्चात शरीर में इनके गुणकर्मों की वृद्धी दिखाई देती है। यह स्वाद में कटुतिक्त रसात्मक होता है।

चरकाचार्य ने उन्मादरोगाधिकार में कई घृतों का उल्लेख किया है। इनका उपयोग प्रत्यक्ष चिकित्सा में कम मात्रा में किया जाता है। चरकाचार्य ने १० वर्ष पुराने घृत को पुराण घृत व १० से १०० वर्ष तक के पुराण घृत को प्रपुराणघृत कहा है। लेकिन भावप्रकाशकार ने एक वर्ष पुराने घृत को पुराण घृत कहा है। चरकाचार्य ने घृत से आलोडित मांस का प्रयोग भी उन्माद रोग में बताया है।

८. **एतानौषधयोगान् वा विधेयत्वमगच्छति ।।** च. चि. ९/६३
**अञ्जनोत्सादनालेपनावनादिषु योजयेत् ।** ६४a

यदि उपरिनिर्दिष्ट चिकित्सा से उन्माद रोगी में यदि उपशय न मिले तो अञ्जन, उत्सादन (लेप) आलेप व नस्य इनका प्रयोग करें व इसलिये पूर्ववर्णित द्रव्यों का ही प्रयोग करें।

## ९. उन्माद में धूमपान–

**प्रसेके पीनसे गन्धैर्धूमवर्तिं कृतां पिबेत् ।।** च. चि. ९/७३
**वैरेचनिक धूमोक्तैः श्वेताद्यैर्वा सहिङ्गुभिः ।** ७४a

यदि मुख से पानी गिर रहा हो या पीनस रोग हो तो उन्माद के रोगी में वैरेचनिक धूम प्रकरण में बताये हुए गन्ध द्रव्यों से अथवा श्वेता आदि द्रव्यों मे धूम मिलाकर धूमपान कराना चाहिये।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त ने कहा है, गन्धैरिति अगुर्वाद्यैस्तगर वर्जितैः, उक्तं हि सूत्रस्थाने धूमविधौ– ''गन्धाश्चागुरुपत्राद्याः' (सू. अ. ५) इति। श्वेताद्यैरिति, श्वेता ज्योतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला'' इति सूत्र स्थान एवोक्तैः। अर्थात् यहां गन्ध शब्द से अगुर्वादिगण का ग्रहण किया है लेकिन उसमें (कुष्ठ) व तगर को वर्ज्य किया है। श्वेता आदि से सूत्र स्थान अध्याय ५ में वर्णित श्वेता, ज्योतिष्मती, हरिताल व मैनशील का योग समझना चाहिये। इसमें हिङ्गु मिलाकर प्रयोग करना अपेक्षित है। सुश्रुताचार्य ने भी धूमपान का वर्णन करते समय कुष्ठ और तगर को वर्ज्य माना है। यथा– तत्रैलादिना कुष्ठतगरवर्ज्येन श्लक्ष्णपिष्टेन। सु. चि. ४० संभवतः तगर व कुष्ठ यह दोनों द्रव्य तीक्ष्ण होने से उन्हें गन्ध वर्ग के साथ प्रयोग में वर्ज्य माना है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी 'सहिङ्गुस्तीक्ष्ण धूमश्च सूत्रस्थानोदितो हितः', ऐसा कहा है।

## १०. वात कफजन्य उन्माद की चिकित्सा–

**शल्लकोलूकमार्जारजम्बूकवृक बस्तजैः ।।** च. चि. ९/७४
**मूत्रपित्तशकृल्लोमनखैश्चर्मभिरेव च ।**

**सेकाञ्जनं प्रधमनं नस्यं धूमं च कारयेत् ।।** च. चि. ९/७५
**वातश्लेष्मात्मके प्रायः .................. ।** ७६a

साही, उल्लू, बिलार, स्यार, भेडिया, बकरा इनके मूत्र, पित्त, मल, रोम, नख, त्वचा से वातकफजन्य उन्माद रोगी में परिषेक, स्नान, अञ्जन, प्रधमन, नस्य, धूमपान का प्रयोग करना चाहिये ।

यहां सभी मल भागों का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है । उग्र दर्प होना यह इनका वैशिष्ठ्य है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी वातकफज उन्माद में सडे हुए कुत्ता, गाय व मछली से धूम प्रयोग करने को कहा है । धूपयेत्सततं चैनं श्वगोमत्सैश्च पूतिभिः । वातश्लेष्मात्मके प्रायः.... ।

## ११. पित्तज उन्माद की चिकित्सा–

**............... पैत्तिके तु प्रशस्यते ।**
**तिक्तकं जीवनीयं च सर्पिः स्नेहश्च मिश्रकः ।।** च. चि. ९/७६
**शीतानि चान्नपानानि मधुराणि मृदूनि च ।** ७७a

तिक्तक घृत, जीवनीय घृत, मिश्रक स्नेह तथा शीतल, मधुर और मृदु अन्नपान का सेवन पित्तज उन्माद में प्रशस्त है ।

चक्रपाणी मतानुसार तिक्तक से कुष्ठाधिकार में वर्णित महातिक्तक घृत का, जीवनीय घृत से वातरक्त में वर्णित जीवनीय घृत का व मिश्रक स्नेह से गुल्म चिकित्सा में वर्णित मिश्रक स्नेह का ग्रहण करना चाहिये । अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी सूत्र को दोहराया है ।

## १२. उन्माद में रक्तमोक्षण–

**शङ्खकेशान्तसन्धौ वा मोक्षयेज्ज्ञो भिषक् सिराम् ।**
**उन्मादे विषमेचैव ज्वरेऽपस्मार एव च ।।** च. चि. ९/७७

शंख प्रदेश एवं केशान्त प्रदेश की सन्धि स्थित सिराका वेधन सिरावेधज्ञ वैद्य ने विषमज्वर, उन्माद तथा अपस्मार में करना चाहिये ।

## १३. उन्माद में आश्वासन-इत्यादी–

**आश्वासयेत् सुहृद्वा तं वाक्यैधर्मार्थ संहितैः ।**
**ब्रूयादिष्टविनाशं वा दर्शयदद्भुतानि वा ।।** च. चि. ९/७९

उन्माद से पीडित रोगी के मित्र ने धर्म और अर्थ से पूर्ण वाक्यों द्वारा रोगी को

आश्वासन देना चाहिये। अथवा रोगी के किसी प्रीय वस्तु का नाश हो गया है ऐसा रोगी से कह दे अथवा किसी अद्‌भुत वस्तु को दिखाना चाहिये।

इन सभी क्रियाओं का उद्देश मन को स्थैर्य प्रदान करना है। यह मानसिक चिकित्सा के अलग-अलग प्रकार है। प्रिय वस्तु के नाश के विषय में सुनकर चित्त रोग से विचलित होना अपेक्षित है। आश्चर्य उत्पन्न करने के लिये जादू के प्रयोगों का भी इस्तेमाल किया जा सकता है। इसके साथ-साथ उन्मादी को ताडन देना, प्राण का भय दिखाना आदि उपाय भी बताये है। यह मानसिक चिकित्सा के ही अंग समझने चाहिये। उन्माद में प्रतिद्वंद चिकित्सा का भी उल्लेख चरकाचार्य ने किया है। जैसे कामज उन्माद को क्रोध से, शोकज उन्माद को हर्ष से, हर्षज उन्माद को शोक से जीतना चाहिये। च. चि. ९/८६

## अपस्मार

### १. अपस्मार की सामान्य चिकित्सा–

**तैरावृतानां हृत्स्रोतोमनसां संप्रबोधनम्।**
**तीक्ष्णैरादौ भिषक् कुर्यात् कर्मभिर्वमनादिभिः** ।। च. चि. १०/१४

उन दोषों से आवृत हृदय, स्रोतस व मन का संप्रबोधन करने के लिए वैद्य ने तीक्ष्ण वमन, नस्य आदि कर्मों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

यहां दोषों से तीनों दोषों का तथा सं उपसर्ग पूर्वक प्रबोधन शब्द से हृदय, स्रोतस तथा मन के दोष विरहित सम्यग् व्यापार का ग्रहण करना चाहिये। अपस्मार में मनोवाही स्रोतस में फैले दोष हृदय को पीडित करते है जिसके कारण मनुष्य ज्ञानशून्य हो जाता है। इस संप्रासि को तोडने के लिये वैद्य ने तीक्ष्ण वमन नस्य आदि कर्मों का प्रयोग करना चाहिये।

२. **वातिकं बस्तिभूयिष्ठैः पैत्तं प्रायो विरेचनैः।**
**श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत्** ।। च. चि. १०/१५

वातज अपमस्मार की चिकित्सा बस्तिप्रधान, पित्तज अपस्मार की विरेचन प्रधान व कफज अपस्मार की चिकित्सा वमन प्रधान होती है उसे प्रारंभ करना चाहिये।

यहाँ मुख्यत: शोधन चिकित्सा का प्रयोग अपेक्षित है। इसमें प्रयुक्त द्रव्य साधरणत: तीक्ष्ण होना अपेक्षित है। सन्निपातज अपस्मार असाध्य होने से उसका यहाँ उल्लेख नहीं है। लेकिन प्रत्यक्ष चिकित्सा करते समय दोषों की प्रधानता को देखते

हुए उसी क्रम से शोधन उपक्रमों का प्रयोग सन्निपातज अपस्मारों में करना चाहिये।

### ३. अपस्मार में संशमन–

**सर्वतः सविशुद्धस्य सम्यगाश्वासितस्य च।**
**अपस्मार विमोक्षार्थं योगान् संशमनाच्छृणु**।। च. चि. १०/१६

सभी प्रकार से शुद्ध व उचित रुपये आश्वासित अपस्मार रोगी के लिये अपस्मार को दूर करने वाले संशमन योगों को सुनो। इसी सूत्र को अष्टाङ्ग हृदयकार ने दोहराया है।

### ४. आगन्तुकानुबन्ध अपस्मार चिकित्सा–

**यस्यानुबन्धस्त्वागन्तुर्दोषलिङ्गाधिकाकृतिः ।**
**दृष्यते तस्य कायं स्यादागन्तून्मादभेषजम्**।। च. चि. १०/५३

जिसके अनुबन्ध से दोषज अपस्मार के लक्षणों से अधिक लक्षण दिखाई देते है उस अपस्मार में आगन्तुज कारणों का अनुबन्ध है ऐसा समझना चाहिये। इसकी चिकित्सा आगन्तुज उन्मादवत् करें।

ग्रंथोक्त दोषज अपस्मार के लक्षणों से कुछ ज्यादा लक्षण यदि रोगी में दिखाई दें तो उसमें आगन्तुज का अनुबन्ध है ऐसा समझना चाहिये। बिना दोषज उन्माद के आगन्तुज उन्माद नही हो सकता। इसलिये उसे स्वतंत्र प्रकार न मानते हुए अनुबन्ध माना है। यह अवस्था वातज, पित्तज, कफज या त्रिदोषज अपस्मार में हो सकती है।

### ५. अतत्वाभिनिवेश चिकित्सा–

**स्नेहस्वेदोपपन्नं तं संशोध्य वमनादिभिः।**
**कृतसंसर्जनं मेध्यैरन्नपानैरुपाचरेत्** ।। च. चि. १०/६१

स्नेहन स्वेदन पश्चात् वमन आदि शोधन कर्म कराकर तत्पश्चात् संसर्जनक्रम का प्रयोग करके मेध्य अन्नपान का सेवन कराते हुए चिकित्सा करनी चाहिये।

चरकाचार्य ने इसी के साथ-साथ आश्वासन का भी प्रयोग करने को कहा है। मनोनुकूल आप्त, धर्मार्थवादि मित्र, विज्ञान, धैर्य, स्मरणशक्ती व समाधी से अतत्वाभिनिवेश के रोगी में लाभ दिखाई देता है।

### ६. अपस्मार में रसायन प्रयोग–

**दुश्चिकित्स्यो ह्यपस्मारश्चिरकारी कृतास्पदः।**
**तस्माद्रसायनैरेनं प्रायशः समुपाचरेत्**।। च. चि. १०/६५

यह अपस्मार रोग दु:श्चिकित्स्य अर्थात् चिकित्सा के लिये कठिन व चिरकारी होता है। इसलिये अपस्मार की चिकित्सा में प्राय: रसायन औषधि का सेवन करना चाहिये।

रसायन प्रयोग के लिये शरीर शुद्धी आवश्यक है जो अपस्मार की चिकित्सा का अभिन्न अंग है। इसलिये इन रूग्णों में रसायन चिकित्सा आसानी से दी जाती है। वैसे ही इस रोग में स्मृति की विकृती हो जाती है अत: उसे पूर्व स्थिती में लाने के लिये भी रसायन चिकित्सा परमावश्यक है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसीको दोहराते हुए कहा है की शरीर व मानसदोष एकत्रित कुपित होकर अपस्मार उत्पन्न होता है, और वह महामर्माश्रित (हृदयाश्रित) होकर दुश्चिकित्स्य रहता है। इसलिये इसमें रसायन चिकित्सा देनी चाहिये।

**समं कृद्धैरपस्मारो दोषैः शारिरमानसैः ।**
**यज्जायते यतश्चैष महामर्मसमाश्रयः ।।** अ. हृ. उ. ८/३५
**तस्माद्रसायनैरेनं दुश्चिकित्स्यमुपाचरेत् ।** ३६a

•

चतुर्दशोऽध्यायः

# शुक्रवह स्त्रोतस

## शुक्रदोष चिकित्सा

### १. शुक्रदोषनाशक चिकित्सा की दिशा–

**पञ्चकर्म विशुद्धस्य पुरुषस्यापि चेन्द्रियम् ।।** च. चि. ३०/१२६
**परीक्ष्य वर्णेदोषाणां दुष्टं तद्घ्नैरुपाचरेत् ।**

वीर्य दोषों की वर्णद्वारा परीक्षा करने के पश्चात् पंचकर्म द्वारा शुद्ध पुरुष की यथावश्यक शुक्रदोषनाशक औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिये।

इसमे वीर्य को इंद्रिय कहा गया है। वैसे ही चिकित्सा से पूर्व यथावश्यक शोधन भी अपेक्षित है। वीर्य के आठ दोषों का वर्णन वर्ण के आधार पर भी है। इसलिये यहां वर्ण का उल्लेख आया है। इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त कहते हैं, इंन्द्रियमिति शुक्रम्। परीक्षणाद्दोषाणां वातादीनां वर्णैर्यदि दुष्टं भवति तदा वातादिवर्णयोगाद्वातादि हरैर्भेषजैरुपाचरेदित्यर्थः।

### २. शुक्रदोषनाशक चिकित्सा–

**वाजीकरणयोगैस्तैरुपयोग सुखैर्हितैः ।।** च. चि. ३०/१४६
**रक्तपित्त हरैर्योगैर्योनिव्यापदिकैस्तथा ।**
**दुष्टं यदाभवेच्छुक्रं तथा तत् समुपाचरेत् ।।** च. चि. ३०/१४७

शुक्र दूषित हो जाने पर उपयोगी, सुखकारक व हितावह वाजीकर प्रयोगों से तथा रक्तपित्तनाशक व योनिव्यापदहर योगों से उसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

सुश्रुताचार्य ने शुक्रदोष की सामान्य चिकित्सा स्नेहन, वमन, विरेचन, निरुह बस्ति, अनुवासन बस्ति के पश्चात उत्तरबस्ति का प्रयोग करने को कहा है।

**स्निग्धं वान्तं विरिक्तं च निरुढमनुवासितम् ।**
**योजयेच्छुक्रदोषार्त्तं सम्यगुत्तरबस्तिना ।।** सु. शा. २/१२

### ३. अन्य धातुमिश्रित शुक्र चिकित्सा

**यदन्यधातुसंसृष्टं शुक्रं तद्वीक्ष्य युक्तितः ।**
**यथादोषं प्रयुञ्जीत दोषधातुभिषग्जितम् ।।** च. चि. ३०/१५१

यदि शुक्रधातू के साथ अन्य (रक्त आदि), धातु मिला हुआ दिख रहा हो तो दोष और धातुओं को शुद्ध करनेवाली चिकित्सा का युक्तिपूर्वक प्रयोग दोषानुसार करना चाहिये ।

चरकाचार्य ने वर्णन करते समय सरक्त शुक्र का ही वर्णन किया है । उसके साथ-साथ वातदूषित वीर्यलक्षण पित्तदूषित वीर्यलक्षण व कफ दूषित वीर्यलक्षण भी बताये है । लेकिन अन्य धातुओं का शुक्र के साथ बाहर निकलने का कही वर्णन नही है । सुश्रुताचार्य ने मल व मूत्र का शुक्र के साथ निकलना बताया है लेकिन धातुओं के निकलने का स्वतंत्र वर्णन नहीं है । इस स्थिती में मुख्यत: दोषों का विचार कर चिकित्सा करनी चाहिये ऐसा चरकाचार्य का मत है । इसलिये उन्होंने इस सूत्र के पहले 'वातान्विते हिता:शुक्रे निरुहा: सानुवासना:' कहते हुए दोषानुसार शुक्रदोषकी चिकित्सा का वर्णन किया है ।

## ४. शुक्रदोष चिकित्सा में आहार पदार्थ–

**सर्पिः पथो रसाः शालिर्यवगोधूमषष्टिकाः ।**
**प्रशस्ताः शुक्रदोषेषु बस्तिकर्म विशेषतः ।।** च. चि. ३०/१५२

शुक्रदोष में घृत, दूध, मांस रस, शालिचावल, गेंहूँ, षष्टिचावल तथा बस्तिकर्म, करना प्रशस्त माना गया है ।

उपरिनिर्दिष्ट आहार द्रव्यों का शुक्रदोष में उपयोग निश्चित रूप से लाभकारी होता है ऐसा चिकित्सानुभव है । वीर्य का बाहर निकलना यह वायु का कर्म है और विशेषत: अपान वायु का यह क्षेत्र है इसलिये बस्तिकर्म का विशेष उल्लेख यहां किया गया है ।

## क्लैब्य

## १. क्लैब्य की सामान्य चिकित्सा–

**शुक्रदोषेषु निर्दिष्टं भेषजं यन्मयाऽनघ ।**
**क्लैब्योपशान्तये कुर्यात् क्षीणक्षतहितं च यत् ।।**
**वस्तयः क्षीरसर्पींषि वृष्ययोगाश्च ये मतः ।**
**रसायन प्रयोगाश्च सर्वनितान् प्रयोजयेत् ।।**
**समीक्ष्य देहदोषग्निबलं भेषजकालवित् ।**
**व्यवाय हेतुजेक्लैब्ये तथा धातु विपर्ययात् ।।**
**दैवव्यपाश्रयंचैव भेषजं चाभिचारजे ।**
**समासैनैतदुद्दिष्टं भेषजं क्लैब्यशान्तये ।।** च. चि. ३०/१९२-१९५

शुक्रदोष में बतायी गई अथवा क्षतक्षीण के रोगी में उपयोगी औषधियों का प्रयोग क्लैब्य में करना चाहिये। औषध तथा काल के ज्ञाता वैद्यने देह, दोष व जाठराग्नी की समीक्षा कर अत्यधिक मैथुन से या धातुओं के विपर्यय से उत्पन्न क्लैब्य में जो बस्तियां, दूध, घी, वृष्य तथा रसायन योगों का वर्णन किया है उन सभी का प्रयोग करना चाहियें। अभिचार से उत्पन्न नपुंसकता में दैवव्यपाश्रय चिकित्साका प्रयोग करना चाहिए।

सुश्रुताचार्य ने इसे और संक्षेप में कहा है। उन्होंने मानसिक, शुक्रक्षयजन्य, अत्यधिक मैथुनजन्य, मेढ्ररोगजन्य, सहज व शुक्रवेग धारणजन्य ऐसे नपुंसकता के छह प्रकार बनाये है। उसमें से सहज व मेढ्ररोगजन्य (मर्मच्छेदजन्य) क्लीबता को असाध्य बताते हुए अन्य साध्य क्लैब्य रोगों में हेतु विपरित चिकित्सा करने को कहा है। साध्यानामितरेषां तु कार्यो हेतु विपर्ययः ॥ सु. चि. २६/१५

## २. क्लैब्य में संशोधन–

**सुस्विन्नस्निग्धगात्रस्य स्नेहयुक्तं विरेचनम् ।।** च. चि. ३०/१९६b
**अन्नाशनं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः ।**
**प्रदद्यान्मतिमान् वैद्यस्ततस्तमनुवासयेत् ।।** च. चि. ३०/१९७
**पलाशैरण्डमुस्ताद्यैः पश्चादास्थापयेत्ततः ।** १९८a

क्लैब्य रोगी को सर्वप्रथम सम्यक् स्नेहन स्वेदन कराकर स्नेह से युक्त विरेचन देना चाहिये। तत्पश्चात् बुद्धिमान वैद्य ने उसे अन्न सेवन कराकर आस्थापन बस्ति देनी चाहिये। इसके बाद अनुवासन बस्ति का प्रयोग करे व अंत में पलाश, एरण्डमूल, नागरमोथा आदि से सिद्ध आस्थापन बस्ति का प्रयोग करें।

## ३. क्लैब्य में वाजीकरण–

**वाजीकरण प्रयोगाश्च पूर्वं ये समुदाहृताः ।।** च. चि. ३०/१९८
**भिषजा ते प्रयोज्याः स्युः क्लैब्ये बीजोपधातजे ।**

पहले (चि. अ. २ में) जो वाजीकर योग बताये गए है उनका प्रयोग वैद्य ने बीजोपधातज क्लैब्य में करना चाहिये।

बीजोपघातज क्लैब्य मे वाजीकरण योगों का प्रयोग यह दर्शाता है की आयुर्वेदीय वाजीकर योग यह सिर्फ यौन शक्ती बढानेवाली दवाइयां नहीं है। सेवन करनेवाले के शरीर में वह अलग-अलग स्तर पर कार्य करती है। इसे गंभीरता से समझना चाहिये।

### ४. ध्वजभंगकृत् क्लैब्य की चिकित्सा–

**ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यं ज्ञात्वातस्याचरेत् क्रियाम् ।।** च. चि. ३०/१९९
**प्रदेहान् परिषेकांश्च कुर्याद्वारक्तमोक्षणम् ।**
**स्नेहपानं च कुर्वीत सस्नेहं च विरेचनम् ।।** च. चि. ३०/२००
**अनुवासं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः ।**
**व्रणवच्च क्रियाः सर्वास्तत्र कुर्याद्विचक्षणः ।।** च. चि. ३०/२०१

ध्वजभङ्ग से होनेवाले क्लैब्य में सर्वप्रथम प्रदेह व परिषेक कराकर रक्तमोक्षण करना चाहिये । तत्पश्चात् स्नेहपान कराकर या स्नेहयुक्त द्रव्यों को खिलाकर विरेचन कराना चाहिये । तत्पश्चात् अनुवासन अथवा आस्थापन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये । विचक्षण वैद्य से अपेक्षा है की वह इसकी व्रण के समान चिकित्सा करें ।

ध्वजभंग के रुग्णों में लिंग में शोथ, वेदना, राग, तीव्र स्फोट उत्पन्न होना, पाकावस्था प्राप्त होना, लिङ्ग के ऊपर मांस की वृद्धि होना व व्रणोत्पत्ती होना यह लक्षण पाये जाते है । इसलिये इसकी व्रण के समान ही करनी चाहिये । अन्य उपचार यह सहायक उपचार के रूप में किये जाने चाहिये ।

### ५. जराजन्य अथवा क्षयज क्लैब्य की चिकित्सा–

**जरासंभवजे क्लैब्ये क्षयजे चैव कारयेत् ।**
**स्नेहस्वेदोपपन्नस्य सस्नेहं शोधनं हितम् ।।** च. चि. ३०/२०२
**क्षीरसर्पिर्वृष्ययोगा वस्तयश्चैव यापनाः ।**
**रसायनप्रयोगाश्च तयोर्भेषज मुच्यते ।।** च. चि. ३०/२०३

वृद्धावस्था के कारण तथा शुक्रक्षय के कारण उत्पन्न क्लैब्य में यथोचित स्नेहन स्वेदन करने के पश्चात् सस्नेह, हितकर शोधन करना चाहिये इस अवस्था में क्षीरसर्पि, वृष्ययोग, यापनबस्ति, तथा रसायन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये ।

## पञ्चदशोऽध्यायः

# मलवह स्त्रोतस

## बस्तिकुंडल

### १. बस्तिकुंडल की चिकित्सा–

**दोषाधिक्यममवेक्ष्यैतान् मूत्रकृच्छ्रहरैर्जयेत् ।।** च. सि. ९/४९
**बस्तिमुत्तरबस्तिं च सर्वेषामेव दापयेत् ।**

दोषाधिक्य का अर्थात् दोषों की प्रबलता का विचार कर मूत्रकृच्छ्रनाशक औषधियों के प्रयोग से बस्तिकुंडल की चिकित्सा करनी चाहिये । सभी प्रकार के बस्ति विकारों में बस्ति तथा उत्तर बस्ति का प्रयोग करना चाहिये ।

चरकाचार्य ने तेरह बस्तिरोग गिनाये है । बस्तिकुंडल यह तेरहवा रोग है । इनके नाम इस प्रकार है । (१) मूत्रौकसाद (२) मूत्रजठर (३) मूत्रकृच्छ्र (४) मूत्रोत्सङ्ग (५) मूत्रक्षय (६) मूत्रातीत (७) वाताष्ठीला (८) वातबस्ति (९) उष्णवात (१०) वातकुण्डलिका (११) मूत्रग्रन्थि (१२) विड्विघात व (१३) बस्तिकुंडल । इसमें से मूत्रकृच्छ्र का वर्णन चिकित्सा स्थान अध्याय २६ में किया गया है । लेकिन यह मूत्रकृच्छ्र इस अध्याय में वर्णित मूत्रकृच्छ्र से भिन्न है ऐसा चक्रपाणीदत्त का कहना है दोनों के लक्षण भिन्न है ऐसा कारण उन्होंने दिया है । एतल्लक्षणान्तर युक्तमेव कृच्छ्रं, मूत्रकृच्छ्र मितोऽन्यदेव, भिन्न लक्षणत्वाद् । इन सभी विकारों में बस्ति, उत्तरबस्ति तथा मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा का प्रयोग करना अपेक्षित है ।

## मूत्रकृच्छ्र

### १. वातज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा–

**अभ्यञ्जनस्नेहनिरूहबस्तिस्नेहोपनाहोत्तरबस्तिसेकान् ।**
**स्थिरादिभिर्वातहरैश्चसिद्धान् दद्याद्रसांश्चानिलमूत्रकृच्छ्रे ।।**
च. चि. २६/४५

(वातनाशक तैल से) अभ्यङ्ग स्नेह तथा निरुह बस्ति, स्नेह द्रव्यों से निर्मित उपनाह उत्तरबस्ति तथा सेक अर्थात् कटिप्रदेश पर वातनाशक तैल या क्वाथों का परिषेक वातज मूत्रकृच्छ्र में करना चाहिये । वैसे ही स्थिरादि (लघुपंचमूल) वर्ग और वातनाशक द्रव्यों को पानी में सिद्ध कर उस जल में सिद्ध मांस रस का सेवन कराना चाहिये ।

वातज मूत्रकृच्छ्र में तीव्र वेदना रहती है । उसे दूर करना यह चिकित्सा का प्रधान उद्देश होना चाहिये । लघुपंचमूल व वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध जल के प्रयोग से वेदनाशमन के साथ-साथ मूत्र की मात्रा भी बढेगी । इस सूत्र के पश्चात् चरकाचार्य ने वातजमूत्रकृच्छ्रनाशक स्नेह व उपनाह का अलग से वर्णन दिया है । उसे यथास्थल देखें ।

## २. पित्तज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा–

**सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहा ग्रैष्मोविधिर्बस्तिपयोविरेकाः ।**
**द्राक्षाविदारीक्षुरसैर्घृतैश्च कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः ।।**

च. चि. २६/४९

शीतल द्रव्यों के क्वाथ से परिषेक, अवगाह व प्रदेह का प्रयोग, ग्रीष्मऋतु की चर्या का पालन तथा बस्ति क्षीरपान और विरेचन का प्रयोग पित्तज मूत्रकृच्छ्र में करना चाहिये । वैसे ही द्राक्षारस विदारिकन्द स्वरस, गन्ने का रस और घृत आदि पित्तशामक द्रव्यों से चिकित्सा करनी चाहिये ।

पित्तज मूत्रकृच्छ्र में वेदना के साथ दाह भी होता है । इसलिये दाहशामक चिकित्सा भी वेदनाशामक चिकित्सा के साथ-साथ अपेक्षित है ।

## ३. कफज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा–

**क्षारोष्णतीक्ष्णौषधमन्नपानं स्वेदो यवान्नं वमनं निरुहाः ।**
**तक्रं सतिक्तौषधसिद्धतैलमभ्यङ्गपानं कफमूत्रकृच्छ्रे ।।**

च. चि. २६/५४

क्षार, उष्ण, तीक्ष्ण, कटु रसवाले अन्नपान का सेवन, स्वेदन, जौ से बने पदार्थों का सेवन, निरुह बस्ति प्रयोग, तक्र प्रयोग, तिक्तोषधसिद्ध तैलाभ्यङ्ग एवं उस तैल का सेवन कफज मूत्रकृच्छ्र में करना चाहिये ।

कफज मूत्रकृच्छ्र में कष्टदायक मूत्रप्रवृत्ती के साथ-साथ मूत्राशय में भारीपन व शोथ रहता है । इसलिये कफनाशक आहार का उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है । तत्पश्चात विहार का वर्णन है और इस सूत्र के बाद कफज मूत्रकृच्छ्रनाशक अन्यान्य कल्पों का वर्णन आया है ।

## ४. त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा–

**सर्वं त्रिदोषप्रभवे तु वायोः स्थानानुपूर्व्या प्रसमीक्ष्य कार्यम् ।**
**त्रिभ्योऽधिके प्राग्वमनं कफे स्यात् पित्ते विरेकः पवने तु बस्तिः ।।**

च. चि. २६/५८

त्रिदोष के प्रभाव से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र में वायु के स्थान का विचार करते हुए

चिकित्सा करनी चाहिये। यदि तीनों दोषों में कफ की अधिकता हो तो सर्वप्रथम वमन, पित्त की अधिकता हो तो विरेचन और वायु की अधिकता हो तो बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

ज्वर चिकित्सा में 'कफ स्थानानुपूर्व्या' कहा गया है। वो नियम यहां लागू नहीं होता। यह व्याधी भी वातस्थान में है। मूत्र को बाहर निकालना यह भी वायु का ही कार्य है। इसलिये वायु की चिकित्सा सर्वप्रथम करना चाहिये। यदि तीनों दोषों में कफ की अधिकता हो तो सर्वप्रथम वमन व पित्त की अधिकता हो तो विरेचन देना भी युक्तिसंगत ही है।

## ५. अश्मरी-शर्करा चिकित्सा–

**क्रिया हिता साऽश्मरिशर्कराभ्यां कृच्छ्रे यथैवेह कफानिलाभ्याम्।**

च. चि. २६/५९a

कफज व वातज मूत्रकृच्छ्र के लिये जो चिकित्सा बताई गयी है वहीं चिकित्सा अश्मरी व (मूत्र) शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र में करनी चाहिये।

इसे और स्पष्ट करने के लिये चक्रपाणी दत्त ने कहा है, क्रिया हिता सेति या कफमारुतोत्थे कृच्छ्रे विहिता सा मिलितैव शर्करायामश्मर्यां च कर्तव्या। अश्मरी की संप्राप्ती भी कुछ इस प्रकार है, मूत्राशय में गये हुये शुक्र के साथ मूत्र को अथवा पित्त के साथ या कफ के साथ मूत्र को वायु सुखा देती है तब बस्ती में अश्मरी बन जाती है। इस संप्राप्ती को भंग करने के लिये वात कफघ्न चिकित्सा का मिलित रूप से प्रयोग लाभकारी सिद्ध होगा।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने अश्मरी के पूर्वरूपावस्था में ही चिकित्सा प्रारंभ करने को कहा है। तस्य पूर्वेषु रूपेषु स्नेहादिक्रमईष्यते। यह व्याधी नूतन अवस्था में भेषज साध्य व प्रवृद्ध अवस्था में शस्त्रकर्मसाध्य होती है ऐसा कहा है।

## ६. शुक्रज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा–

**रेतोऽभिघातप्रभवे तु कृच्छ्रे समीक्ष्य दोषं प्रतिकर्म कुर्यात्।**

च. चि. २६/६९a

शुक्रवेग रोकने से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र में दोषों की प्रधानता के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

आगे चरकाचार्य ने कहा है कि यदि दोष प्रत्यनिक चिकित्सा से लाभ न हो तो रोगी को पुरानी मदिरा या मधुकासव पिलाना चाहिये। तथा बृंहण के लिये पक्षियों के मांस का सेवन व शुक्राशय शोधन के लिये उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिये। शुक्राशय शुद्ध होने के पश्चात् वाजीकर औषधियों का प्रयोग कर अनुकूल स्त्रीयों से मैथुन करने के लिये प्रेरित करना चाहिये।

●

## षोडशोऽध्यायः

# ऊरुस्तम्भ-वातव्याधि-वातरक्त

### १. ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा–

**तस्य संशमनं नित्यं क्षपणं शोषणं तथा ।**
**युक्त्यपेक्षी भिषक् कुर्यादधि कत्वात्कफामयोः** ।। च. चि. २७/२४

युक्ति की अपेक्षा रखनेवाले चिकित्सक ने उरुस्तम्भ के रोगियों में दोषों का शमन, क्षपण अर्थात् दोषों का नाश करना और शोषण अर्थात् दोषों को सुखाना यह चिकित्सा करनी चाहिये क्योंकी इस रोग में कफ और आम दोष की अधिकता रहती है ।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त कहते है, तस्योरूस्तम्भस्य शमनं कर्तव्यं न शोधन मित्यर्थः । क्षपणं शोषणमामकफयोः कुर्यादिति योजना; तत्र क्षपणं सर्वथोच्छेदन, शोषणम् द्रवभाग विशोषणम् । अर्थात, ऊरुस्तम्भ में शमन अपेक्षित है, न की शोधन । क्षपण से आम व कफ का छेदन (या लेखन) अपेक्षित है, शोषण से द्रवभाग का शोषण अपेक्षित है । क्षपण पिच्छिल गुण के विरोधी व शोषण द्रवगुण विरोधी जानना चाहिये ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा का वर्णन करते समय संशोधन का निषेध बताते हुए कफ, आम व मेद के आधिक्य के कारण उनका कर्षण करने के लिये रुक्ष उपचार करने को कहा है ।

**ऊरुस्तम्भे न च स्नेहो न च संशोधनं हितम्** ।। अ. हृ. चि. २१/४४
**श्लेष्मामभेदोबाहुल्याद्युक्त्या तत्क्षपणान्यतः** । ४५a
**कुर्याद्रूक्षोपचारश्च.........................**

सुश्रुताचार्य का चिकित्साक्रम भी करीबन ऐसा ही है ।

इस रोग का वर्णन करने के बहाने चरकाचार्य ने दो बातों पर प्रकाश डाला है । एक तो शोधन चिकित्सा की मर्यादा व दूसरा गलत निदान की संभावना । अन्य किसी रोग में इस प्रकार का वर्णन शायद ही होगा । शोधन चिकित्सा की मर्यादाओं को बार-बार दोहराना भी अपने आप में महत्वपूर्ण है ।

२. **रुक्षणाद्वातकोपश्चेन्निद्रानाशार्ति पूर्वकः** ।। च. चि. २९/४०
**स्नेहस्वेदक्रमस्तत्र कार्यो वातामयापहः** । ४१a

(उरुस्तम्भ मे) रुक्षण करने से निद्रानाश व बेचैनी होती है तथा उसके साथ-

साथ वातप्रकोप हो जाता तो इस अवस्था में वातनाशक स्नेह-स्वेद क्रम का प्रयोग करना चाहिये ।

यह एक विशिष्ट अवस्था की चिकित्सा है । या यूं कहिये की ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा के अतियोग से उत्पन्न अवस्था की चिकित्सा है । सुश्रुताचार्य ने ऊरुस्तम्भ के चिकित्सा के अंत में इसे बताया है ।

**यदास्यातां परिक्षीणे भूयिष्ठे कफमेदसी ।**
**तदा स्नेहादिकं कर्म पुनरत्रावचारयेत् ।।** सु. चि. ५/३९

अर्थात् कफ व मेदके क्षीण हो जाने पर स्नेहादि कर्म का पुन: प्रयोग करना चाहिये ।

### ३. ऊरुस्तम्भ में व्यायाम–

**कफक्षयार्थं शक्येषु व्यायामेष्वनुयोजयेत् ।** च. चि. २७/५८a

इस रोग में कफ का क्षय करने के लिये जितना संभव है उतना व्यायाम रोगी ने करना चाहिये ।

इस सूत्र के आगे जो व्यायाम बताये है वह रोग को देखते हुए उत्तम व्यायाम का नमूना है । जैसे ऊंचे स्थानों पर से कूदनां, वालुकामय प्रदेश में बार-बार कूदना, प्रवाह की विरुद्ध दिशा में नदीं में तैरना इत्यादि । इससे शरीर में रुक्ष गुण बढेगा व कफ का मेदका अनुबंध कम होता रहेगा ।

### ४. ऊरुस्तम्भ का संक्षेप में चिकित्सा सूत्र–

**श्लेष्मण: क्षपणं यत् स्यान्न च मारुतमावहेत् ।।** च. चि. २७/६०
**तत् सर्वं सर्वदाकार्यमूरूस्तम्भस्य भेषजम् ।**
**शरीरं बलमग्निं च कार्यैषा रक्षता क्रिया ।।** च. चि. २७/६१

जो भी कार्य कफ को नष्ट करने वाले लेकिन वात को न बढाने वाले हो उन सभी कार्यों (आहार, विहार, औषध) का ऊरुस्तम्भ में निरंतर प्रयोग औषधी समान है अर्थात् यही ऊरुस्तम्भ के लिये भेषज समान है । यह कार्य देहबल व अग्नि की रक्षा करते हुए करना चाहिये ।

## वातव्याधि चिकित्सा–

### १. वातव्याधि में स्नेहन–

**केवलं निरुपस्तम्भमादौ स्नेहैरूपाचरेत् ।।** च. चि. २८/७५b
**वायु सर्पिर्वसातैलमज्जापानैर्नरं ततः ।** ७६a

निरुपस्तम्भित अर्थात् आवरण रहित वायु से रोग उत्पन्न हुआ हो तो सर्वप्रथम स्नेह का आभ्यन्तर प्रयोग, जैसे घृत, तैल, वसा, मज्जा पान सर्वप्रथम करना चाहिये। स्नेहन होने के पश्चात ही आगे बताई चिकित्सा का प्रयोग करें।

यहां स्नेह प्रयोग से आभ्यन्तर प्रयोग, अर्थात् स्नेहपान अपेक्षित है। जो स्निग्ध गुण से वायु के रुक्ष गुण को जीतता है। लेकिन वह अनावृत्त होना अपेक्षित है। आवृत्तवात में सर्वप्रथम आवरण की चिकित्सा अपेक्षित रहती है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी सूत्र को दोहराते हुए चरकमत का अनुमोदन किया है।

## २. स्नेहोपरांत बस्ति, नस्य–

**स्नेहक्लान्तं समाश्वास्य पयोभिः स्नेहयेत् पुनः** ।। च. चि. २८/७६b
**यूषैर्ग्राम्याम्बुजानूपरसैर्वा स्नेहसंयुतैः** ।
**पायसैः कृशरैः साम्ललवणैरनुवासनैः** ।। ७७
**नावनैस्तर्पणैश्चान्नैः सुस्निग्धं स्वेदयेत्ततः** । ७८a

इस प्रकार स्नेहन से क्लान्त (थके हुए) रोगी को आश्वासन देकर दूध आदि पिलाकर पुनः स्नेहन करना चाहिये। इसके लिये यूष, ग्राम्य, जलीय अथवा आनूप पशुपक्षियों के मांसरस में घृत आदि स्नेहों को मिलाकर अथवा अम्लरस व लवण मिलाकर बनाई हुई खिचडी या खीर खिलाकर तथा अनुवासन, नस्य, तर्पण द्वारा स्नेहन करना चाहिये। इस तरह सम्यक् स्नेहन के पश्चात् स्वेदन करना चाहिये।

## ३. वातव्याधि में स्वेदन–

**स्वभ्यक्तं स्नेहसंयुक्तैर्नाडी प्रस्तर संकरैः** ।। च. चि. २८/७८b
**यथाऽन्यैर्विविधैः स्वेदैर्यथायोगमुपाचरेत्** । ७९a

इस प्रकार संपूर्ण स्नेहन के पश्चात् जिस अंगप्रदेश में वातप्रकोप हो या सर्वाङ्ग पर तेल से मालिश कर स्नेह युक्त विविध प्रकार के स्वेदन का प्रयोग करना चाहिये।

जिस प्रकार विविध प्रकार से स्नेहन का उल्लेख है उसी प्रकार सूत्र स्थान में बताये विविध स्वेदन का प्रयोग करना यहां अपेक्षित है ताकी सम्यक् स्वेदन हो। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी मत का अनुमोदन किया है। स्वेदन से वायु के शीत गुण का प्रतिकार होता है।

## ४. वातव्याधी में मृदुविरेचन–

**यद्यनेन सदोषत्वात् कर्मणा न प्रशाम्यति** ।। च. चि. २८/८३b
**मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैरौषधैस्तं विशोधयेत्** । ८४a

यदि वातव्याधी अधिक दोष के कारण उपर बताये हुए चिकित्सा से शान्त न हो तो रोगी को स्नेह के साथ मृदु विरेचक औषधियों से शोधन करना चाहिये।

इस सूत्र पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त ने स्पष्ट किया है की उपर बताई चिकित्सा निरूपस्तम्भ वायु की चिकित्सा है। यदि वायु के साथ अन्य दोष की उपस्थिति हो या आवरण हो उसे शोधन द्वारा निकालना पड़ेगा। इसलिये यहां विरेचन का प्रयोग बताया है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी सूत्र को दोहराया है।

## ५. वातव्याधि में निरुह–

**दुर्बलो योऽविरेच्यः स्यान्तं निरुहैरुपाचरेत्** ।। च. चि. २८/८६
**पाचनैर्दीपनीयैर्वा भोजनैस्तद्युतैर्नरम्** । ८७a

यदि वातरोगी दुर्बल होने से विरेचन लेने में सक्षम न हो तो निरूहं बस्ती का प्रयोग करना चाहिये। ऐसे रोगी को दीपन पाचन द्रव्यों से युक्त निरुह तथा दीपन पाचन औषधियों से युक्त आहार देना चाहिये।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणीदत्त कहते है, 'दुर्बलो योऽविरेच्य इति दुर्बलत्व प्रकर्षेणाविरेच्य इत्यर्थः। तथा हि "अनास्थाप्या स्त्वजीर्णी" (सि. अ. २) इत्यादौ अतिदुर्बलः पठितः। अत्यर्थं दुर्बलतया बस्त्यनर्हेऽपि विधिमाह, पाचनैर्दीपनीयैश्चेति। पाचनं किंचिन्न दीपनं, यथा पटोलं दीपनं, दीपनं किंचिन्न पाचनं यथा त्रिफला; उक्तं हि सुश्रुते-त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठ विनाशिनी। चक्षुष्या दीपनी च। इति अतः पाचनैरित्यस्य दीपनैरिति विशेषणं कृतम्। संक्षेप में, यहां दुर्बल से अतिदुर्बल समझना चाहिये। दीपन और पाचन का उल्लेख इसलिये महत्वपूर्ण है की कुछ द्रव्य सिर्फ दीपन कार्य करते व कुछ सिर्फ पाचन। उदा. पटोल पत्र पाचन द्रव्य है लेकिन दीपन नहीं करते वैसे ही त्रिफला सिर्फ दीपन कार्य करता है, न की पाचन।

अष्टङ्ग हृदयकार ने भी चरकमत को दोहराया है। इस निरुह प्रयोग के पश्चात् जठराग्नी तीव्र होने पर फिर से स्नेहन स्वेदन करने को कहा है।

## ६. वातव्याधी में नस्य, धूमपान आदि–

**स्वाद्वम्ललवणस्निग्धैराहारैः सततं पुनः।**
**नावनैर्धूमपानैश्च सर्वानिवोपपादयेत्** ।। च. चि. २८/८८

ऐसे रोगी में मधुर अम्ल लवण रस युक्त व स्निग्ध आहार का सतत सेवन करना चाहिये। नस्य और धूमपान का प्रयोग भी इसमें लाभकारक होता है।

'तत्राद्या मारुतंघ्नंती' यह चरकवचन स्पष्ट करता है कि षड् रसों में पहले तीन वातघ्न है। स्निग्ध गुण भी रुक्ष गुण के विरोधी होने से वात का शमन करता है।

स्वाभाविक रूप से नस्य व धूम्रपान भी वातशामक द्रव्यों से होना अपेक्षित है। यहां तक वातरोग की सामान्य चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

## ७. कोष्ठगत वायु की चिकित्सा–

**विशेषस्तु कोष्ठस्थे वाते क्षारं पिबेन्नरः** । च. चि. २८/८९b
**पाचनैर्दीपनैर्युक्तैरम्लैर्वा पाचयेन्मलान्** । ९०a

जब विशेष रूप से कोष्ठगत वायु प्रकुपित हो तो क्षार का सेवन करना चाहिये। अथवा अम्ल रस युक्त पाचन दीपन द्रव्यों के सेवन से मल का पाचन करना चाहिये।

यहां कोष्ठ से अधोनाभी का व क्षार से यवक्षार का ग्रहण करना चाहिये। या फिर ग्रहणी रोग में वर्णित दीपन क्षार का प्रयोग करना चाहिये। चक्रपाणी अष्टाङ्ग हृदयकार ने 'कोष्ठगे क्षार चूणाद्या हिता: पाचन दीपना' ऐसा कहते हुए कोष्ठगत वात प्रकोप में पाचक व दीपक क्षार चूर्णों का प्रयोग करने को कहा है।

## ८. गुद, पक्वाशय व आमाशयस्थ वायु की चिकित्सा--

**गुदपक्वाशयस्थेतु कर्मोदावर्तनुद्धितम्** ।। च. चि. २८/९०b
**आमाशयस्थे शुद्धस्य यथादोषहरीः क्रियाः** । ९१a

गुद या पक्वाशय में वायु प्रकुपित हो तो उदावर्त में वर्णित चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये। यदि आमाशय में वात प्रकोप हो तो (विरेचन द्वारा) शोधन कर दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

उदावर्त की चिकित्सा त्रिमर्मीय अध्याय (चि. अ. २६) में बतायी गयी है। उसे यथास्थल देखें। सुश्रुताचार्य ने आमाशयगत वात में सर्वप्रथम वमन कराने को कहा है। तत्पश्चात् सात दिन तक सूखोष्ण ज़ल से षड्धरण योग का प्रयोग करने को कहा है। चित्रक, इंद्रजव, पाठा, कुटकी, अतीस और हरीतकी के योग को षड्धरण योग कहा जाता है।

**आमाशयगते वाते च्छर्दयित्वा यथाक्रमम्** ।
**देयं षड्धरणो योगः सप्तरात्रं सुखाम्बुना** ।। सु. चि. ४/३

इस सूत्र पर टिप्पणी करते हुए डल्हणाचार्य ने कहा है, "आमाशयगते छर्दनं कफस्थानत्वात्। यथाक्रममिति। अत्रयथाक्रम शद्बेन पूर्वकालापरकालकर्तव्यता: सर्व एव आक्षिप्ता: स्नेहस्वेदनपानलैङ्गिकवैगिकमानिककायशुद्धिसंसर्जनभोजनादय:। यहां वमन बताने का कारण आमाशय का कफस्थान होना है। और यथाक्रम शब्द से सविधि वमन करना अपेक्षित है।

अष्टाङ्गहृदयकार ने भी सुश्रुतमत का अनुमोदन किया है व सविधी वमन के पश्चात् लघुभोजन कर तत्पश्चात् षड्धरण योग का अथवा वचादि गण के द्रव्यों का चूर्ण कोष्ण जल के साथ सेवन करने को कहा है। इस चिकित्सा से अग्नि प्रदीप्त होने पर केवल वातशामक चिकित्सा का प्रयोग करने को कहा है।

**आमाशयगते वायौ वमितप्रतिभोजिते।**
**सुखाम्बुना षड्धरणं वचादिं वा प्रयोजयेत्॥**
**सन्धुक्षितेऽग्नौ परतो विधिः केवल वातिकः** । अ. हृ. चि. २१/१४

इसे और स्पष्ट करने के लिये आमाशयगत वायु के लक्षण देखेंगे। चरकाचार्य ने हृदय, नाभि, पार्श्व व उदरवेदना, तृष्णा, उद्गार, विसूचिका (वमन व विरेचन), कास, कंठ व मुख का सूखना तथा श्वासरोग यह लक्षण बताये है और सुश्रुताचार्य ने छर्दी, मोह, मूर्च्छा, पिपासा, हृद्ग्रह व पार्श्ववेदना यह लक्षण बताये है। यहां मोह व मूर्च्छा यह दोलक्षण अलग बताये है। 'मूर्च्छापित्ततमःप्रायः' इस सूत्र के अनुसार पित्त और तम के कारण मूर्च्छा उत्पन्न होती है। इसलिये इसमें पित्त का अनुबन्ध मानना चाहिये। विसूचिका में भी पित्त का अनुबन्ध माना है। और 'पित्ते विरेचनीयः' ऐसा नियम है। वैसे वायु का भी अनुलोमन ही करना चाहिये। इसलिये चरकोक्त चिकित्सा जादा सहज व शीघ्र फलदायी होगी ऐसा लगता है।

## ९. सर्वांगगत व त्वचागत वायु की चिकित्सा—

**सर्वाङ्गकुपितेऽभ्यङ्गो बस्तयः सानुवासनाः॥** च. चि. २८/९१b
**स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते।** ९२a

यदि पूर्ण शरीर में वायु प्रकुपित हो तो (वातनाशक तैलो से) अभ्यङ्ग अनुवासन बस्ति व निरुह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। यदि वायु त्वचा में आश्रित हो तो स्वेदन, अभ्यङ्ग, अवगाह हृदय के लिये हितकारी अन्न का पान इस क्रम से चिकित्सा देनी चाहिये।

संपूर्ण शरीर में वात प्रकोप होने पर अभ्यङ्ग और बस्ती प्रयोग से उपशय मिलना ही चाहिये। लेकिन इसके साथ स्वेदन का प्रयोग जादा लाभदायक रहेगा ऐसा लगता है। त्वचा में प्रकुपित वायु की चिकित्सा स्वेदन से शुरु होनी चाहिये। तत्पश्चात् अभ्यङ्ग व अवगाह से जादा लाभ मिलेगा। सुश्रुताचार्य ने त्वक्गत वात ने रक्तमोक्षण करने को कहा है। वैसे ही सर्वांगगत वात में अभ्यङ्ग, स्वेदन तथा रक्तमोक्षण करने को कहा है। और अष्टाङ्गहृदयकार ने चरक मत को दोहराया है। स्वेदाभ्यङ्गानि शस्तानि हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते। अ. हृ. चि. २१/१८a

## १०. रक्तगत वात चिकित्सा–

**शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम् ।** च. चि. २८/९२b

शीत प्रदेह का प्रयोग, विरेचन व रक्त मोक्षण का प्रयोग यदि रक्त में वायु कुपित हो तो करना चाहिये ।

अष्टाङ्ग संग्रहकार ने इसी सूत्र को दोहराया है लेकिन सुश्रुताचार्य ने इस अवस्था में रक्तमोक्षण करने को कहा है ।

## ११. मांस व मेदोगत वात की चिकित्सा–

**विरेको मांसमेदःस्थे निरूहाः शमनानि च ।**

यदि मांस तथा मेदमें वायु कुपित हो तो विरेचन, निरूह बस्ति तथा शमन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी को दोहराया है लेकिन सुश्रुताचार्य ने मांस धातुगत वात में भी रक्तमोक्षण का प्रयोग ही बताया है ।

## १२. अस्थिमज्जागत वात की चिकित्सा–

**बाह्याभ्यन्तरतःस्नेहैरस्थिमज्जगतं जयेत् ।।** च. चि. २८/९३b

अर्थात अस्थि तथा मज्जागत वात में बाह्यतः तथा आभ्यन्तरतः स्नेह का प्रयोग करना चाहिये ।

सुश्रुताचार्य ने अस्थिमज्जागत वायु की चिकित्सा कुछ विस्तार से व शल्य चिकित्सक को ही संभव हो ऐसी विधियों से बताई है ।

**स्नेहोपनाहाग्निकर्मबन्धनोन्मर्दनानि च ।**
**स्नायुसन्ध्यस्थिसंप्राप्ते कुर्याद्वायावतन्द्रितः ।।** सु. चि. ४/८
**निरुद्धेऽस्थनि वा वायौ पाणिमन्थेनदारिते ।**
**नाड़ीं दत्वाऽस्थनि भिषक् चूषयेत्पवनं बली ।।** सु. चि. ४/९

अर्थात् तंद्रासे रहित चिकित्सक ने स्नायु अस्थि व संधिगत वातप्रकोप में स्नेहन, उपनाह, अग्निकर्म, बन्धन व मर्दन से चिकित्सा करनी चाहिये । वेसे ही अस्थी में वायु के रूकने पर वैद्य ने आराशस्त्र से वेध कर उसमें दोमुखी नलिका लगाकर बलवान वायु का चूषण करना चाहिये ।

आज शायद ही कोई वैद्य इस पद्धति से वायु का चूषण करना जानता होगा । अष्टाङ्ग हृदयकार ने चरकमत का ही अनुमोदन किया है ।

## १३. शुक्रगत वायु की चिकित्सा–

**हर्षोन्नपानं शुक्रस्थे बलशुक्रकरं हितम् ।**
**विबद्धमार्गं दृष्ट्वा वा शुक्रंदद्याद्विरेचनम् ।।** च. चि. २८/९४
**विरिक्तप्रतिभुक्तस्य पूर्वोक्तां कारयेत् क्रियाम् ।** ९५a

हर्षण करना तथा बल व शुक्रवर्धक अन्नपान का सेवन करना शुक्रगत वात में हितकर होता है । यदि शुक्रमार्ग में अवरोध हो अर्थात् शुक्र का क्षरण न होता हो तो विरेचन का प्रयोग करना चाहिये । सविधि विरेचन के पश्चात पूर्व में वर्णित हर्षण तथा बल व शुक्रवर्धक अन्नपान का सेवन आदि क्रीयाएं करनी चाहिये ।

यहां शुक्रमार्ग के अवरोध सहित व अवरोध रहित ऐसी दो अवस्थाओं का उल्लेख किया है । अवरोध दूर होने पर दोनों की चिकित्सा समान है । यहां विरेचन के स्थल पर बस्ती का प्रयोग भी उपयुक्त सिद्ध हो सकता है ।

सुश्रुताचार्य ने 'शुक्रप्राप्तेऽनिले कार्यं शुक्रदोष चिकित्सितम्' ऐसा कहते हुए शुक्रगत वात में शुक्रदोष की चिकित्सा करने को कहा है । अष्टङ्ग हृदयकार ने चरकमत को दोहराया है ।

## १४. गर्भाशयगत वात चिकित्सा–

**गर्भे शुष्के तु वातेन बालानां चापि शुष्यताम् ।।** च. चि. २८/९५b
**सिताकाश्मर्यमधुकैर्हितमुत्थापने पयः ।** ९६a

सगर्भावस्था में यदि गर्भाशयगत वात कुपित हो तो गर्भ सुख जाता है । इस अवस्था में मिश्री, मुलेठी, गंभारी की छाल इन द्रव्यों से सिद्ध दुग्ध का पान कराने से गर्भ के सूखे हुए अंग पुनः पुष्ट होते है ।

उत्थापने इति पुष्टिजनने सितादिभिः सिद्धं पयो हितम् । चक्रपाणी अष्टाङ्ग हृदयकार ने चरकमत को दोहराया है ।

## १५. हृदय व नाभिगत वात चिकित्सा–

**हृदिप्रकुपिते सिद्धमंशुमत्या पयो हितम् ।।** च. चि. २८/९६b
**मत्स्यान्नाभिप्रदेशस्थे सिद्धान् बिल्वशलाटुभिः ।**

हृद्प्रदेश में वायु प्रकुपित होने पर शालपर्णी सिद्ध दूध हितकर होता है । वैसे ही नाभि प्रदेश में वायु प्रकुपित हो तो कच्चे बेल की गुद्दी के साथ पकायी मछलियों का सेवन करना चाहिये ।

अष्टाङ्गहृदयकार ने हृत्स्थे पयः स्थिरा सिद्धम्' कहते हुए चरकमत का अनुमोदन किया है ।

## १६. सर्वाङ्गगत-एकाङ्गगत वात चिकित्सा–

**वायुना वेष्टयमाने तु गात्रे स्यादुपनाहनम् ।।** च. चि. २८/९७
**तैलं संकुचितेऽभ्यङ्गो माषसैन्धवसाधितम् ।**

यदि प्रकुपित वायु से एकाङ्ग में या सर्वाङ्ग में ऐठन समान पीडा हो रही हो तो उपनाह (पुल्टिस) का प्रयोग करना चाहिये । यदि प्रकुपित वायु से एकाङ्ग या सर्वाङ्ग में संकोच हो रहा हो तो माष व सैंधव से सिद्ध तैल से अभ्यङ्ग करना चाहिये । दो अलग लक्षणों के लिये चिकित्सा में किंचित् परिवर्तन यह इस चिकित्सा सूत्र का वैशिष्ठ्य है ।

सुश्रुताचार्य ने अवगाह, कुटी, कर्षु, प्रस्तरस्वेद, अभ्यङ्ग, बस्ति व रक्तमोक्षण द्वारा सर्वाङ्गवात का तथा शृंग का प्रयोग कर एकाङ्ग में स्थित वायु का शमन करने को कहा है । वैसे ही संकुचित, पीडायुक्त व जकडे हुए अंग को क्षौम (तीसी से निर्मित वस्त्र) कपास तथा उन की पट्टी से कसकर बांधने को कहा है । अथवा स्नेह से मालिश कर शाल्वण उपनाह लगाकर चमडे की गोणी में उस अङ्ग को रखने को कहा है । सु. चि. ४ सर्वांङ्ग तथा एकाङ्ग वायु की चिकित्सा में बस्ति की प्रधानता का उल्लेख भी सुश्रुताचार्य ने किया है ।

## १७. बाहु शीर्ष एवं अधःनाभिस्थ वायु की चिकित्सा–

**बाहुशीर्षगते नस्यं पानं चौत्तरभक्तिकम् ।।** च. चि. २८/९८b
**बस्तिकर्मत्वधोनाभेः शस्यते चावपीडकः ।** ९९a

यदि बाहुप्रदेश अथवा शिर:प्रदेश में वातप्रकोप हो तो वातनाशक तैल से नस्य तथा भोजनोत्तर स्नेहपान कराना चाहिये । यदि नाभी के अध:भाग में वात प्रकोप हो तो बस्ति तथा अवपीडन का प्रयोग हितकर होता है ।

सुश्रुताचार्य ने स्कंध, वक्ष, मन्या व कटिगत वात प्रकोप के लिये वमन व शिरोविरेचन (नस्य), का प्रयोग करने को कहा है। वैसे ही शिरोगत वात में शिरोबस्ति एक हजार मात्रा तक धारण करने के लिये व रक्तमोक्षण करने के लिये कहा है ।

**स्कन्धवक्षस्त्रिक प्राप्तं वायुं मन्यागतं तथा ।।** सु. चि. ४/१८b
**वमनं हन्ति नस्यं च कुशलेन प्रयोजितम् ।**
**शिरोगतं शिरोबस्तिर्हन्ति वाऽसृग्विमोक्षणम् ।।** सु. चि. ४/१९
**स्नेहं मात्रा सहस्रं तु धारयेत्तत्र योगतः ।** २०a

अष्टाङ्ग हृदयकार ने 'शिरोबस्तिः शिरोगते' कहते हुए शिरोगत वात में सुश्रुताचार्य का व 'बस्ति कर्म त्वधोनाभेः शस्यते चावपीडकः' कहते हुए नाभी के

अध:भाग में वातप्रकोप होने पर बस्तिकर्म का प्रयोग बताते हुए चरकमत का अनुमोदन किया है। अपने चिकित्सानुभव को प्राधान्य देना यह वाग्भटाचार्य का वैशिष्ठ्य है जिसका हमें अनुगमन करना चाहिये।

## १८. अर्दित रोग चिकित्सा–

**अर्दिते नावनं मूर्घ्नी तैलं तर्पणमेव च**।। च. चि. २८/९९b
**नाडीस्वेदोपनाहाश्चाप्यानूपपिशितैर्हिताः** । १००a

नस्य, सिर पर तेल की मालिश, तर्पण करनेवाले आहार का सेवन, नाडीस्वेद का प्रयोग, तथा आनूप पशुपक्षियों के मांस से उपनाह अर्दित रोग में हितकर होता है। इस सूत्र पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त कहते हैं, तर्पणमिति नावन विशेषणं; किंवा तर्पणं संतर्पणमेव। अर्थात् यहां तर्पण शब्द या तो नस्य के विशेषण के रूप में आया है या तर्पण से संतर्पण समझना चाहिये।

सुश्रुताचार्य के अनुसार आर्दित की चिकित्सा वातव्याधी के अनुसार करनी चाहिये। वैसे ही अर्दित में मस्तिष्क्य नामक शिरोबस्ति, शिरोबस्ति, नस्य, धूम, उपनाह, स्नेह और नाडीस्वेद द्वारा विशेष रूप से चिकित्सा करने को कहा है।

आर्दितातुरं बलवन्त, आत्मवन्त उपकरणवन्तं च वातव्याधिविधानेनोपचरेत् विशेषिकैश्च मस्तिष्क्य, शिरो बस्ति, नस्य धूमोपनाह स्नेह नाडीस्वेदादिभिः। सु. चि. ५/२२

अष्टाङ्गहृदयकार ने अर्दित में नस्य, मूर्ध स्थान में तैल का प्रयोग, कर्ण व नेत्र तर्पण करने को कहा है। यहां शोफ रहने पर वमन तथा दाह व आरक्तवर्णता रहने पर शिराव्यध का प्रयोग करना चाहिये।

**अर्दिते नावनं मूर्घ्नी तैलं श्रोत्राक्षितर्पणम्**।। अ. हृ. चि. २१/४२b
**सशोफे वमनं राग दाहयुक्ते सिराव्यधः** । ४३a

## १९. पक्षाघात की चिकित्सा–

**स्वेदनं स्नेह संयुक्तम् पक्षाघाते विरेचनम्**।। च. चि. २८/१००b

पक्षाघात में स्वेदन कर्म तथा स्नेह मिलाकर विरेचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।

सुश्रुताचार्य ने पक्षाघात में जिस रोगी का पक्षाघात से आक्रान्त हिस्सा सूखा न हो, वेदना होती हो, और जो जितेन्द्रिय व साधन संपन्न हो उसकी चिकित्सा करने को कहा है। सर्वप्रथम रोगी का स्नेहन स्वेदन कराकर मृदु संशोधन द्वारा शुद्ध करना चाहिये। इसके पश्चात् अनुवासन तथा आस्थापन बस्ति देकर बिना समय गवाएं

आक्षेपक में वर्णित चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये । इसमें विशेषता यह हो की शिरोबस्ति में मास्तिष्क्य का प्रयोग, अभ्यङ्ग में अणुतैल, उपनाह में शाल्वण उपना ह और अनुवासन में बलातेल का प्रयोग करना चाहिये । इस प्रकार आलस्य रहित होकर तीन या चार मास तक इस चिकित्साविधी का सेवन करना चाहिये । तत्र प्रागेव स्नेहस्वेदोपपन्नं मृदुना शोधनेन संशोध्यानुवास्यास्थाप्य च यथाकाल माक्षेपकविधानेनोपचरेत्, वैशेषिकश्चात्र मस्तिष्क्यः शिरोबस्तिः, अणुतैलमभ्यङ्गार्थे, शाल्वण उपनाहार्थे, बलातैलमनुवासार्थे, एवमतन्द्रितस्त्रींश्चतुरो वा मासान् क्रियापथ मुपसेवेत। सु. चि. ५/१९

अष्टाङ्ग हृदयकार ने स्नेहनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनं ऐसा कहते हुए चरकमत का अनुमोदन किया है । सुश्रुतोक्त चिकित्सा में जो मृदु संशोधन का उल्लेख है वहां मृदुविरेचन का ही ग्रहण करना चाहिये । चिकित्सा के कालावधी का उल्लेख भी वैशिष्ठ्यपूर्ण है ।

## २०. गृध्रसी तथा खल्ली रोग चिकित्सा–

**अन्तराकण्डरागुल्फं सिराबस्त्यग्निकर्म च ।**
**गृध्रसीषु प्रयुञ्जीत खल्ल्यां तृष्णोपनाहनम् ।।** च. चि. २८/१०१
**पायसैः कृशरैर्मासैः शस्तं तैल घृतन्वितैः ।** १०२a

गृध्रसी में कंडरा और गुल्फ के बीच में सिरावेध, अनुवासन तथा निरुह बस्ति प्रयोग तथा कंडरा व गुल्फ के बीच में अग्निकर्म करना चाहिये ।

खल्ली रोग में तेल और घृत मिलाकर खीर, खिचडी व मांस से गरम उपनाह बांधकर चिकित्सा करनी चाहिये ।

गृध्रसी में प्रथम सिरावेध तत्पश्चात् बस्ति व तत्पश्चात् सिरावेध के स्थान पर ही अग्निकर्म बताया है । सिराव्यध के पश्चात् तुरंत अग्निकर्म से व्रण निर्मिती की संभावना होने से शायद ऐसा कहा होगा । सुश्रुताचार्य ने गृध्रसी आदि रोगों में सिरावेध के साथ-साथ वातव्याधि चिकित्सा का प्रयोग करने को कहा है ।

## २१. हनुस्तम्भ चिकित्सा–

**व्यात्ताननेे हनुं खिन्नामङ्गुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च ।।** च. चि. २८/१०२b
**प्रदेशिनीभ्यां चोन्नाम्य चिबुकोन्नमनं हितम् ।**
**स्त्रस्तं स्वं गमयेत्स्थानं स्तब्धं स्विन्नं विनामयेत् ।।** च. चि. २८/१०३

१. हनुस्तम्भ रोग में हनु प्रदेश जकडजाने से यदि मुख खुला रहता हो तो हनुप्रदेश को स्वेदन कर अंगुठे से हनु संधियों को दबाकर तत्पश्चात् प्रदेशिनी अगुली

को मुख के भीतरी भाग में लगाकर हनुप्रदेश की संधियों को उपर उठाना चाहिये। तत्पश्चात् चिबुक प्रदेश को ऊपर उठाकर हनुप्रदेश को स्वस्थान में रखना हितकर होता है।

२. यदि हनु प्रदेश अपने स्थान से नीचे आ गया हो तो उसे उठाकर अपने स्थान में स्थिर करना चाहिये और यदि हनुप्रदेश जकडा हुआ हो तो स्वेदन के पश्चात् उसे ऊपर नीचे करके देखना चाहिये।

संक्षेप में, हनुसंधी के किसी भी विकृती में स्वेदन आवश्यक है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने हनुस्रंस की चिकित्सा चरक मतानुसार बतायी है व अंत में अर्दित के समान चिकित्सा करनी चाहिये ऐसा कहा है।

**हनुस्रंसे हनु स्निग्धस्विनौ स्वस्थानमानयेत्।।**
**उन्नामयेच्च कुशलश्चिबुकं विघृते मुखे।**
**नामयेत्संवृते शेषमेकायामवदाचरेत्।।** अ. हृ. चि. २१/४१

## २२. वातव्याधि में दूष्य तथा स्थानानुसार चिकित्सा–

**प्रत्येकं स्थानदूष्यादि क्रियावैशेष्यमाचरेत्।** च. चि. २८/१०४a

सभी वातव्याधियों में स्थान, दूष्य आदि के भेद से चिकित्सा में विशेषता लाना चाहिये।

चक्रपाणी के अनुसार इस सूत्र द्वारा चरकाचार्य ने अनुक्त वातव्याधी की चिकित्सा का दिशानिर्देश बताया है। यहां स्थान से पक्वाशय आदि का दूष्य से रसरक्तादि धातुओं का व आदि शब्द से आवरण आदि का ग्रहण करना चाहिये। अष्टाङ्ग हृदयकार ने चरकमत का ही अनुमोदन किया है।

**स्थानदूष्यादिचालोच्य कार्याशेषेष्वपि क्रिया।** अ. हृ. चि. २२/५४

## २३. वातरोग की सामान्य चिकित्सा–

**सर्पिस्तैलवसामज्जसेकाभ्यञ्जनवस्तयः।।** च. चि. २८/१०४b
**स्निग्धाः स्वेदा निवातं च स्थानं प्रावरणानि च।**
**रसाः पयांसि भोज्यानि स्वाद्वम्ललवणानि च।।** च. चि. २८/१०५
**बृंहणं यच्च तत् सर्वं प्रशस्तं वातरोगिणाम्।**

घृत, तैल, वसा, मज्जा, परिषेक, अभ्यञ्जन (मालिश), बस्ति, स्नेहन स्वेदन, निवातस्थान में रहना, शरीर को गरम कपडे से ढक के रखना, मांसरस का सेवन दुग्धपान, मधुर अम्ल लवण रसयुक्त आहार द्रव्यों का सेवन और अन्य जो बृंहण आहार हो उसका सेवन वातरोगियों के लिये प्रशस्त होता है।

सुश्रुताचार्य ने स्निग्धस्वेद, अभ्यङ्ग, बस्ति, स्नेहविरेचन, शिरोबस्ति, शिर:स्नेह, स्नैहिक धूम, सुखोष्ण स्नेहगंडूष, स्नैहिक नस्य, मांसरस, दूध, मांस, स्नेह, स्नेहगुण युक्त अन्य वस्तुएं, लवणयुक्त स्निग्ध भोजन, अम्ल फल, सुखोष्ण परिषेक, संवाहन, केशर, अंगुर, तेजपात, कुष्ठ, इलायची, तगर इनका प्रयोग, रेशमीवस्त्र, ऊन वस्त्र, कपास से बने भारी वस्त्र, वातरहित धूप से युक्त गर्भगृह कोमल शैय्या, अग्नि से सेक व ब्रह्मचर्य का पालन वातरोगियों ने करना चाहिये ऐसा कहा है ।

सुश्रुताचार्य ने अम्ल और लवण रसा का उल्लेख यहां किया है लेकिन मधुर रस का उल्लेख नहीं किया है । वेसे ही केशर, अगरु, तेजपत्र, कुष्ठ, इलायची व तगर इनका उल्लेख भी वैशिष्ठ्यपूर्ण है ।

## २४. वातरोग में तैल का महत्व–

**नास्ति तैलात् परं किंचिदौषधं मारुतापहम् ।**
**व्यवाय्युष्णगुरूस्नेहात् संस्काराद्बलवत्तरं ।।** च. चि. २८/१८१
**गणैर्वातहरैस्तस्माश्चतशोऽथ सहस्त्रशः ।**
**सिद्धं क्षिप्रतरं हन्ति सूक्ष्ममार्गस्थितान् गदान् ।।** च. चि. २८/१८२

तेल जैसी वात को पराजित करनेवाली कोई औषधी नहीं है । तेल वातनाशक द्रव्यों के संस्कार से और बलवान होकर वायु को दूर करता है । वातहर गण की औषधियों से सौ बार या हजार बार सिद्ध किया जाय तो सूक्ष्म मार्ग में स्थित रोगों को भी शीघ्रता से नष्ट करता है ।

चतु:स्नेहों में वातशमन के लिये तैल की प्रधानता का वर्णन यहां किया गया है । वेसे भी अभ्यङ्ग, स्नेहन, बस्ति, नस्य के लिये तैल का ही प्रयोग होता है । वातप्रकोप की विशिष्ट अवस्था में विशिष्ट वातशामक द्रव्यों से सिद्ध तेल का प्रयोग आशुफलदायी होता है ।

## २५. आवृत्त वात की चिकित्सा-सामान्य सिद्धान्त–

**क्रिया साधारणो सर्वा संसृष्टे चापि शस्यते ।**
**वाते पित्तादिभिः स्त्रोतः स्वावृतेषु विशेषतः ।।** च. चि. २८/१८३

यदि वायु अन्यदोषों से संबंधित हो तो साधारण वातशामक चिकित्सा करनी चाहिये । विशेष रूप से पित्त आदि से स्त्रोतस आवृत्त हो और वायु प्रकुपित हो तो भी साधारण चिकित्सा करनी चाहिये ।

हर दोष का सामान्य चिकित्साक्रम दोषोपक्रम में वर्णित है। साधारण चिकित्सा से वह सामान्य चिकित्साक्रम अपेक्षित है।

## २६. पित्तावृत वात की चिकित्सा–

**पित्तावृते विशेषेण शीतमुष्णां तथा क्रियाम्।**
**व्यत्यासात् कारयेत् सर्पिर्जीवनीयं च शस्यते।।** च. चि. २८/१८४

विशेष रूप से वायु पित्त से आवृत्त हो गयी हो तो एक के बाद एक व्यत्यास से शीत व उष्ण क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिये। वैसे ही जीवनीय वृत्त का प्रयोग लाभकारी होता है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने 'पित्तावृत्ते पित्तहरं मरुतश्चानुलोमनम्' कहते हुए पित्तावृत्त बात में पित्तशामक व वातानुलोमक औषधी का प्रयोग करने को कहा है। प्रत्यक्ष चिकित्सा में यह सूत्र अधिक उपशय देनेवाला होता है।

## २७. कफावृत्त वात चिकित्सा–

**स्वेदास्तीक्ष्णा निरूहाश्च वमनं स विरेचनम्।।** च. चि. २८/१८७b

कफावृत्त वात में स्वेदन, निरूहबस्ति तथा वमन व विरेचन का प्रयोग लाभकर होता है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी सूत्र को दोहराया है।

## २८. पित्त की चिकित्सा प्रथम–

**संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत्।।** च. चि. २८/१८८b

यदि वायु कफ और पित्त के साथ हो तो सर्वप्रथम पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये।

वायु व कफ को उष्ण गुण से जीता जा सकता है। लेकिन यह तभी संभव होगा जब पित्त का अनुबन्ध न हो। इसलिये सर्वप्रथम पित्त की चिकित्सा करने को कहा है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी सूत्र को दोहराया है।

## २९. स्थानानुसार कफपित्तनाशक चिकित्सा–

**आमाशयगतं मत्वा कफं वमनमाचरेत्।।** च. चि. २८/१८९
**पक्वाशये विरेकं तु पित्ते सर्वत्रगे तथा।** १९०a

कफ यदि आमाशयस्थ हो तो वमन व पक्वाशयस्थ हो तो विरेचन कराना चाहिये। पित्त यदि सर्वशरीर में प्रकुपित हो तो विरेचन से उसका निर्हरण करना चाहिये।

यह सूत्र अपने आप में एक महत्वपूर्ण सूत्र है। दोष कहां स्थित है इसके

आधार पर उसका निर्हरण कहां से हो यह निश्चित किया गया है। पक्वाशयस्थ कफ को वमन द्वारा निकालने से विरेचन द्वारा निकालना जादा सुकर होता है। इसी संदर्भ में आगे बस्ति चिकित्सा का भी वर्णन आया है।

### ३०. बस्ति चिकित्सा कफपित्त निर्हरणार्थ–

**स्वेदैर्विष्यन्दितः श्लेष्मा यदा पक्वाशये स्थितः ।।** च. चि. २८/१९०b
**पित्तं वा दर्शयेल्लिङ्गं बस्तिभिस्तौ विनिर्हरेत् ।**

स्वेदन से द्रवीभूत होकर कफ पक्वाशय में आ जाय तो, अथवा कुपित पित्त अपने लक्षण शरीर में प्रकट करें तो बस्ति प्रयोग द्वारा इनका निर्हरण करना चाहिये।

### ३१. बस्तिद्रव्य संबंधित सामान्य नियम–

**श्लेष्मणाऽनुगतं वातमुष्णैर्गोमूत्रसंयुतैः ।।** १९१b
**निरुहैः पित्तसंसृष्टं निर्हरेत् क्षीरसंयुतैः ।**
**मधुरौषधिसिद्धैश्च तैलैस्तमनुवासयेत् ।।** च. चि. २८/१९२

यदि कफ वात का अनुगमन करता हो तो कवोष्ण गोमूत्र मिलाकर निरुहबस्ति से उसका निर्हरण करना चाहिये। यदि पित्त वायु से संसृष्ट या संयुक्त हो तो दूध से सिद्ध निरुह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। और मधुरौषधि सिद्ध तेल अनुवासन का प्रयोग इन दोनों अवस्थाओं में करना चाहिये।

यहां वात से कफ का व वात से पित्त का अनुबंध इन दोनों अवस्थाओं का उल्लेख है। ऐसे रोगियों में निरूह बस्ती में क्या अंतर है यह चरकाचार्य ने बताया है। लेकिन इन दोनों अवस्थाओं में जब अनुवासन देना हो तब मधुर गण की औषधियों से सिद्ध तेल का प्रयोग करने को कहा है। सुश्रुताचार्य ने इस अवस्था में अविरोधी चिकित्सा का प्रयोग करने को कहा है। सु. चि. ४/१२a

### ३२. नस्य चिकित्सा–

**शिरोगते तु स कफे धूमनस्यादि कारयेत् ।** च. चि. २८/१९३a

यदि वायु शिरः प्रदेश में कफ के साथ हो तो धूम, नस्य आदि का प्रयोग करना चाहये।

स कफे इति स कफे वाते। चक्रपाणी दत्त। यहां धूम, नस्य आदि से शिरोरोग में प्रयुक्त सभी चिकित्साओं का ग्रहण करना चाहिये।

### ३३. कफ व पित्त के निर्हरण के पश्चात्–

**हृते पित्ते कफे यः स्यादुरः स्रोतोऽनुगोऽनिलः ।।** च. चि. २८/१९३b
**सशेषः स्यात् क्रिया तत्र कार्या केवल वातिकी ।** १९४a

पित्त व कफ के निर्हरण के पश्चात् उर:प्रदेश के स्रोतसों में वायु अवशिष्ट रह गयी हो तो केवल वातहर चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये ।

## ३४. रक्तावृत वात की चिकित्सा–

**शोणितेनावृते कुर्याद्वातशोणितकीं क्रियाम् ।।** च. चि. २८/१९४b

यदि वायु रक्त से आवृत्त हुआ हो तो उसकी चिकित्सा वातरक्त समान करनी चाहिये ।

किसी चिकित्साशास्त्र के लिये सिर्फ चिकित्सा का वर्णन ही पर्याप्त नहीं होता । वस्तुत: उचित निदान ही किसी भी चिकित्साशास्त्र का बल स्थान होता है । इसलिये यहां चिकित्सा समान होने पर भी रोग का उल्लेख स्वतंत्र रूप से किया गया है । निदान का अर्थ होता है विकृती को पहचानना ।

## ३५. आमावृत व मांसावृत वात की चिकित्सा–

**प्रमेहवातमेदोघ्नीमामवाते प्रयोजयेत् ।**
**स्वेदाभ्यङ्गरसक्षीर स्नेहा मांसावृते हिता: ।।** च. चि. २८/१९५

१. आमदोष से वायु आवृत्त हो तो प्रमेह, वात और मेद को नष्ट करनेवाली चिकित्सा करनी चाहिये ।

२. मांसावृत्त वात में स्वेदन, अभ्यङ्ग, मांसरस, दूध व घृत, तेल आदि स्नेहों का प्रयोग करना हितकर होता है ।

## ३६. अस्थिमज्जा व शुक्रगत वात–

**महास्नेहोऽस्थिमज्जस्थे पूर्ववद्रेतसाऽऽवृते ।** च. चि. २८/१९६a

अस्थि तथा मज्जागत वात प्रकोप में महास्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) का प्रयोग करना चाहिये । शुक्रावृत वात में पूर्व वर्णित चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये ।

इसी अध्याय में हर्षण व बलवर्धन चिकित्सा तथा अवरोध होने पर विरेचन व बृंहण चिकित्सा का वर्णन शुक्रगत वायु के लिये किया गया है ।

## ३७. अन्नावृत वात चिकित्सा–

**अन्नावृते तदुल्लेख: पाचनं दीपनं लघु ।।** च. चि. २८/१९६b

अन्नावृत वात में वमन से अन्न का र्निहरण, तत्पश्चात् पाचन दीपन, व तदुपरांत लघु अन्न का सेवन करना अपेक्षित है ।

### ३८. मूत्रगत वायु की चिकित्सा–

**मूत्रलानि तु मूत्रेण स्वेदाः सोत्तरबस्तयः ।** च. चि. २८/१९७a

मूत्रल औषधियों का प्रयोग तथा उत्तरबस्ति व स्वेदन यही मूत्र से आवृत्त वात की चिकित्सा है ।

### ३९. पुरीषगत वायु की चिकित्सा–

**शकृतातैलमैरण्डं स्निग्धोदावर्तवत्क्रिया ।** १९७b

एरण्ड तेल का पान, स्निग्ध द्रव्यों का सेवन व उदावर्त समान चिकित्सा ही पुरीषावृतवात की चिकित्सा है ।

### ४०. स्थानिक दोष चिकित्सा को प्राधान्य–

**स्वस्थानस्थो बली दोषः प्राक् तं स्वैरौषधैर्जयेत् ।**
**वमनैर्वा विरेकैर्वा बस्तिभिः शमनेन वा ।।** च. चि. २८/१९८

स्व स्थान में रहनेवाले दोष बलवान हो तो उन्हें अपने-अपने औषधी द्वारा जीतना चाहिये । उसके लिये वमन, विरेचन, बस्ति या शमनौषध का प्रयोग यथावश्यक करें ।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी ने कहा है "स्वस्थानस्थ इत्यादि स्वस्थनस्थो यस्मात् स्थानोपबृंहणाद्बली दोषो भवति तस्मात् प्राक् स्वैरोषधैर्जयेत् । क्तमैः स्वैरौषधैरित्याहवमनैरित्यादि । शमनेनेति कफादिशमनेनैव; शमनं च शोधनानन्तरं शोधनानर्हे वा ज्ञेयम् । संक्षेप में, स्वस्थानस्थ बली दोष स्वस्थान के कारण और बलवान होता है । उसे अपने औषध से अर्थात् बलवान कफ को वमन द्वारा या कफशामक औषधियों द्वारा, पित्त को विरेचन व पित्तशामक औषधियों द्वारा तथा बलवान वायु को बस्ति या वातशामक औषधियों द्वारा जीतना चाहिये । यदि रोगी में संशोधन चिकित्सा निषिद्ध हो तो तत्तद् दोषानुसार शमन चिकित्सा करनी चाहिये ।

### ४१. प्राणावृत्त व्यान चिकित्सा–

**..............कर्म तत्रोर्ध्वजत्रुकम् ।** च. चि. २८/२०२b

(प्राणावृत्त व्यान में) उर्ध्वजत्रुगत व्याधियों में प्रयुक्त चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये ।

प्राणावृत्त व्यान में इंद्रियों में शून्यता, स्मरण शक्ति व बलक्षय यह लक्षण मुख्य रूप से दिखाई देते है । इस अवस्था में नस्य, शिरोधारा, आदि ऊर्ध्वजत्रुगत व्याधियों में उपयोगी उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिये ।

## ४२. व्यानावृत्त प्राण चिकित्सा–

**तत्र स्नेहयुक्तं विरेचनम्।** च. चि. २८/२०३b

यदि प्राणवायु व्यान से आवृत्त हो तो स्नेहमिश्रित विरेचन औषधी का प्रयोग करना चाहिये।

इस अवस्था में स्वेदाधिक्य लोमहर्ष, त्वक् दोष अर्थात् त्वचा सिकुडना, व शरीर में शून्यता का अनुभव यह लक्षण निर्माण होते हैं।

## ४३. प्राणावृत समान चिकित्सा–

**चतुष्प्रयोगाः शस्यन्ते स्नेहस्तत्र सयापनाः।** २०४b

प्राणावृत समान में यापन बस्ति सहित स्नेह के चार प्रयोग अर्थात् वमन, विरेचन, निरूह व अनुवासन का प्रयोग हितकर होता है।

## ४४. समानावृत अपान चिकित्सा–

**तत्र दीपनंसर्पिरिष्यते।**

समानावृत अपान में अग्निदीपक घृत का प्रयोग लाभकर होता है। जब समान से अपान आवृत्त होता है तब ग्रहणी, पार्श्वशूल, हृद्रोग व आमाशय शूल उत्पन्न होता है। इस अवस्था में दीपन औषधियों से सिद्ध घृत का प्रयोग निश्चितरूप से लाभकारी होगा।

## ४५. प्राणावृत उदान की चिकित्सा–

**ततोर्ध्वभागिकं कर्म कार्यमाश्वासनं तथा।।** च. चि. २८/२०७b

इस अवस्था में उर्ध्वजत्रुगत व्याधी के समान चिकित्सा, अर्थात नस्य धूम, शिरोबस्ति, शिरोधारा आदि कर्म व आश्वासन का प्रयोग करना चाहिये।

प्राणावृत्त व्यान में भी ऊर्ध्वजत्रुगतव्याधी समान चिकित्सा करने को कहा है।

## ४६. उदानावृत प्राण की चिकित्सा–

**(उदानावृते प्राणे) तं शनैः शीतवारिणा।।** च. चि. २८/२०८b
**सिञ्चेदाश्वासयेच्चैनं सुखं चैवोपपादयेत्।** २०९a

उदानावृत प्राण में शीतल जल में रोगी के शरीर पर सिंचन कर उसे आश्वासन देते हुए सुखपूर्वक विश्राम कराना चाहिये।

इस अवस्था में शारिरीक चेष्टाएं, ओज, बल, वर्ण आदि का नाश होता है और मृत्यु भी हो सकती है ऐसा आचार्यो ने कहा है। यह तो आत्ययिक अवस्था जैसी स्थिती है। इस अवस्था में ऊपर बतायी चिकित्सा पर्याप्त नही लगती। क्या

यह असाध्य अवस्था है या 'व्हासोव्हेगल अटैक' जैसी अवस्था है यह निश्चित होना चाहिये।

## ४७. उदानावृत अपान चिकित्सा–

**तत्र बस्त्यादि भोज्यं चैवानुलोमनम्।** च. चि. २८/२१०a

उदानावृत अपान की अवस्था में बस्ति तथा अनुलोमक आहार द्रव्यों का सेवन करना चाहिये।

इस अवस्था में वमन, श्वास व कास यह लक्षण निर्माण होते है। इसलिये बस्ति व अनुलोमक अन्नपान का प्रयोग बताया है।

## ४८. अपानावृत उदान चिकित्सा–

**वाते स्याद्वमनं तत्र दीपनं ग्राहि चाशनम्।** च. चि. २८/२११a

अपानावृत उदान में वमन तथा अग्निदीपक व ग्राही अन्नपान का सेवन कराना चाहिये।

अपानावृत उदान की अवस्था में मोह, अग्नि की अल्पता तथा अतिसार यह तीन लक्षण बताये है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी उदानवायु को ऊर्ध्व प्रवृत्त करना व अपान का अनुलोमन करने को कहा है। उदानं योजयेदूर्ध्वमपानं चानुलोमयेत्।

## ४९. व्यानावृत अपान चिकित्सा–

**तं स्निग्धैरनुलोमयेत्।**

व्यानावृत अपान की चिकित्सा में स्निग्ध द्रव्यों के प्रयोग से वायु का अनुलोमन करना चाहिये।

व्यानावृत अपान में वमन, आध्मान, उदावर्त, गुल्म व परिकर्तिका इन लक्षणों का उल्लेख है। इस अवस्था में सिर्फ स्निग्ध द्रव्यों के प्रयोग से वातानुलोमक द्रव्यों से सिद्ध स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग उचित रहेगा ऐसा लगता है।

## ५०. अपानावृत व्यान चिकित्सा–

**तत्र अपि सर्वं संग्रहणं मतम्।** च. चि. २८/२१३a

अपानावृत व्यान में सर्व चिकित्सा संग्राही द्रव्यों से होनी चाहिये।

सर्व चिकित्सा से यहां औषधी, अन्नपान आदि का ग्रहण करना चाहिये। इस अवस्था में मल, मूत्र व शुक्र की अतिप्रवृत्ती यह मुख्य लक्षण दिखाई देते है।

## ५१. समानावृतव्यान चिकित्सा–

**समानेनावृतेव्याने व्यायामो लघुभोजनम्।** च. चि. २८/२१४a

समानावृतव्यान में व्यायाम व लघुभोजन हितकर होता है।

समानावृतव्यान में मूर्च्छा, तंद्रा, प्रलाप, अंगशैथिल्य, अग्नि, ओज व बल का नाश यह लक्षण दिखाई देते है। यह लक्षण चिरकारी हो या धीमी गती से बढ रहे रो तो व्यायाम व लघुभोजन से लाभ दिखाई दे सकता है। यह लक्षण समुच्चय शीघ्रता से उत्पन्न हो रहा हो तो यह आत्यधिक अवस्था समझना चाहिये।

## ५२. उदानावृत व्यान की चिकित्सा–

**उदानेनावृतेव्याने तत्र पथ्यं मितं लघु।** च. चि. २८/२१५a

उदानावृत व्यान में अल्प मात्रा में व पचने में हल्का भोजन पथ्यकर होता है। उदानावृत व्यान में अंगों में जकडाहट, जठराग्नी की अल्पता, अस्वेद, शारीरिक चेष्टाओं का नाश व नेत्र का सर्वदा बंद रहना यह लक्षण बताये गए है। इन लक्षणों से युक्त रोगी रूग्ण शय्या पर ही रहेगा। इस अवस्था में मित व लघु आहार पथ्यकर होना स्वाभाविक ही है।

## ५३. आवरण की सामान्य चिकित्सा–

**स्थानान्यवेक्ष्य वातानां वृद्धिं हानिं च कर्मणाम्।।** च. चि. २८/२१७b
**द्वादशावरणान्यन्यान्यभिलक्ष्य भिषग्जितम्।**
**कुर्यादभ्यञ्जनस्नेहपानवस्त्यादि सर्वशः।।** च. चि. २८/२१८
**क्रममुष्णमनुष्णं वा व्यत्यासादवचारयेत्।**

वैद्य ने वायु के स्थान तथा उसके प्राकृत कर्मों मे वृद्धि अथवा हानी का विचार कर और बारह अन्य आवरणों का विचार कर अभ्यङ्ग, स्नेहपान बस्ति आदि चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये। यह सभी चिकित्सा क्रम में बारी-बारी से शीत व उष्ण का प्रयोग करना चाहिये।

## ५४. विभिन्न वायुओं का चिकित्सा सूत्र–

**उदानं योजयेदूर्ध्वमपानं चानुलोमयेत्।।** च. चि. २८/२१९b
**समानं शमयेच्चेव त्रिधाव्यानं तु योजयेत्।**
**प्राणो रक्ष्यश्चतुर्भ्योऽपि स्थाने ह्यस्यास्थितिर्ध्रुवा।।** च. चि. २८/२२०
**स्वं स्थानं गमये देवं वृतानेतान् विमार्गगान्।** २२१a

उदान के विकृत होने पर उसे उर्ध्वगती प्राप्त हो ऐसी चिकित्सा की योजना होनी चाहिये। अपान के विकृत होने पर उसका अनुलोमन कराना चाहिये। समान वायु का शमन करना चाहिये और व्यान वायु के विकृत होने पर उपर बताये तीनो प्रकार की चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये। इन चारो वायुओं से प्राणवायु की रक्षा करनी चाहिये। प्राणवायु के स्वस्थान में रहने से शरीर सुचारु रूप से चलता है।

इस प्रकार यदि वायु विमार्गग हो अथवा आवृत्त हो तो उसे स्वस्थान पहुचाना चाहिये ।

इस सूत्र पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त ने कहा है की यह विकृत वायुओं को प्राकृतावस्था में लाने की चिकित्सा है । उदान को उर्ध्व गति, अपान को अधोगति करना यह इन वायुओं को उनके प्राकृतमार्ग पर लाने की चिकित्सा है । समान का शमन करना चाहिये का मतलब उसे देहमध्य में स्थित करना है जो उसका प्राकृत स्थान है । 'त्रिधा व्यानं तु योजयेत्' से उर्ध्व, अधः व मध्य गती का ग्रहण करना चाहिये । 'प्राणो रक्ष्य' से स्वस्थान में उसका पालन करना है । विकृतवातानां प्रकृतिस्थापनमाह-उदानं योजयेदूर्ध्वमित्यादि । एतच्च स्वमार्गयोजनं वातानां यथोक्तवमनादि क्रियायोगविधानेन कर्तव्यम् । समानं शमयेदिति देहमध्य स्थितं कुर्यादित्यर्थः । त्रिधाव्यानंतु योजयेदिति ऊर्ध्वमधोमध्ये त्रिधा योजयेत् । प्राणोरक्ष्य इति स्थाने एव यापनीयः । चक्रपाणी । अष्टाङ्ग संग्रह व हृदयकार ने इन्ही सूत्रों को दोहराया है ।

## ५५. आवृत वायु की सामान्य चिकित्सां–

**भिषग्जितमतः सम्यगुपलक्ष्य समाचरेत् ।।** च. चि. २८/२३८b
**अनभिष्यन्दिभिः स्निग्धैः स्त्रोतसां शुद्धिकारकैः ।** २३९a

इन आवरणों को उचित रूप से समझकर जो औषध अनभिष्यन्दि अर्थात् कफ कारक न हो किन्तु स्निग्ध हो और स्त्रोतस शुद्धीकर हो उनके द्वारा चिकित्सा करें ।

यहाँ अनभिष्यन्दि व स्त्रोतःशुद्धिकर ऐसे दो गुणों का उल्लेख है । अभिष्यन्दी पदार्थ सामान्यतः स्त्रावोंको बढाकर स्त्रोतोरोध करनेवाले होते है । जैसे दधि । लेकिन यहां अनभिष्यन्दि के साथ-साथ स्त्रोतःशुद्धिकर का उल्लेख उस औषधी की सकारात्मक स्त्रोतःशुद्धिकर होने की अपेक्षा करता है ।

## ५६. सामान्य चिकित्सा–

**कफपित्ताविरूद्धं यद्यच्च वातानुलोमनम् ।।** च. चि. २८/२३९b
**सर्वस्थानावृतेऽप्याशु तत् कार्यं मारुते हितम् ।**

जो द्रव्य (औषधी या आहार) कफ तथा पित्त के विरोधी न हो, जो वातानुलोमक तथा तत्काल कार्यकारी हो ऐसे द्रव्यों का प्रयोग सभी स्थानों की वायु आवृत्त होने पर करना चाहिये ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने 'कफपित्ताविरुद्धं' की जगह 'कफवाताविरुद्धं' ऐसा पाठ लिया है ।

## ५७. बस्ति प्रयोग–

**यापनाबस्तयःप्रायो मधुराः सानुवासनाः ।।** च. चि. २८/२४०b
**प्रसमीक्ष्य बलाधिक्यं मृदु वा स्त्रंसनं हितम् ।**

वायु के आवृत्त हो जाने पर साधारणत: मधुर अनुवासन बस्तियों के साथ-साथ यापन बस्तियां हितकर होती है। अथवा रोगी के बल की समीक्षा कर मृदु विरेचन द्रव्यों का प्रयोग हितकर होता है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने 'पाचना बस्तय: प्रायो' इस प्रकार शब्दरचना की है।

## ५८. रसायन, गुग्गुल आदि का प्रयोग–

**रसायनानां सर्वेषामुपयोगः प्रशस्यते ।।** च. चि. २८/२४१b
**शैलस्य जातुनोऽत्यर्थं पयसा गुग्गुलोस्तथा ।**

सभी प्रकार के रसायन, शिलाजीत तथा दूध के साथ गुग्गुल का प्रयोग आवृत्त वायु में प्रशस्त माना जाता है।

अष्टाङ्गहृदयकार ने भी इसी को दोहराया है। मात्र गुग्गुल की जगह शुद्ध गुग्गुल ऐसा शब्द प्रयोग किया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार दूध का प्रयोग गुग्गुल के साथ न करते हुए शीलाजित के साथ करना चाहिये।

## ५९. आवृत्त अपान की चिकित्सा–

**अपानेनावृते सर्वं दीपनं ग्राहि भेषजम् ।।** च. चि. २८/२४३b
**वातानुलोमनं यच्च पक्वाशय विशोधनन् ।** २४४a

अपान वायु के आवृत्त हो जाने पर वे सभी औषध जो अग्निदीपक हो ग्राही हो, वातानुलोमक हो तथा पक्वाशय को शुद्ध करने वाले हो, हितकर होते है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने अपान के आवृत्त होने पर दीपन, ग्राही, वातानुलोमक व मूत्राशय का शोधन करनेवाले औषधीयों का प्रयोग करने को कहा है।

**अपानेत्वावृते सर्वं दीपनं ग्राहिभेषजम् ।।** अ. हृ. चि. २२/७७
**वातानुलोमनं कार्यं मूत्राशयविशोधनम् ।**

अपान वायु के कार्यक्षेत्र में मल के साथ मूत्र, स्त्रीयों में आर्तव भी आता है। इसलिये स्त्रीयों के लिये पक्वाशय व मूत्राशय विशोधन द्रव्यों के साथ-साथ गर्भाशय शोधन द्रव्यों का प्रयोग संयुक्तिक होगा।

## ६०. सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त–

**पित्तावृते तु पित्तघ्नैर्मारुतस्या विरोधिभिः ।**
**कफावृते कफघ्नैस्तु मारुतस्यानुलोमनैः ।।** च. चि. २८/२४५

पित्तावृत्त वायु को पित्तनाशक लेकिन वायु के अविरोधी औषधी एवं आहार द्रव्य द्वारा जीतना चाहिये। कफावृत वायु को कफनाशक व वातानुलोमक औषधी एवं आहार द्रव्य के प्रयोग से जीतना चाहिये।

दिखने में यह सूत्र सामान्य दिखाई देता है। लेकिन इसकी जटिलता एहसास चरकाचार्य ने बात, पित्त व कफ की गतियों का शरीर में ज्ञान करना कठिन है ऐसा कहते हुए दिलाया है। च. चि. २८/२४६

## ६१. वातरक्त में रक्तमोक्षण–

**रूग्दाहशूलतोदार्तादसृक् स्राव्यं जलौकसा।**
**शृङ्गैस्तुम्बैर्हरेत् सुप्तिकण्डूचिमिचिमायनात्।।** च. चि. २९/३७

यदि वातरक्त के रोगी में वेदना, दाह, शूल, और तोद यह लक्षण दिखाई दे रहे हो तो जलौका से रक्त विस्रावण करना चाहिये। यदि रोगी में शून्यता, कंडू, चिमचिमायन यह लक्षण दिखाई दे रहे हो तो शृंग या तुम्बी से रक्तमोक्षण करना चाहिये। देशाद्देशं व्रजत् स्राव्यं सिराभिः प्रच्छनेन वा। अर्थात् एक जगह से दूसरी जगह जानेवाले उपद्रव्यों का निर्हरण सिरावेध या प्रच्छान कर्म द्वारा करना चाहिये।

यहां लक्षणों के आधार पर हम ये कह सकते है कि वात व पित्तप्रधान वातरक्त में जलौका से व कफ प्रधान वातरक्त में शृंग या तुम्बी से रक्तमोक्षण करना चाहिये। सुश्रुताचार्य ने इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं किया है लेकिन वातज वातरक्त में या पित्तज वातरक्त में किस प्रकार रक्तमोक्षण करना है इसका वर्णम किया है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने दोनों प्रकार के वर्णनों का अंतर्भाव अपने ग्रंथ में किया है।

## ६२. वातरक्त में शोधन–

**विरेच्यः स्नेहयित्वाऽऽदौ स्नेहयुक्तैर्विरेचनैः।**
**रुक्षैर्वा मृदुभिः शस्तमसकृद्बस्तिकर्म च।।** च. चि. २९/४१
**सेकाभ्यङ्गप्रदेहान्नस्नेहाः प्रायोऽविदाहिनः। जातरक्ते प्रशस्यन्ते..**

वातरक्त के रोगी में सामान्यतः सर्वप्रथम स्नेहन कराकर स्नेह युक्त अथवा रुक्ष, मृदु विरेचन द्रव्यों से विरेचन कराना चाहिये। वैसे ही बार-बार अनुवासन और निरूह बस्ति का प्रयोग श्रेयस्कर होता है। प्रायः अविदाही अर्थात् दाह उत्पन्न न करनेवाले द्रव्यों के क्वाथ से परिषेक, कल्कों से प्रदेह तथा क्वाथ में सिद्ध द्रव्यों से अभ्यङ्ग इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध जल में पकाया अन्न और स्नेह का प्रयोग वातरक्त में प्रशस्त अर्थात् उत्तम होता है।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त कहते है, विरेचनविधाने स्नेहयुक्तै रुक्षैर्वेति विकल्पद्वये स्नेहयुक्त विरेचनमीषस्निग्ध विषयं, रुक्षैस्तु विरेचन मति स्निग्धविषयम्। मृदुभिरित्यनेन वातक्षोभभयादत्र तीक्ष्णविरेचनं निषेधयति। बस्तिकर्मेति अनुवासननिरूहरूपम्। संक्षेप में, जिनरोगियों का शरीर रुक्ष है उन्हें स्निग्ध द्रव्यों से और जिनका शरीर स्निग्ध है उन्हें रुक्ष द्रव्यों से विरेचन देना चाहिये। तीक्ष्ण विरेचन

से वात प्रकोप का भय बना रहता है। इसलिये मृदुविरेचन का उल्लेख है। बस्तिकर्म से अनुवासन व निरूह दोनों का ग्रहण करना चाहिये। अष्टाङ्ग संग्रह का नेभी विरेचन व बस्ति का प्रयोग करने को कहा है। लेकिन यह उपक्रम रक्तमोक्षण के पश्चात् करने को कहा है।

## ६३. उत्तान तथा गंभीर वातरक्त की चिकित्सा–

**बाह्यमालेपनाभ्यङ्गपरिषेकोपनाहनैः ।**
**विरेकास्थापनस्नेहपानैर्गम्भीरमाचरेत् ।।** च. चि. २९/४३

बाह्य अर्थात् उत्तान वातरक्त में आलेप, अभ्यङ्ग, उपनाह व परिषेक द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। गंभीरवातरक्त में विरेचन, निरूह व स्नेहपान द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

## ६४. वातप्रधान वातरक्त चिकित्सा–

**सर्पिस्तैलवसामज्जपानाभ्यञ्जनबस्तिभिः ।**
**सुखोष्णैरुपनाहैश्च वातोत्तरमुपाचरेत् ।।** च. चि. २९/४४

घृत तैल वसा मज्जा इनका पान, इन्हीं से अभ्यङ्ग व बस्ति प्रयोग तथा सुखोष्ण उपनाह द्वारा वातप्रधान वातरक्त की चिकित्सा करनी चाहिये।

घृत का उपयोग पान के लिये, तैल का उपयोग पान, अभ्यङ्ग व बस्ति के लिये तथा वसा व मज्जा का उपयोग इसी प्रकार किया जा सकता है। इसी के साथ चरकाचार्य ने वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध स्निग्ध मूंग की खीर अथवा तिल और सरसो के पिंड से उपनाह करने को कहा है। इससे वेदनाशमन होता है। सुश्रुताचार्य ने वातप्रधान वातरक्त में थोडा-थोडा दूषित रक्त अनेक बार निकालने को कहा है जिससे वायु के कारण उत्पन्न मार्गावरोध दूर हो जाय लेकिन वातप्रकोप न हो। इसके पश्चात् वमन विरेचनादि विधियों का प्रयोग कर संसर्जन क्रम के पश्चात् पुराणघृत का सेवन करने को कहा है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने रक्तमोक्षण के बाद मृदुविरेचन व तत्पश्चात् पुराण घृतपान का प्रयोग बताया है और अष्टाङ्ग संग्रहकार ने रक्तमोक्षण के पश्चात् स्नेहयुक्त विरेचन व तत्पश्चात् बार-बार बस्ति प्रयोग व तदुपरांत पुराणघृत का सेवन वातप्रधान वातरक्त में बताया है। यदि गुद, पार्श्व, उरु, संधी, अस्थि व उदर में वेदना हो तो बस्ती का विशेष उपयोग होता है। वातरक्त की चिकित्सा में बस्ति परमौषध है ऐसा भी अष्टाङ्ग हृदयकार ने बताया है।

## ६५. रक्तपित्तप्रधान वातरक्त चिकित्सा–

**विरेचनैर्घृतक्षीर पानै सेकैः सबस्तिभिः ।**
**शीतैर्निर्वापणैश्चापि रक्तपित्तोत्तरं जयेत् ।।** च. चि. २९/४५

विरेचन, घृतपान, दुग्धपान, परिषेक, अनुवासन बस्ति एवं शीतल दाहशामक प्रलेपों द्वारा रक्तपित्तप्रधान वातरक्त को जीतना चाहिये ।

सुश्रुताचार्य ने रक्तपित्तप्रधान वातरक्त में अनेक बार रक्तमोक्षण, मधुर तथा पित्तशामक क्वाथ तथा घृत का पान, शीतल द्रव्यों से सिद्ध दुग्ध से परिषेक व शीतप्रधान प्रलेपों का प्रयोग करने को कहा है । अष्टाङ्ग संग्रहकार ने इसके साथ-साथ विरेचन व अनुवासन बस्ति का प्रयोग करने को कहा है ।

## ६६. कफ प्रधान वातरक्त की चिकित्सा–

**वमनं मृदुनात्यर्थं स्नेहसेकौ विलङ्घनम् ।**
**कोष्णा लेपाश्च शस्यन्ते वातरक्ते कफोत्तरे ।।** च. चि. २९/४६

कफप्रधान वातरक्त में चिकित्सा का प्रारंभ मृदुवमन से करना चाहिये । स्नेह, परिषेक, लङ्घन का प्रयोग अतिमात्रा में नहीं करना चाहिये । कोष्ण लेप का प्रयोग कफप्रधान वातरक्त में उत्तम होता है ।

इसी अध्याय में चरकाचार्य ने कफज वातरक्त में शोथ, गौरव, कंडु आदि उपद्रव हो तो मूत्र, क्षार, मदिरा से सिद्ध घृत से अभ्यङ्ग करने को कहा है ।

**शोफ गौरव कण्ड्वाद्यैर्युक्ते त्वस्मिन् कफोत्तरे ।**
**मूत्रक्षारसुरापक्वं घृतमभ्यञ्जने हितम् ।।** च. चि. २९/१४५

इसी प्रकार की चिकित्सा सुश्रुताचार्य ने बतायी है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने इस अवस्था में त्रिफला व गुडूची का प्रचूर मात्रा में उपयोग करते हुए तत्पश्चात् स्नेहपान, वमन व मृदु रुक्षण का प्रयोग करने को कहा है । यथार्हस्नेहपीतं च वामितं मृदुरूक्षयेत् ॥ अ. हृ. चि. २२/१५

चरकाचार्य ने कफप्रधान वात रक्त में क्षार, तेल, गोमूत्र, जल और मरिच से सिद्ध परिषेक का प्रयोग भी हितकर माना है ।

## ६७. वातरक्त में चतु:स्नेह का प्रयोग–

**स्नेहैर्मधुरेसिद्धैर्वा चतुर्भिः परिषेचयेत् ।**
**स्तम्भाक्षेपकशूलार्तं कोष्णैर्दाहितु शीतलैः ।।** च. चि. २९/१२५

वातरक्त के रोगी में यदि स्तंभ आक्षेप व शूल यह लक्षण हो तो मधुर द्रव्यों से सिद्ध गरम-गरम स्नेहों से परिषेचन करना चाहिये । यदि रोगी में दाह यह लक्षण हो तो मधुर द्रव्यों से सिद्ध शीतल चतु:स्नेहो से परिषेचन करना चाहिये ।

इस प्रकार की अनेक अवस्थाओं का चरकाचार्य ने अलग-अलग स्थानों पर उल्लेख किया है। उसे मूल संहिता में यथा स्थल अवलोकन करें।

## ६८. वातरक्त में मेदोनाशक उपाय–

**व्यायामशोधनारिष्टमूत्रपानैर्विरेचनैः ।**
**तक्राभयाप्रयोगैश्च क्षपयेत् कफमेदसी ।।** च. चि. २९/१५७

वातरक्त के रोगी में कफ और मेद के अधिक बढ जाने पर व्यायाम, शोधन, आसवारिष्टों का सेवन, गोमूत्रपान, विरेचन, तक्रसेवन व हरड के प्रयोग से कफ और मेद को क्षीण करना चाहिये।

## ६९. वातरक्त में बृंहण निषेध–

**कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसो वा कफस्य वा ।**
**अतिवृद्धयाऽनिलेनादौ शस्तं स्नेहनबृंहणम् ।।** च. चि. २९/१५६

जब मेद व कफ के बढजाने से वायु का मार्गावरोध हो जाता है तो वह वायु और प्रकुपित हो जाता है। इस अवस्था में स्नेहन व बृंहण चिकित्साओं का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

स्नेहन व बृंहण कफ तथा मेदकारक होते है। इसलिये इनका यहां निषेध है। इस अवस्था में उपरिनिर्दिष्ट सूत्र में बताये कफ व मेदोनाश उपायों का प्रयोग कर तत्पश्चात् आगे की चिकित्सा करनी चाहिये। अष्टाङ्ग संग्रहकार ने इसी मत को दोहराते हुए इस अवस्था में प्रथम उरुस्तम्भ समान चिकित्सा जो मेद व कफनाशक है, करने के बाद वातरक्त शामक चिकित्सा, जो स्नेहन हो व रक्तशोधन भी करे, करने को कहा है।

**कृत्वा तत्राढ्यवातोक्तं वातशोणितिकं ततः ।**
**भेषजं स्नेहनं कुर्याद्यच्च रक्तप्रसादनम् ।।** अ. सं. चि. २४/५४

## ७०. वातरक्त में वातव्याधी समान चिकित्सा–

**गम्भीरे रक्तमाक्रान्तं स्याच्चेत्तद्वातवज्जयेत् ।**
**पश्चाद्वाते क्रियां कुर्याद्वात रक्तप्रसादनीम् ।।** च. चि. २९/१६०

जब गम्भीर वातरक्त में रक्त वायु द्वारा आक्रान्त हो, अर्थात् वायु अधिक मात्रा में बढी हो वातव्याधी समान चिकित्सा कर वायु को जीतना चाहिये। तत्पश्चात् वातरक्त की चिकित्सा करनी चाहिये।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त कहते है, एतच्च वातेन रक्ताभिभवनं गंभीर एव वातरक्ते प्रायोभवतीति दर्शयितुं 'गम्भीरे' इति कृतम्। गम्भीरानुगते हि वातरक्ते रक्तं बहु नास्ति, यतो रक्तस्य द्वितीया रक्तधरा त्वक्स्थानं, तेनोत्ताने एव रक्तं बलवत्, बाह्यस्थानत्वाद् रक्तस्य। संक्षेप में, गंभीर वातरक्त में वायु का प्राधान्य रहता है। गंभीर वातरक्त में रक्त का प्राधान्य नहीं रहता क्योंकि रक्त का स्थान त्वचा का दूसरा स्तर रक्तधरा है। और वैसे भी रक्त का प्राधान्य उत्तान वातरक्त में ही दिखाई देता है।

## ७१. वातरक्त के उपद्रवों की चिकित्सा–

**तयोः क्रिया विधातव्या भेदशोधन रोपणैः।**
**कुर्यादुपद्रवाणां च क्रियां स्वां स्वाच्चिकित्सितात्॥**

च. चि. २९/१६२

(रक्त वृद्धी या पित्त वृद्धी के कारण पाक या पूय स्राव होने पर) इस अवस्था में व्रण के समान भेदन, शोधन, रोपण आदि क्रियाओं द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। अन्य उपद्रवों की चिकित्सा उपद्रव स्वरूप जो रोग हो उसके अनुसार करनी चाहिये।

यहां चरकाचार्य ने पित्त तथा रक्त की अत्यधिक वृद्धी के कारण आक्रान्त प्रदेश में पकना, फूटना, विदग्ध रक्त तथा पूय का स्राव यह लक्षण बताये हैं। इनकी व्रणवत् चिकित्सा करनी चाहिये। इनके फलस्वरूप और कोई उपद्रव निर्माण हो तो उस उपद्रवस्वरूप रोग की उस रोगाधिकार में वर्णित चिकित्सा करनी चाहिये। यह सामान्य नियम है। अष्टाङ्ग संग्रहकार ने भी इसीका अनुमोदन किया है।

•

सप्तदशोऽध्यायः

# स्त्रीरोग-गर्भिणी व बालरोग

## १. योनिव्यापद् सामान्य चिकित्सा–

**स्नेहनस्वेदबस्त्यादि वातजास्वनिलापहम् ।।** च. चि. ३०/४१b
**कारयेद्रक्तपित्तघ्नं शीतं पित्त कृतासु च ।**
**श्लेष्मजासुच रुक्षोष्णं कर्म कुर्याद्विचक्षणः ।।** च. चि. ३०/४२
**सन्निपाते विमिश्रं तु संसृष्टासु च कारयेत् ।**

स्नेहन, स्वेदन व बस्ति कर्म से वातज योनिरोगों की चिकित्सा करनी चाहिये। पित्तजन्य योनिरोगों में रक्तपित्तनाशक शीतल चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये। विचक्षण वैद्य ने कफज योनिरोग में रुक्ष और उष्ण चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये वैसे ही सन्निपातज व द्वंद्वज योनिरोगों में मिश्र चिकित्सा करनी चाहिये।

चरकाचार्य ने जिन बीस योनिरोगों का वर्णन किया है उनका दोषानुसार वर्गीकरण इस प्रकार है। (१) कफज– कफजयोनी, (२) पित्तज– पित्तजायोनी, असृजायोनि, अरजस्कायोनि, (३) वातज– उदावर्तिनीयोनि, पुत्रघ्नी, अचरणा, अतिचरणा, षण्ढी, महायोनि, सूचीमुखी, प्राक्चरणा, अर्न्तमुखी, व शुष्कायोनि, (४) सनिपातज– सन्निपातजायोनि, (५) वातपित्तज– परिप्लुता व वामिनी, (६) वातकफज– कर्णिनी व उपप्लुतायोनि। इस वर्गीकरण के आधार पर सभी योनि रोगों की सामान्य चिकित्सा यहां बतायी गयी है। सुश्रुताचार्य का वर्गीकरण व वर्णन अलग होने से इस अध्याय में सुश्रुतमत का अंतर्भाव नहीं किया गया है।

## २. योनि रोगों में वातनाशक चिकित्सा को प्राधान्य–

**नहि वातादृते योनिर्नारीणां संप्रदुष्यति ।।** च. चि. ३०/११५b
**शमयित्वा तमन्यस्य कुर्याद्दोषस्य भेषजम् ।**

स्त्रीयों में बिना वात प्रकोप के योनि दूषित नहीं होती। इसलिये प्रथम वायु का शमन कर तत्पश्चात् अन्य चिकित्सा करनी चाहिये।

योनिव्यापाद् में हमेशा वायु की प्रधानता रहती है इस तथ्य को चरकाचार्य ने दुबारा स्पष्ट किया है। वे कहते है, यच्चवातविकाराणां कर्मोक्तं तच्च कारयेत् ।। सर्वव्यापत्सु मतिमान्महायोन्यां विशेषतः। च. चि. ३०। अर्थात् मतिमान चिकित्सक ने सभी प्रकार के योनिव्यापद् मे वातव्याधि समान चिकित्सा करनी चाहिये। विशेषतः

महायोनी में वातशामक चिकित्सा करनी चाहिये । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी को दोहराया है । योनिव्यापत्सु भूयिष्ठं शस्यते कर्मवातजित् ।

## ३. स्तब्ध और कर्कश योनिचिकित्सा–

**स्तब्धानां कर्कशानां च कार्यं मार्दवकारकम् ।।** च. चि. ३०/१२३
**धारयेद्वेशवारंवा पायसं कृशरां तथा ।**

स्तब्ध व कर्कश योनी में मृदुता उत्पन्न करने वाले कार्य करने चाहिये । इस अवस्था में वेशवार, खीर या कृशरा को एक पोट्टली में बांधकर उष्ण रहने पर योनी में धारण करना चाहिये ।

कर्कशता यह मुख्यतः वात का व स्तब्धता कफ का गुण है । इस अवस्था में उष्ण व ईशत्स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग हितकारी होगा ।

## ४. दुःस्थित योनि चिकित्सा–

**स्निग्धास्विन्नां तथा योनिं दुःस्थितां स्थापयेत्पुनः ।।** च. चि. ३०/४३
**पाणिना नामयोज्जिह्मां संवृतां वर्धयेत् पुनः ।**
**प्रवेशयेन्निःसृतां च विवृतां परिवर्तयेद् ।।** च. चि. ३०/४४
**योनिः स्थानापवृत्ता हि शल्यभूता मता स्त्रियाः ।**

यदि योनि दुःस्थिती में हो अर्थात् अपने स्थान पर न हो तो स्नेहन स्वेदनोपरांत उसे यथा स्थान लाना चाहिये । यदि योनि टेढी हो तो उसे हाथ से नवाकर सीधी करनी चाहिये । यदि योनिमुख संकुचित हो गया हो तो उसे विवृत्त करना चाहिये, अर्थात् बढाना चाहिये । यदि योनिभ्रंश हो गया हो तो उसे पुनः अन्दर प्रविष्ट कराना चाहिये । यदि योनिमुख विवृत्त हो तो उसका परिवर्तन करना चाहिये । अपने स्थान से च्युत योनी शल्य समान होती है ।

इन सभी कर्मों के पहले स्नेहन स्वेदन कराना चाहिये जिससे यह कर्म सुकरता से पूर्ण होंगे ।

## ५. योनिव्यापद् में शोधन आवश्यक–

**सर्वांव्यापन्नयोनिं तु कर्मभिर्वमनादिभिः ।।** च. चि. ३०/४५
**मृदुभिः पञ्चभिर्नारीं स्निग्ध स्विन्नामुपाचरेद् ।**

सभी योनिव्यापद् से पीडित नारियों में स्नेहन स्वेदनोपरांत पांचो शोधनकर्मों का प्रयोग करना चाहिये । यह शोधन कर्म मृदु होने चाहिये ।

स्त्री, बाल, व वृद्धो में मृदु औषधी, मृदुशोधन अपेक्षित है । इसलिये शोधन

को 'मृदु' विशेषण लगाया है। इन शोधनकर्मों के पश्चात् प्रकारानुसार योनिव्यापद् की चिकित्सा करना अपेक्षित है।

## ६. वातज योनिरोग चिकित्सा–

**वातव्याधिहरं कर्म वातार्तानां सदा हितम्।**
**औदकानुपजैर्मासैः क्षीरैः सतिलतण्डुलैः।।** च. चि. ३०/४७
**सवातघ्नौषधैर्नाडीकुम्भीस्वेदैरुपाचरेत् ।**
**अक्तां लवणतैलेन साश्मप्रस्तरसंकरैः।।** च. चि. ३०/४८
**स्विन्नां कोष्णाम्बुसिक्ताङ्गिं वातघ्नैर्भोजयेद्रसैः।**

वातरोगनाशक चिकित्सा वातज योनिरोग से पीडित स्त्रीयों के लिये सर्वदा हितकर होती है। जलीय अथवा आनूप मांस तिल, चावल दूध तथा वातशामक औषधियों के मिश्रण से योनी को नाडीस्वेद या कुंभीस्वेद से स्वेदन करना चाहिये। अथवा योनि में तैल व लवण लगाकर गरम किये हुए लोहा, पत्थर या बालू से स्वेदन करना चाहिये। योनि स्निग्ध होने के पश्चात् स्त्री ने स्नान कर वातनाशक मांसरसों के साथ भोजन करना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने वातज योनि रोग में स्नेहन, स्वेदन बस्ति यह सामान्य वातशामक चिकित्सा करने को कहा है।

## ७. वातज योनिव्यापद् में स्नेहन–

**वातार्तानां च योनीनां सेकाभ्यङ्ग पिचुक्रियाः।।** च. चि. ३०/६१
**उष्णाः स्निग्धाः प्रकर्तव्यास्तैलानि स्नेहनानि च।**

वातज योनिरोगों में परिषेक, अभ्यङ्ग व पिचु का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये उष्ण, स्निग्ध द्रव्यों का, विशेषतः तैलों का प्रयोग करना चाहिये।

यह वातव्याधिहर सामान्य कर्म है। अष्टाङ्गहृदयकार ने भी 'बस्त्यभ्यङ्ग परीषेक प्रलेप पिचुधारणाम्' ऐसा कहते हुए चरकमत का अनुमोदन किया है।

## ८. पित्तज योनि रोगों की चिकित्सा–

**पित्तलानां तु योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः।**
**शीताः पित्तहराः कार्याः स्नेहनार्थं घृतानि च।।** च. चि. ३०/६३
**पित्तघ्नौषधसिद्धानि कार्याणि भिषजा तथा।**

पित्तज योनिरोगों में शीतल तथा पित्तहर द्रव्यों से सेक, अभ्यङ्ग, पिचु का

प्रयोग करना चाहिये। वैसे ही स्नेहन के लिये पित्तघ्न औषधियों से सिद्ध घृत का प्रयोग वैद्य ने करना चाहिये।

यह सामान्य पित्तशामक चिकित्सा है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी को दोहराया है।

## ९. कफज योनिरोग की चिकित्सा–

**योन्यांश्लेष्मप्रदुष्टायां वर्तिः संशोधनी हिता।।** च. चि. ३०/७०
**वाराहे बहुशः पित्ते भावितैर्लक्तकैः कृता।**

कफ प्रदुष्ट योनी में वाराह पित्त से भावित संशोधन वर्ति का प्रयोग हितकर होता है।

इसके साथ-साथ अर्कादि, पिप्पल्यादि योनिशोधन वर्तियों का वर्णन चरकाचार्य ने किया है जिससे कफ का शोधन हो जाता है।

## १०. रक्तयोनि चिकित्सा–

**रक्तयोन्यानसृग्वर्णैरनुबन्ध्यं समीक्ष्य च।।** च. चि. ३०/८६
**ततः कुर्याद्यथादोषं रक्तस्थापनमौषधम्।**

रक्त के वर्णों में दोषों का अनुबन्ध देखकर रक्तयोनि में दोषानुसार रक्तस्थापन औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इसी सूत्र को अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी दोहराया है।

## ११. पित्तज प्रदर में विरेचन–

**विरेचनं महातिक्तं पैत्तिकेऽसृग्दरे पिबेत्।।**
**हितं गर्भ परिस्त्रावे यच्चोक्तं तच्चकारयेत्।**

विरेचन कराने वाले महातिक्तक घृत को पित्तज प्रदर में पिलाना चाहिये। वैसे ही गर्भस्त्राव में हितकर जो आहार विहार बताया है उसका पालन करना चाहिये।

## १२. श्वेतप्रदर में धूम प्रयोग–

**स्त्रावच्छेदार्थमभ्यक्तं धूपयेद्वा घृताप्लुतैः।।** च. चि. ३०/१२०b
**सरलागुग्गुलुयवैः सतैलकटुमत्स्यकैः।** a

श्वेतप्रदर में योनि को स्नेहेन कर सलई की लकडी, गुग्गुल, यव इनमें घी मिलाकर तत्पश्चात् इन्हें जलाकर इसके धूम से योनिधूपन करना चाहिये। अथवा सूखी छोटी सिधरी मछलियों में तेल लगाकर, इन्हें आग पर रखकर योनिधूपन करना चाहिये।

## १३. दुर्गन्धित योनि चिकित्सा–

**दुर्गन्धानां काषायःस्यात्तौवरः कल्क एव वा ।।** च. चि. ३०/१२५
**चूर्णं वा सर्वगन्धानां पूतिगन्धापकर्षणम् ।**

दुर्गन्धित योनि में तुवरक्वाथ से प्रक्षालन, या तुवरक कल्क का योनिधारण अथवा सर्वगन्ध द्रव्यों के चूर्ण का योनि में धारण करने से पूतिगन्ध का अपकर्षण होता है ।

## १४. प्रदर में वातज योनिचिकित्सा–

**योनिनांवातलाद्यानां यदुक्तमिहभेषजम् ।**
**चतुर्णां प्रदराणां च तत् सर्वं कारयेभ्दिषक् ।।** च. चि. ३०/२२७

चारो प्रकार के प्रदर रोग में इसी अध्याय में वातज योनि रोग में वर्णित चिकित्सा का प्रयोग चिकित्सक को करना चाहिये ।

## गर्भिणी चिकित्सा–

## १. सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त–

**व्याधीश्चास्या मृदुमधुर शिशिरसुखसुकुमारप्रायैरौषधाहारोपचारैरुपचरेत, न चास्या वमन, विरेचन शिरोविरेचनानि प्रयोजयेत्, न रक्तमवसेचयेत्, सर्वकालं च नास्थापनामनूवासनं वा कुर्यादन्यत्रात्ययिकाव्द्याधेः । अष्टमं मासमुपादाय वमनादिसाध्येषु पुनर्विकारेष्वात्ययिकेषु मृदुभिर्वमनादिभिस्त-दर्थकारिभिर्वोपचारः स्यात् । पूर्णमिव तैलपात्रमसंक्षोभयताऽन्तर्वन्त्रि भवत्युपचर्या ।** च. शा. ८/२२

गर्भिणी में यदि कोई रोग उत्पन्न हो जाय तो उस रोगाधिकार ने में जो औषधी व आहार मृदु, मधुर, शीतवीर्य, सुखकारक (अर्थात् रूचिकर) व सुकुमार (क्लेश उत्पन्न न करने वाले) हो उसका प्रयोग चिकित्सा में करना चाहिये । वमन, विरेचन, नस्य का प्रयोग गर्भिणी में न करें । रक्तमोक्षण भी न करें । आस्थापन अनुवासन बस्ति का प्रयोग भी सामान्यतः न करें । लेकिन आत्यधिक अवस्था आने पर आस्थापन या अनुवासन का अल्प मात्रा में प्रयोग किया जा सकता है । आठवें मास के बाद यदि कोई रोग उत्पन्न हो जो वमनसाध्य, विरेचनसाध्य या शिरोविरेचन साध्य ही हो उसमें मृदु वमन विरेचनादी का प्रयोग कर सकते है या तदर्थकारी अर्थात् वमन विरेचन के लाभ देनेवाले लेकिन प्रयोग के लिये आसान किसी योग का प्रयोग किया जा सकता है । पूर्ण भरे हुए तैल पात्र को जिस प्रकार सावधानीपूर्वक हिलाया जाता है उसी प्रकार गर्भिणी की रक्षा करनी चाहिये ।

यहां आए 'तदर्थकारी' शब्द पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त ने कहा है, तदर्थकारिभिर्वेति यथा वमनार्थकारी निष्ठीवनं, विरेचनार्थकारिणी फलवर्तिः । अर्थात् तदर्थकारी शब्द से वमन स्थान पर निष्ठीवन व विरेचन के स्थान पर गुदवर्ती का प्रयोग अपेक्षित है । यहां निष्ठीवन के साथ कवलग्रह व गंडूष का तथा गुदवर्ती के साथ अनुवासन बस्ति का व शिरोविरेचन की जगह शिरोबस्ति का अंतर्भाव किया जा सकता है । गंगाधर जी ने 'तदर्थकारि' की जगह 'तदनुकारी' शब्द का प्रयोग किया है । सुश्रुताचार्य ने गर्भिणी में रोग उत्पन्न होने पर वमन कराने को कहा है । तत्पश्चात् मधुर और अम्ल अन्न के साथ वातानुलोमन करना चाहिये व मृदु संशोधन देना चाहिये । अन्नपान भी मृदु, मधुर और गर्भ को घातक न हो ऐसा होना चाहिये । सभी चिकित्सा मृदुप्राय हो इस पर ध्यान देना चाहिये । सु. शा. १०/७१

## २. गर्भस्राव की सामान्य चिकित्सा–

**पुष्पदर्शनादेवैनां ब्रूयात्–शयनं तावन्मृदुसुखशिशिरास्तरणसंस्तीर्णमीषदवनत शिरस्कं प्रतिपद्यस्वेति । ततो यष्टीमधुकसर्पिर्भ्यां परमशिशिरवारिणि संस्थिताभ्यां पिचुमाप्लाव्योपस्थसमीपे स्थापयेत्तस्याः, तथा शतधौतसहस्रधौताभ्यां सर्पिर्भ्यामधोनाभेः सर्वतः प्रदिह्यात्, सर्वतश्च गव्येन चैनां पयसा सुशीतेन मधुकाम्बुना वान्यग्रोधादि कषायेण वा परिषेचयेदधोनाभेः, उदकं वा सुशीतमवगाहयेत्,......**

गर्भिणी में रजःस्राव दिखने पर तत्काल गर्भिणी को कोमल, सुखकारक, शीतल शैय्या पर, जिसका पैरकी ओर का भाग ऊँचा व शिर का भाग नीचा हो, लिटा दें । तत्पश्चात् अतिशीतल जल में घृत व मुलेठी डालकर उससे भीगे हुए कपडे को योनी के पास रखें । तथा शतधौत या सहस्रधौत घृत से नाभी को लेप करें । गाय के शीतल दुग्ध से या मुलेठी क्वाथ से या न्यग्रोधादि गण के क्वाथ से नाभी के नीचे सेचन करें अथवा शीतल जल में अवगाहन करें ।

इस सभी चिकित्सा का उद्देश रक्तस्राव रूककर गर्भ की पुनःस्थापना होना है । इसके आगे भीं कई प्रकार की चिकित्सा चरकाचार्य ने बतायी है उसे यथास्थल देखें ।

## ३. उपविष्टक व नागोदर की चिकित्सा–

नार्योस्तयोरूभयोरपि चिकित्सित विशेषमुपदेक्ष्यामः– भौतिक, जीवनीय, बृंहणीयमधुरवातहरसिद्धानां सर्पिषां पयसामामगर्भाणां चोपयोगो गर्भवृद्धिकरः, तथा संभोजनमेतैरेव सिद्धैश्च घृतादिभिः सुभिक्षायाः, अभीक्ष्णं यानवाहनापमार्जनावजृम्भणैरुपपादन मिति । च. शा. ८/२७

उपरिष्टक व नागोदर से पीडित स्त्रीयों की चिकित्सा का विशेष रूप से उपदेश

कर रहा हूं। इन रोगों में भौतिक, जीवनीय, बृंहणीय, मधुरगण व वातहर औषधियों से सिद्ध घृतों का प्रयोग करना चाहिये। वैसे ही नागोदर में दूध का प्रयोग (योनिव्यापाद् चिकित्सा) तथा गर्भवृद्धिकर आमगर्भ (अंडे आदि) का प्रयोग करना चाहिये। भूख लगने पर जीवनीय आदि सिद्ध घृतों के साथ भोजन करना चाहिये। वैसे ही बार-बार यान, वाहन आदि की सवारी, स्नान करना, जम्भाई लेना आदि का प्रयोग करना चाहिये।

सुश्रुताचार्य ने उपविष्टक, नागोदर की चिकित्सा विस्तार से वर्णन की है। लेकिन अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी सूत्र को श्लोकबद्ध किया है।

**तयोर्बृहणवातघ्नं मधुरद्रव्यसंस्कृतैः।**
**घृतक्षीररसैस्तृप्तिरामगर्भाश्चखादयेत् ।।**
**तैरेवचसुभिक्षायाः क्षोभणं यानवाहनैः।**

इस सूत्र में भौतिक से भूतोन्माद से वर्णित घृतों का ग्रहण करना चाहिये। उदा. महापैशाचघृत।

## ४. लीनगर्भ में बाह्योपचार–

**तैलाभ्यङ्गेन चास्या अभीक्ष्णमुदरबस्तिवंक्षणोरूकटीपार्श्वपृष्ठप्रदेशानीषदुष्णेनोपचरेत्।** च. शा. ८/२८

जिस स्त्री का गर्भ स्पन्दन नहीं करता उसे कवोष्ण तिल तैल या बला तैल से उदर, बस्तिवंक्षण, ऊरू, कटि, पार्श्व तथा पृष्ठभाग पर बार-बार मर्दन करना चाहिये।

चरकाचार्य ने बाह्योपचार के साथ-साथ लीन गर्भ में उपयोगी आहार द्रव्यों का भी वर्णन किया है। अष्टाङ्गहृदयकार ने भी आहार द्रव्यों के साथ-साथ 'कट्यभ्यङ्गं च शीलयेत्'। ऐसा कहते हुए कटिभाग का अभ्यंग करने को कहा है।

## ५. गर्भिणी में उदावर्त–

**यस्याः पुनरुदावर्तविबन्धः स्यादष्टमें मासे न चानुवासन साध्यं मन्येत ततस्तस्यास्तद्विकार प्रशमनमुपकल्पयोन्निरूहम्। उदावर्तो ह्युपेक्षितः सहसा सगर्भां गर्भिणीं गर्भमथवाऽतिपातयेत्।** च. शा. ८/२९

जिस गर्भिणी को आठवें मास में पुनः उदावर्त व विबन्ध हो जाय और वह अनुवासन के प्रयोग से ठीक न होता हो तो उपद्रवों की शान्त करने वाली औषधियों से सिद्ध निरुह बस्ति का प्रयोग करे जिससे मलबन्ध शीघ्र नष्ट हो। उदावर्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकी उदावर्त में बढा वायु गर्भ अथवा गर्भिणी के लिये मृत्युदायक हो सकता है।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने गर्भिणी में उदावर्त होने पर प्रथम स्नेहपान तथा योग्य बस्ति का प्रयोग करने को कहा है।

**उदावर्तं तु गर्भिण्याः स्नेहैराशुतरां जयेत्।।**
**योग्यैश्च बस्तिभिर्हन्यात्सगर्भां स हि गर्भिणीम्।**

## ६. मृतगर्भा की चिकित्सा–

**तस्य गर्भशल्यस्य जरायुप्रपातनं कर्म संशमनमित्याहुरेके, मन्त्रादि-कमथर्ववेदविहितमित्येके, परिदृष्टकर्मणा शल्यहर्त्रा हरणमित्येके। व्यपगत गर्भाशल्यां तु स्त्रियमाभगर्भां सुरासीध्वरिष्टमधुमदिरासवानामन्यतममग्रे सामर्थ्यतः पाययेद्गर्भकोष्ठशुद्ध्यर्थमर्तिविस्मरणार्थं प्रहर्षणार्थं च, अतः परं संप्रीणनैर्बलानुरक्षिभिरस्नेह संप्रयुक्तैर्यवाग्वादिभिर्वा तत्कालयोगिभिरा-हारैरुपचरेद्दोषधातुक्लेदविशोषण मात्रं कालम्। अतः परं स्नेहपानैर्बस्ति-भिराहारविधिभिश्च दीपनीय जीवनीयबृंहणीय मधुर वातहर समाख्यातै-रुपचरेत्।** च. शा. ८/३१

किसी आचार्य के मतानुसार जरायुपातन करना ही उस गर्भशल्य की चिकित्सा है। अन्य किसी आचार्य के मतानुसार अथर्ववेदोक्त मन्त्रों के पाठ द्वारा या उन मन्त्रों से अभिमन्त्रित जल पिलाकर उस गर्भशल्य को निकालना चाहिये। किसी अन्य आचार्य के मतानुसार शल्य चिकित्सक द्वारा गर्भशल्य को निकालना ही मृतगर्भ की चिकित्सा है। यह गर्भशल्य निकालने के पश्चात् सर्वप्रथम गर्भाशय शुद्धी के लिये, वेदनाशमन के लिये व मन की प्रसन्नता के लिये सुरा, सिधु, अरिष्ट, मधु, मदिरा आसव इनमें से किसी एक को गर्भिणी के सामर्थ्य के अनुसार पिलाये। तत्पश्चात् उसे दोष, धातु व क्लेद को सुखाने के लिये बृंहण बल का रक्षण करने वाली स्नेहरहित यवागू जो उस काल में गर्भिणी के लिये आहार स्वरूप हो, खिलानी चाहिये। इसके बाद आवश्यकतानुसार दीपनीय, जीवनीय, बृंहणीय, मधुरगण या वातहर गण से सिद्ध घृत का स्नेहपान, स्नेहबस्ति और द्रव्य के साथ प्रयोग करें।

## ७. परिपक्व मृतगर्भ चिकित्सा–

**परिपक्वगर्भशल्यायाः पुनर्विमुक्तगर्भशल्यायास्तदहरेव स्नेहोपचारस्यात्।**

यदि परिपक्व गर्भ मृत हो तो उसे औषध मन्त्र व शल्यकर्मद्वारा निर्हरण कर उसी दिन से स्नेह का प्रयोग आरंभ कर देना चाहिये।

पिछले सूत्र में आम गर्भ के निर्हरण के बाद की चिकित्सा का वर्णन किया है। इस सूत्र में परिपक्व मृतगर्भ की चिकित्सा में दोष, धातु व क्लेद का शोषण करने की जरूरत न होने से गर्भशल्यद्धरण के पश्चात् स्नेह का प्रयोग करने को कहा है।

## स्तन्य दोष चिकित्सा–

### १. सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त–

**तेषां तु त्रयाणामपि क्षीरदोषाणां प्रतिविशेषमभिसमीक्ष्य यथास्वं यथादोषं च वमनविरेचनास्थापनानुवासनानि विभज्यकृतानि प्रशमनाय भवन्ति ।** च. शा. ८/५६

वातदुष्ट, कफदुष्ट व पित्तदुष्ट दूध में दोषों के प्रत्येक भेद का विचार कर उसके अनुसार चिकित्सा का विचार कर दोषबलानुसार वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन का प्रयोग कर चिकित्सा करने से क्षीर दोष की शान्ति होती है ।

इसके साथ-साथ चरकाचार्य ने स्तन्यदोष निर्हरणार्थ आहार-विहार आभ्यन्तर औषधी आदि का वर्णन भी किया है उसे यथास्थल देखें ।

### २. स्तन्य दोष चिकित्सा– १

**तत्रादौस्तन्यशुद्ध्यर्थं धात्रीं स्नेहोपपादिताम् ।।** च. चि. ३०/२५१
**संस्वेद्य विधिवद्वैद्योवमनेनोपपादयेत् ।**

दूषित स्तन्य की चिकित्सा में सर्वप्रथम धात्री का विधिपूर्वक स्नेहन कराने के बाद वमन का प्रयोग करें ।

### ३. स्तन्य दोष चिकित्सा– २

**सम्यग्वान्तां यथान्यायं कृतसंसर्जनां ततः ।।** च. चि. ३०/२५३
**दोषकालबलापेक्षी स्नेहयित्वा विरेचयेत् ।**

सम्यक् वमन होने के पश्चात् उसे नियमपूर्वक संसर्जनक्रम कराना चाहिये । तत्पश्चात् स्नेहन कराकर दोष काल व बल की अपेक्षा रखनेवाले वैद्य ने विरेचन कराना चाहिये ।

यथान्यायं से तात्पर्य जिस प्रकार की शुद्धी हो उस प्रकार संसर्जन प्रयोग करना है । उदा. अल्प शुद्धी में तीन दिन में मध्यम शुद्धी में पांच दिन में व उत्तमशुद्धी में सात दिन में संसर्जन क्रम समाप्त किया जाता है ।

## बालरोग चिकित्सा

### १. सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त–

**निवृत्तिर्वमनादीनां मृदुत्वं परतंत्रताम् ।।** च. चि. ३०/२८३
**वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यं वीक्ष्य बालेषु शास्त्रवित् ।**
**भेषजं स्वल्पमात्रं तु यथाव्याधि प्रयोजयेत् ।।** च. चि. ३०/२८४

बालकों में कोमलता व परतंत्रता के कारण शास्त्र के ज्ञाता वैद्य वमन, विरेचन आदि शोधन चिकित्साका प्रयोग नहीं करते। बालकों में वचन व चेष्टा का सामर्थ्य देखकर रोगानुसार अल्पमात्रा में औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त कहते है, द्विविधा बाला भवन्ति-स्वतंत्र वृत्तयः परतंत्रवृत्तयःश्च; तत्र परतन्त्रत्वं बालेषु वीक्ष्य वमनादीनां निवृत्तिः कर्तव्या, वाक्चेष्टयोश्च बालस्यसामर्थ्यं वीक्ष्य स्वतन्त्रतायां जातायां वमनादीनां मृदुत्वं शास्त्रविद्वैद्यः प्रयोजयेत्, तथा संशमनमपि भेषजमल्पमात्रं यथाव्याधि बालेषु प्रयोजयेदिति वाक्यार्थः, किंवा बालेषु मृदुत्वं परतन्त्रतां च वीक्ष्य वमनादीनां निवृत्तिर्विधातव्या, वाक्चेष्टयोश्च बालेषु सामर्थ्यं वीक्ष्य संशमनं भेषजमल्पमात्रं यथाव्याधि प्रयोजयेदिति योजनीयम्। संक्षेप में, बालक दो प्रकार के होते है। १. स्वतंत्रवृत्ति और २. परतंत्रवृत्ति। परतंत्रवृत्ति बालक माता पर पूर्णरूप से निर्भर रहता है इसलिये उसमें वमनादि का निषेध है। स्वतंत्रवृत्ति बालक में वाक् व चेष्टा का समार्थ्य देखकर मृदुवमनादी का प्रयोग किया जा सकता है।

### २. मधुर द्रव्य प्रयोग–

**मधुराणिकषायाणि क्षीरवन्तिमृदूनि च।**
**प्रयोजयेद्भिषग्वाले मतिमान प्रमादतः ।।** च. चि. ३०/२८५

मतिमान् चिकित्सक ने प्रमाद रहित होकर मधुर द्रव्यों के क्वाथ में दूध मिलाकर उसे मृदु कर बालकों मे उपयोग में लाना चाहिये।

### ३. बालकों में द्रव्यनिषेध–

**अत्यर्थ स्निग्धरूक्षोष्णमम्लं कटुविपाकि च।**
**गुरुचौषधपानान्नमेतद्वालेषु गर्हितम् ।।** च. चि. ३०/२८६

अत्यन्त स्निग्ध, रुक्ष, उष्ण, अम्ल, कटुविपाकी व गुरु औषध तथा अन्नपानका प्रयोग बालकों में निषिद्ध है।

### ४.

**यदि त्वातुर्य किञ्चित् कुमारमागच्छेत् तत् प्रकृतिनिमित्त पूर्वरूपलिङ्गोपशयविशेषै स्तत्वतोऽनुबुध्य सर्वविशेषानातुरौषधदेशकाला-श्रयानवेक्षमाणश्चिकित्सितुमारभेतैनं मधुर मृदुलघु सुरभिशीत शङ्करं कर्म प्रवर्तयन्। एवं सात्म्याहि कुमारा भवन्ति।**

यदि बालक रोग से आक्रान्त हो जाय तो प्रकृति, निमित्त, पूर्वरूप, लक्षण,

उपशय इन विधियों से रोगविनिश्चय कर सभी विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए रोग, औषध, देशकाल, आश्रय आदि का विचार कर मृदु, मधुर, लघु, सुगन्धित, शीत व आनंददायक कर्म करते हुए बालकों की चिकित्सा प्रारंभ करें। बालक इन द्रव्यों से सात्म्य होते है।

•
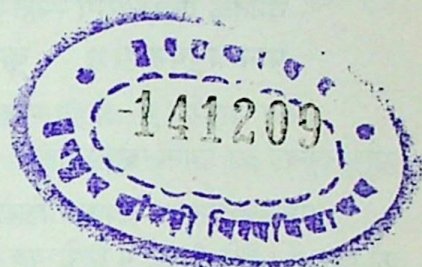
## अष्टादशोऽध्यायः

# शिरोरोग, मुखरोग, नेत्र रोग

## शिरोरोग

### १. वातज शिरोरोग चिकित्सा–

**वातिके शिरसोरोगे स्नेहान् स्वेदान् सनावनान् ।**
**पानान्नमुपनाहांश्च कुर्याद्वातामयापहान् ।।** च. चि. २६/१५८

वातज शिरोरोग में स्नेहन स्वेदन के साथ नस्य तथा वातदोषनाशक अन्नपान और उपनाह का प्रयोग करना चाहिये ।

अष्टाङ्गहृदयकार ने वातज शिरोरोग में वातशामक चिकित्सा का प्रयोग करने को कहा है । वैसे ही रात में शिरोभ्यङ्ग कर घृतपान व तत्पश्चात् उष्ण दुग्ध का सेवन, तिलतैल तथा कल्क का दूध के साथ सेवन, मांस व धान्य से पिंडस्वेद व उपनाहस्वेद, वातघ्न औषधी, दशमूल आदि से सिद्ध दुग्ध का सेवन, स्निग्धनस्य, स्निग्ध धूमपान, कर्णपूरण आदि उपाय बताये है । सामान्यत: उर्ध्वजत्रुगत व्याधी में प्रयुक्त वातशामक चिकित्सा का यहां प्रयोग बताया है ।

**शिरोभितापेऽनिलजे वातव्याधिविधिं चरेत् ।**
**घृतमक्तशिरारात्रौ पिबेदुष्णपयोनुपः ।।१।।**
**माषान् मुद्गान् कुलत्थान् वा तद्वत्खादेद्घृतान्वितान् ।**
**तैलं तिलानां कल्कं वा क्षीरेण सह पाययेत् ।।२।।**
**पिण्डोपनाहस्वेदाश्च मांसधान्यकृताहिताः ।**
**वातघ्नदशमूलादि सिद्ध क्षीरेण सेचनम् ।।** अ. हृ. उ. २४/३
**स्निग्धं नस्यं तथा धूमः शिरःश्रवणतर्पणम् ।**

### २. पित्तज शिरोरोग चिकित्सा–

**पैत्ते घृतं पयः सेकाः शीता लेपा सनावनाः ।**
**जीवनीयानि सर्पीषि पानान्नं चापिपित्तनुत् ।।** च. चि. २६/१७६

घृतपान, दुग्धपान, सेक, शीतल लेप, नस्य, परिषेक, जीवनीय घृत का सेवन और पित्तनाशक अन्नपान का प्रयोग पित्तज शिरोरोग में करना चाहिये ।

चरकाचार्य ने इसी अध्याय में इन प्रदेह परिषेक आदि के लिये प्रयुक्त कल्पों

का वर्णन भी किया है। वैसे ही नस्य के लिये घृत का प्रयोग करने को कहा है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने पित्तज शिरोरोग में स्नेहन कर सिरावेधद्वारा रक्तमोक्षण करने को कहा है। तत्पश्चात् शीतल लेप, परिषेक, शीतल द्रव्यों से बस्ति, जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध घृत तथा दुग्धपान व नस्य का प्रयोग करने को कहा है।

**शिरोऽभितापे पित्तोत्थे स्निग्धस्य व्यधयोश्चिराम्।।**
**शीताः शिरोमुखालेपसेकशोधनबस्तयः।**
**जीवनीयशृते क्षीरसर्पिषी पाननस्ययोः।।** अ. हृ. उ. २४/१२

## ३. कफज शिरोरोग चिकित्सा–

**कफजेस्वेदितं धूमनस्यप्रधमनादिभिः।**
**शुद्धं प्रलेपपानान्नैः कफघ्नैः समुपाचरेत्।।** च. चि. २६/१८०
**पुराणसर्पिषः पानैस्तीक्ष्णैर्वस्तिभिरेव च।**

कफज शिरोरोग में सिर पर स्वेदन कर तत्पश्चात धूमपान, नस्य तथा प्रधमन नस्य का प्रयोग करना चाहिये। इस क्रीयाक्रम से शुद्धी होने के पश्चात कफनाशक द्रव्यों का प्रलेप, अन्नपान, पुराण घृतपान और तीक्ष्ण शिरोबस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

अष्टाङ्गहृदयकार ने कफज शिरःशूल में पुराण घृत से स्नेहन कर कटु द्रव्यों से वमन करने को कहा है। तत्पश्चात् रूक्षतीक्ष्ण व उष्ण औषधियों से स्वेदन, लेप, नस्य कराना चाहिये व रोगी को उपवास भी कराना चाहिये।

**श्लेष्माभितापे जीर्णाज्यस्नेहितःकटुकैर्वमेत्।।** च. चि. २६/१३
**स्वेदप्रलेपनस्याद्या रुक्षतीक्ष्णोष्णभेषजैः।**
**शस्यन्ते चोपवासोऽत्र.................।।** च. चि. २६/१४

## ४. सन्निपातज शिरोरोग–

**सन्निपातभवे कार्या सन्निपातहिता क्रिया।** च. चि. २६/१८३a

सन्निपात में हितकर क्रीयाओं का प्रयोग सन्निपातज शिरोरोग में करना चाहिये। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी 'निचये मिश्रमाचरेत्' कहते हुए सन्निपातज शिरोरोग में मिश्र चिकित्सा का प्रयोग करने को कहा है। चरकाचार्य ने सन्निपातज शिरोरोग में रक्तमोक्षण करने को कहा है।

## ५. कृमिज शिरोरोग–

**क्रिमिजे चैव कर्तव्यं तीक्ष्णं मूर्धविरेचनम्।।** च. चि. २६/१८३b

कृमिज शिरोरोग में तीक्ष्ण द्रव्यों से सिरोविरेचन करना चाहिये।

अष्टाङ्गहृदयकार ने कृमिज शिरोरोग में रक्त से नस्य करने को कहा है। इससे कृमि मूर्च्छित होते है और रक्त के गंध से मत्त होकर नासिका व मुखद्वार बाहर निकलते है। तत्पश्चात् तीक्ष्ण नस्य व धूमप्रयोग से उन्हें बाहर निकाल देना चाहिये।

**कृमिजे शोणितं नस्यं तेन मूर्च्छन्ति जन्तवः।**
**मत्ताः शोणितगन्धेन निर्यान्ति घ्राणवक्त्रयोः।।** अ. हृ. उ. ११/१५
**सुतीक्ष्णनस्यधूमाभ्यां कुर्यान्निर्हरणं ततः।**

## ६. शिरोरोग में अग्निकर्म व रक्तमोक्षण—

**कफानिलोत्थिते दाहः शेषयो रक्तमोक्षणम्।** च. चि. २६/१८१b

वात और कफजन्य शिरोरोगों में दाह अर्थात् अग्निकर्म का प्रयोग करना चाहिये व उर्वरित अर्थात् पित्तज, कृमिज व सन्निपातज शिरोरोग में रक्तमोक्षण करना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने 'शिरोऽभितापे' पित्तोत्थे स्निग्धस्य व्यधयेच्छिराम्' ऐसा कहते हुए पित्तजन्य शिरोरोग में सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करने को कहा है लेकिन 'कृमिभिः पीतरक्तत्वाद्रक्तमत्र न निर्हरेत्' ऐसा कहते हुए कृमिज शिरोरोग में कृमियों द्वारा रक्त पीने के कारण रक्तमोक्षण का निषेध किया है।

## ७. शंखक रोग चिकित्सा—

**परं त्र्यहाज्जीवितं चेत् प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्।**
**शिरोविरेकसेकादि सर्वं वीसर्पनुच्च यत्।।** च. सि. ९/७३

शंखक रोग में तीन दिन बाद भी रोगी जीवित रहने पर रोग असाध्य है ऐसा कहते हुए शिरोविरेचन, सेक व विसर्प में वर्णित सभी चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये।

शंख प्रदेश में असहनीय पीडा होना यह इसका मुख्य लक्षण है। इस सूत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि इस रोग में तीन दिन के अंदर रोगी मृत्यु को प्राप्त होता है। यदि वह रोगी मृत्युमुख में प्रवेश न करता हो तो ही तीसरे दिन से चिकित्सा का प्रारंभ करना चाहिये। लेकिन यह चिकित्सा की दृष्टि से योग्य नहीं लगता। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी प्रत्याख्यान करते हुए अर्थात् रोग की असाध्यता को बताते हुए पित्तज शिरोरोग में वर्णित चिकित्सा का प्रयोग करने को कहा है। चक्रपाणी दत्त ने तीन दिन में मृत्यु यह शंखक रोग का प्रभाव बताया है।

## ८. सूर्यावर्त चिकित्सा–

**सूर्यावर्तः स तत्रस्यात् सर्पिरौत्तरभक्तिकम् ।**
**शिरःकायविरेकौ च मूर्ध्नात्रिस्नेहधारणम् ।**
**जाङ्गलैरुपनाहश्च घृतक्षीरैश्च सेचनम् ।।** च. सि. ९/८२

इस (सूर्यावर्त) रोग में भोजनोत्तर घृतपान, शिरोविरेचन अर्थात् नस्य, काय विरेचन अर्थात् पंचकर्मोक्त सविधि विरेचन, मूर्धास्थान पर स्नेह का धारण अर्थात् शिरोबस्ति का प्रयोग व जाङ्गल पशुपक्षियों के मांस से उपनाह, घृत और दूध का शिर: प्रदेश पर परिसेचन इनका प्रयोग करना चाहिये ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने सूर्यावर्त में नस्य का प्रयोग, लेप व सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करने को कहा है ।

## ९. अर्धावभेदक चिकित्सा–

**चतुस्नेहोत्तमा मात्रा शिरःकायविरेचनम् ।**
**नाडीस्वेदो घृतं जीर्णं बस्तिकर्मानुवासनम् ।।** च. सि. ९/७७
**उपनाहः शिरोबस्तिर्दहनं चात्र शस्यते ।**
**प्रतिश्याये शिरोरोगे यच्चोद्दिष्टं चिकित्सितम् ।।** च. सि. ९/७८

चारोस्नेहो का उत्तम मात्रा में सेवन, शिरोविरेचन तथा कायविरेचन का प्रयोग, नाडिस्वेद, जीर्ण घृत का पान, निरूह तथा अनुवासन बस्ति का प्रयोग, उपनाह का प्रयोग, शिरोबस्ति का प्रयोग, दाहकर्म अर्धावभेदक में प्रशस्त माना है । वैसे ही प्रतिश्याय व शिरोरोग में जो चिकित्सा बतायी है उसका प्रयोग करना चाहिये ।

यहां चतुर्विध स्नेह अर्थात घृत, तैल, वसा व मज्जा का उत्तम मात्रा में पान करने को कहा है । इसके साथ पुनः जीर्ण घृतपान का निर्देश इस रोग में घृत चिकित्सा का महत्व दर्शाता है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने अर्धाव भेदक में दोषप्रत्यनिक चिकित्सा पर जोर दिया है ।

## १०. अनन्तवात चिकित्सा–

**स्नेहस्वेदादि वातघ्नं शस्तं नस्यं च तर्पणम् ।** च. सि. ९/८७b

अनन्तवात में स्नेहन, स्वेदनादि वातघ्न कर्म व तर्पण नस्य को प्रशस्त माना है । इसी सूत्र में चरकाचार्य ने 'सोऽनन्तवातस्तं हन्यात् सिरार्कावर्तनाशनैः' ऐसा कहते हुए अनन्तवात में सिरावेद्वारा रक्तमोक्षण व सूर्यावर्त समान चिकित्सा करने को कहा है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने अनन्तवात रोग का वर्णन नहीं किया है । लेकिन चरकाचार्य ने इस रोग में शिरःकंप की जो अवस्था बतायी है उसकी चिकित्सा बतायी है ।

**वाताभितापविहितः कम्पे दाहाद्विना क्रमः** । अ. हृ. उ. २४/१९a

अर्थात् शिरःकंप पर अग्निकर्म तथा वातजशिरोरोगानुसार चिकित्सा करनी चाहिये ।

## ११. शिरोरोग में नस्य कर्म की प्रधानता–

**नस्यः कर्म च कुर्वीत शिरोरोगेषु शास्त्रविद् ।**
**द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद्व्याप्यहन्तितान् ।।** च. सि. ९/८८

शास्त्र को जाननेवाले वैद्य ने सभी प्रकार के शिरोरोगों में नस्य का प्रयोग करना चाहिए । नासिका सिर का द्वार है इसलिये नासिकाद्वारा प्रयुक्त औषधी शिरःप्रदेश में व्याप्त होकर शिरोरोग को नष्ट करती है ।

## १२. अन्य शिरोरोगों की चिकित्सा–

**खालित्ये पलिते वल्यां हरिलोम्नि च शोधितम् ।।** च. चि. २६/२६२
**नस्यैस्तैलैः शिरोवक्त्र प्रलेपैश्चाप्युपाचरेत् ।**

खालित्य अर्थात् बाल झडना, पालित्य अर्थात् बाल असमय सफेद होना, वली अर्थात् झुर्रियां पडना, हरिलोम अर्थात् बंदर के समान बालों का पीताभ होना इन रोगों में सर्वप्रथम रोगी को संशोधन कराकर तत्पश्चात् नस्य, तेल से शिरोभ्यङ्ग, मुखप्रलेप आदि द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ।

# मुखरोग

## १. मुखरोग चिकित्सा–

**धूमःप्रधमनं शुद्धिरधश्छर्दनलङ्घनम् ।।** च. चि. २६/१८७b
**भोज्यं च मुखरोगेषु यथास्वं दोषनुद्धितम् ।**

धूमपान, प्रधमन नस्य, अधःशुद्धि अर्थात् विरेचन, वमन, लंघन और तद्तद् दोषनाशक अन्नपान का सेवन मुखरोग में करना चाहिये ।

## २. तालुशोष चिकित्सा–

**तालुशोषे त्वतृष्णास्य सर्पिरौत्तर भक्तिकम् ।**
**नावनं मधुराः स्निग्धाः शीताश्चैव रसा हिताः ।।** च. चि. २६/२०३

तालुशोष रोग में यदि रोगी को प्यास न लगती हो तो भोजनोत्तर घृत का सेवन करना चाहिये । इस अवस्था में नस्य कर्म का प्रयोग तथा मधुर, स्निग्ध और शीतल मांस रसों का सेवन हितकर होता है ।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त कहते है, तालुशोषे इत्यादौ अतृष्णस्येतिपदेन तृष्णायुक्तस्य तालुशोषे औत्तरभक्तिकमपि सर्पि:पानं निषेधयति। अर्थात् तालुशोष में यदि रोगी को प्यास लगती हो तो घृतपान का निषेध है। वैसे भी तालुशोष में चरकाचार्य ने घृतपान का निषेध बताया है। लेकिन इस विशिष्ट अवस्था में घृतपान का प्रयोग करना चाहिये। अष्टाङ्ग हृदयकार ने चरकमत का अनुमोदन करते हुए तालुशोष में प्यास न लगने पर पिप्पली व शुंठी सिद्ध घृतपान करने को कहा है।

### ३. मुखपाक चिकित्सा–

**मुखपाके सिराकर्म शिर:कायविरेचनम्।**
**मूत्रतैल घृतक्षौद्र क्षीरैश्च कवलग्रहा:** ।। च. चि. २६/२०४

मुखपाक में सिरावेध, नस्य, विरेचन तथा मूत्र, तैल, घृत, मधु, दूध के कवल का मुख में धारण करना चाहिये।

सिराकर्मेति सिराव्यधनं; तच्च सुश्रुतवचनात् तालुनि जिव्हायां च कर्तव्यम्। चक्रपाणि। अर्थात् यहां सिराकर्म से सिराव्यधका ग्रहण करना चाहिये व तालु तथा जिव्हां स्थित सिराका वेध करना चाहिये।

## कर्णरोग व नेत्ररोग चिकित्सा

### १. कर्णशूल चिकित्सा–

**कर्णशूले तु वातघ्नी हिता पीनसवत् क्रिया।**
**प्रदेहा: पूरणं नस्यं पाकस्त्रावे व्रणक्रिया:** ।। च. चि. २६/२२१
**भोज्यानि च यथा दोषं कुर्यात् स्नेहांश्च पूरणान्।**

कर्णशूल में वातघ्न तथा पीनस-रोग में वर्णित चिकित्सा हितकर होती है। वैसे ही वातनाशक द्रव्यों से प्रदेह, कर्णपूरण तथा नस्य का प्रयोग करना चाहिये। यदि सपूय कर्णस्त्राव हो तो व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिये। कर्ण रोग के दोषों की प्रधानता को देखकर आहार द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये तथा स्नेह, तैल आदि से कर्णपूरण करना चाहिये।

अष्टाङ्गदयकार ने भी 'वातव्याधिप्रतिश्याय विहितं हितमत्र च' ऐसा कहते हुए कर्णशूल में वातव्याधी व प्रतिश्याय समान चिकित्सा करनी चाहिये ऐसा कहा है। वैसे ही वातज कर्णशूल में रात को मांसरस के साथ भोजन कर वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध घृतपान करने को कहा है। पित्तज व कफज कर्णशूल की चिकित्साका स्वतंत्र वर्णन किया है।

## २. नेत्ररोग चिकित्सा–

**उत्पन्नमात्रे तरुणे नेत्ररोगे विडालकः ।**
**कार्यो दाहोपदेहाश्रु शोफरागनिवारणः ।।** च. चि. २६/२३१

नूतन नेत्रोरोगों में विडालक का प्रयोग करना चाहिये जिसके प्रयोग से नेत्रदाह, उपदेह अर्थात् नेत्रमल की अधिकता, आंसूओं का गिरना, शोथ, लालिमा दूर होते हैं ।

विडालकः नेत्रबहिर्लेपः शालाक्ये उच्यते । नेत्र के बाहरी भाग में लगाये लेप को विडालक कहते है । इति चक्रपाणी । विडालको बहिर्लेपो नेत्रे पक्ष्म विवर्जिते ।

## ३. उर्ध्वजत्रुगत व्याधीकी सामान्य चिकित्सा–

**मुखकर्णाक्षिरोगेषु यथोक्तं पीनसे विधिम् ।**
**कुर्याद्भिषक् समीक्ष्यादौ दोषकालबलाबलम् ।।** च. चि. २६/२३०

वैद्य ने मुख, कर्ण व नेत्ररोग में दोष, काल व बलाबल का विचार कर पीनस रोग में वर्णित विधीनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ।

●

एकोनविंशोऽध्यायः

# विष-व्रण-गुल्म चिकित्सा

## विष चिकित्सा

### १. दंशविष में वेणिकाबन्ध इत्यादि–

**दंशात्तु विषं दष्टस्थाविसृतं वेणिकां भिषग्बद्ध्वा ।**
**निष्पीडयेद् भृशं दंशमुद्धरेन्मर्मवर्जं वा ।।** च. चि. २३/३८
**तं दंशंवा चूषेन्मुखेन यवचूर्णपांशुपूर्णेन ।**

जिसे दंश हुआ है उस पुरुष का विष सारे शरीर में न फैला हो तो वेणिका अर्थात् रस्सी आदि बांधकर हाथ से दबा दबाकर विष को बाहर निकालना चाहिये। अथवा दंशस्थान यदि मर्मस्थान न हो तो दंशस्थान को काटना चाहिये। अथवा जौ का आटा व धूल को मुख में रखकर दंशस्थान को चूसना चाहिये।

यह दंश के पश्चात् तत्काल करने के उपाय है और इसका उद्देश विषको शरीर मे फैलने से रोकना है। वाग्भटाचार्य के अनुसार यह क्रीया १०० मात्रा के अंदर-अंदर पूर्ण होनी चाहिये क्योंकि इसके बाद विष शरीर में फैलने लगता है। सुश्रुताचार्य ने भी दंशस्थान के चार अंगुल ऊपर रस्सी से बांधने को कहा है। ग्रामीण भाग में दंशस्थान से विष के आचूषण के लिये मुर्गी के गुदद्वार को दंशस्थल पर चिपकाया जाता है।

### २. रक्तमोक्षण–

**प्रच्छनशृङ्गजलौका व्यधनैः स्राव्यं ततो रक्तम् ।।** च. चि. २३/३९b
**रक्ते विषप्रदुष्टे दूष्येत् प्रकृतिस्ततस्त्यजेत् प्राणान् ।**
**तस्मात् प्रघर्षणैरसृगवर्तमानं प्रवर्त्यं स्यात् ।।** च. चि. २३/४०

(वेणिकाबंधन, आचूषण के पश्चात्), प्रच्छान कर्म, शृंग, जलौका व सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिये। रक्त विष से दूषित होने पर मनुष्य की प्रकृती को दुष्ट करता है जिसके परिणामस्वरूप रोगी की मृत्यु होती है। इसलिये उपर बताये विधि के अनुसार रक्तमोक्षण न हो तो प्रघर्षण द्वारा रक्त को निकालना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी मांसल भाग में प्रच्छान कर्म करके रक्त का निर्हरण

करने को कहा है । व विष यदि संपूर्ण शरीर में फैला हो तो सिरावेध करने को कहा है और यदि सिरा दृश्यमान नहीं है तो शृंग व जलौका का प्रयोग करने को कहा है ।

### ३. दंशस्थान छेदन का महत्व–

**तरुरिव मूलच्छेदाद्दंशच्छेदान्न वृद्धिमेति विषम् ।**
**आचूषणमानयनं जलस्य सेतुर्यथा तथाऽरिष्टाः ।।** च. चि. २३/४४

जिस प्रकार वृक्ष को मूल स्थान से काट देने पर वह नहीं बढता उसीप्रकार दंशस्थान का छेदन करने पर विष नहीं बढता । आचूषण से आगे बढता हुआ विषवेग दंशस्थान में चला आता है और अरिष्टबंधन से जिस प्रकार बांध से पानी रूकता है उसीप्रकार बढते हुए विष वेग रोके जाते है ।

### ४. विषवेग में दाह–

**त्वङ्मांसगतं दाहो दहतिविषं स्रावणं हरति रक्तात् ।**
**पीतं वमनैः सद्यो हरिद्विरेकैर्द्वितीये तु ।।** च. चि. २३/४५

यदि विष का वेग त्वचा व मांस तक ही पहुँचा हो तो दाहक्रीया व केवल रक्त में हो तो रक्तविस्रावण से विष का वेग नष्ट होता है । यदि विषपान किया हो तो वमन द्वारा विष को निकालना चाहिये व विष के द्वितीय वेग में विरेचन द्वारा विष को निकालना चाहिये ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने तप्त सुवर्ण अथवा लोह से अग्निकर्म करने को कहा है । लेकिन मण्डलि सर्प के दंश में वह पित्तकारक होने के कारण अग्निकर्म का निषेध बताया है । आमाशयस्थ विषको वमन द्वारा ही निर्हरण करना चाहिये । आजकल नली डालकर आमाशय धावन करने की पद्धती है । यह अवस्था विषपान में ही संभव है न की दंश में । अष्टाङ्ग हृदयकार ने सभी प्रकार के विष में सर्वप्रथम हृदय की रक्षा करने को कहा है ।

### ५. स्थानिक दोष चिकित्सा–

**मन्त्रैधर्मनीबन्धोऽवमार्जनं कार्यमात्मरक्षा च ।**
**दोषस्य विषं यस्य स्थाने स्यात्तं जयेत्पूर्वम ।।** च. चि. २३/६१

विषाक्त दंश होने पर (दंश स्थल के ऊपर) रक्तवाहिनी धमनी का बंधन मंत्रोद्वारा करना चाहिये तथा मंत्रो द्वारा ही आत्मरक्षा करनी चाहिये । जिस दोष के स्थान में विष व्याप्त हो उस स्थानस्थ दोष को सर्वप्रथम जीतना चाहिये । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी समंत्र रज्जुबंधन करने को कहा है ।

## ६. दोषस्थानानुसार विष चिकित्सा–

**वातस्थानेस्वेदोदध्ना नतकुष्ठकल्कपानं च ।**
**घृतमधुपयोऽम्बुपानावगाहसेकाश्च पित्तस्थे ।।** च. चि. २३/६२
**क्षारागदः कफस्थानगते स्वेदस्तथा सिराव्यधनम् ।**

यदि विष वातस्थान में हो तो सर्वप्रथम स्वेदन करना चाहिये । तत्पश्चात् तगर व कुष्ठ का कल्क दही में घोलकर पीना चाहिये । यदि विष पित्तस्थान में व्याप्त हो तो मधु, घृत, दूध व जल मिलाकर पीना चाहिये व अवगाह और परिषेक करना चाहिये । यदि विष कफस्थान में व्याप्त हो तो स्वेदन कर सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिये व तत्पश्चात् क्षारागद का प्रयोग करना चाहिये ।

इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रपाणी दत्त ने कहा है, "स्वेदो यद्यपि प्रतिषिद्धः स्वेदाध्याये, तथाऽप्यवस्थाविशेषे 'वातस्थाने' इत्यादिना विधीयते । स्वेदस्तु पेयादि भोजनादि विधान वदस्य प्रयोगाच्चतुर्विंशत्युपक्रमेषु नोक्तः, किंवा अग्निशब्देन स्वेदोऽपि गृह्यते, पेयादि चोपशमनशब्देनावश्यं बोद्धव्यम् । अर्थात् यद्यपि विष में स्वेदन का निषेध है तथापि यहां विशिष्ट अवस्था को देखते हुए उसका प्रयोग बताया है । वैसे विष की चौबीस प्रकार की चिकित्सा में स्वेदन का उल्लेख नहीं है लेकिन अग्निशब्द से स्वेदन का ग्रहण किया जा सकता है । व शमन से पेया आदि का ग्रहण किया जा सकता है ।

## ७. दूषीविष चिकित्सा–

**दूषीविषेऽथ रक्तास्थिते सिराकर्म पञ्चविधम् ।।**
**भेषजमेवकल्प्यं भिषग्विदाऽऽलक्ष्य सर्वदा सर्वम् ।**
**स्थानं जयेद्धि पूर्वं स्थानस्याविरूद्धं च ।।** च. चि. २३/६४

यदि दूषीविष रक्त में आश्रित हो गया हो तो पांच सिराओं का वेधन करना चाहिये । वैद्य ने हमेशा उक्त प्रकार से ही विष चिकित्सा में चिकित्सा करनी चाहिये जिससे स्थानस्थ विष नष्ट हो । लेकिन यह चिकित्सा स्थानस्थ दोष को बढाने वाली या विकृत करनेवाली न हो इसका भी ध्यान रखना चाहिये ।

यहां 'पञ्चविधम्' शब्द से पंचकर्म का भी ग्रहण किया जा सकता है । चक्रपाणी दत्त ने भी इस सूत्र के दोनों प्रकार के अर्थ बताये है ।

## ८. विष चिकित्सा में नस्य–

**नासाक्षिकर्णजिव्हाकण्ठनिरोधेषु कर्म नस्तः स्यात् ।**

यदि नासा, नेत्र, कर्ण, जिंव्हा और कंठ का विष प्रभाव से अवरोध हो रहा हो तो नस्यकर्म का प्रयोग करना चाहिये।

इस कार्य में चरकाचार्य ने बडी कंटकारी, बिजौरा निंबू व मालकांगनी का पीस कर प्रयोग करने के लिये कहा है जो मुख्यतः कफ निःसारक व संज्ञास्थापक है। वैसे ही विष का प्रभाव सिर्फ नेत्र में दिख रहा हो तो अंजन का प्रयोग करने को कहा है। विष के कारण कफ का मार्गावरोध होकर वायु रूकने पर सिर पर काकपद बनाकर उस पर औषधी कल्क लगाने व प्रधमन नस्य का प्रयोग करने को कहा है।

## ९. आमाशय व त्वक्‌गत विष चिकित्सा–

**आदावामाशयगे वमनं त्वक्स्थे प्रदेहसेकादि।**
**कुर्याद्भिषक् दोषबलं चैव हिसमीक्ष्य।।** च. चि. २३/१२२

यदि विष आमाशय में गया तो वमन व त्वक्‌गत हो तो विषनाशक प्रदेह और प्रसेक का प्रयोग करना चाहिये। तत्पश्चात् वैद्य ने दोषों के बल का विचार कर चिकित्सा करनी चाहिये।

## १०. विषदंश में दोष विपरीत चिकित्सा–

**यस्य यस्य हि दोषस्य लिङ्गाधिक्यानि लक्षयेत्।**
**तस्य तस्यौषधैःकुर्याद्विपरीत गुणैः क्रियाम्।।** च. चि. २३/१६६

विषाक्तं दंश में जिन-जिन दोषों के लक्षण अधिकता में दिखाई दें उन-उन दोषों के विपरीत गुणवाले औषधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

यह सामान्य चिकित्सा सत्र है। जब-जब दोषों की चिकित्सा का विचार किया जाता है तब-तब इस सूत्र को याद करना चाहिये।

## ११. वातज विष चिकित्सा–

**खण्डेन च व्रणालेपस्तैलाभ्यङ्गश्च वातिके।**
**स्वेदो नाडिपुलाकाधैर्बृहणश्च विधिर्हितः।।** च. चि. २३/१७०

वातज विष में दंशस्थान के ऊपर खण्ड का लेप वातनाशक तैलों से अभ्यङ्ग, नाडीशाक व पुलाकनामक तुच्छ धान से सेक व अन्य बृंहण चिकित्साओं का प्रयोग करना चाहिये।

गुड की भेली के अंदर जो कडा भाग रहता है उसे खण्ड कहते है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने वातज विष की चिकित्सा कुछ विस्तार से बतायी है।

**वातात्मकं जयेत्स्वादुस्निग्धाम्ललवणान्वितैः ।**
**सघृतैर्भोजनैर्लेपैस्तथैव पिशिताशनैः ।।** अ. हृ. उ. ३५/६८
**नाघृतं स्त्रंसनं शस्तं प्रलेपोभोज्यमौषधम् ।**

वातज विष में मधुर, स्निग्ध, अम्ल, लवण व घृतयुक्त आहार वैसे ही लेप व मांसाहार क' प्रयोग करना चाहिये । वातज विष की चिकित्सा में बिना घृत के विरेचन, लेप, अन्न व औषधी का प्रयोग योग्य नहीं रहता ।

## १२. पैत्तिक विष चिकित्सा–

**सुशीतैः स्तम्भयेत् सेकैः प्रदेहैश्चापि पैत्तिकम् ।** च. चि. २३/१७१a

पित्तज विष मे शीतल जल से परिषेक व प्रदेह द्वारा स्तम्भन क्रिया करनी चाहिये ।

चरकाचार्य ने विष रक्त से प्रसारित न हो इसलिये शीतल प्रदेह व परिषेक करने को कहा है । इससे विष का वेग शान्त होता है । च. चि. २३/४२ । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी प्रकार की चिकित्सा बतायी है ।

**पैत्तिकं स्त्रंसनैः सेक प्रदेहैर्भृशशीतलैः ।**
**कषाय तिक्त मधुरैर्घृतयुक्तैश्च भोजनैः ।।** अ. हृ. उ. ३५/६७

पित्तज विष में विरेचन, अत्यंत शीतल सेक व लेप तथा कषाय, तिक्त, मधुर व घृतयुक्त भोजन का प्रयोग करना चाहिये ।

## १३. कफज विष चिकित्सा–

**लेखनच्छेदनस्वेदवमनैः श्लैष्मिकं जयेत् ।** च. चि. २३/१७१

कफज विषको लेखन, छेदन, स्वेदन व वमन द्वारा जीतना चाहिए ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने कफज विष की चिकित्सा में लेखन व छेदन का उल्लेख नहीं किया है ।

**श्लैष्मिकं वमनैरूष्णरूक्षतीक्ष्णैः प्रलेपनैः ।**
**कषायकटुतिक्तैश्च भोजनैः शमयेद्विषम् ।।** अ. हृ. उ. ३५/६६

अर्थात् कफज विषमे वमन, उष्ण, रूक्ष व तीक्ष्ण लेप तथा कषाय कटु व तिक्त रस का भोजन खिलाकर कफज विष का शमन करना चाहिये ।

## १४. विष चिकित्सा में शीत क्रिया–

**विषेष्वपि च सर्वेषु सर्वस्थानगतेषु च ।**
**अवृश्चिकोच्चिटिङ्गेषु प्रायः शीतो विधिर्हितः ।।** च. चि. २३/१७२

वृश्चिक व झींगुर इन दोनों के विष को छोडकर अन्य सभी सर्वशरीरगत विषों में शीतल क्रीया करनी चाहिये।

विष उष्ण गुणयुक्त होते है और रक्तद्वारा शरीर में प्रसारित होते है इसलिये शीतक्रीया का विष चिकित्सा में महत्व है।

## १५. वृश्चिक दंश चिकित्सा–

**वृश्चिके स्वेदमभ्यङ्गं घृतेन लवणेन च।**
**सेकांश्चोष्णान् प्रयुञ्जीत भोज्यं पानं च सर्पिषः।।** च. चि. २३/१७३

वृश्चिक दंश में दंशस्थान पर स्वेदन, घृत व लवण सहित अभ्यङ्ग, उष्ण औषधियों से परिषेक व भोजन तथा पान में घी का प्रयोग करना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने वृश्चिक दंश की चिकित्सा का विस्तार से वर्णन किया है। उसे यथास्थल देखें।

## १६. झींगुर दंश चिकित्सा–

**एतदेवोचिटिङ्गेऽपि प्रतिलोमं च पांशुभिः।**
**उद्वर्तनं सुखाम्बूष्णैस्तथाऽवच्छादनं घनैः।।** च. चि. २३/१७४

झींगुर दंश की चिकित्सा भी वृश्चिक दंश समान करनी चाहिये। इसके अलावा धूल को गरम जल में सानकर बालों के विपरीत दिशा में लेप तथा गरम गाढे धूल से पट्टबंधन यह दो प्रयोग करने चाहिये।

## १७. हृदय तथा शिरोगत विष में शोधन–

**हृद्विदाहे प्रसेके वा विरेक वमनं भृशम्।**
**यथावस्थं प्रयोक्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः।।** च. चि. २३/१८०
**शिरोगते विषे नस्तः कुर्यान्मूलानि बुद्धिमान्।**

विष के प्रभाव से यदि हृदय में दाह व लालास्त्राव हो रहा हो तो रोगी की अवस्थानुसार तीक्ष्ण विरेचन व वमन का प्रयोग करना चाहिये। तत्पश्चात् संसर्जनक्रम का प्रयोग करना चाहिये। यदि विष शिरःप्रदेश में व्याप्त हो तो बुद्धिवान वैद्य ने नस्य का प्रयोग करना चाहिये।

## १८. काकपद द्वारा मांस प्रयोग–

**दक्षकाकमयूराणां मांसासृङ्मस्तके क्षते।**
**उपधेयमधोदष्टस्योर्ध्वदष्टस्य पादयोः।।** च. चि. २३/१८२

यदि शरीर के अधोभाग में विषैले जन्तु ने दंशकिया हो तो सिर पर तीक्ष्ण शस्त्र से काकपद बनाकर उस पर मुर्गा, कौवा या मोर का रक्त मिश्रित मांस रखना चाहिये। यदि शरीर के उर्ध्व भाग में दंश हो तो पांव पर काकपद बनाकर उस पर इन्हीं पक्षियों का मांस रखना चाहिये या बांध देना चाहिये।

चाकू से या तीक्ष्ण शस्त्र से काटकर कौवे के पांव के आकार का निशान बनाने को काकपद कहते है।

## १९. गर विष में वमन

**तमवेक्ष्य विषक् प्राज्ञः पृच्छेत् किं कः कदा सह।**
**जग्धमित्यवगम्याशु प्रदद्याद्वमनं भिषक्।।** च. चि. २३/२३८

विषलक्षणों से पीडित रूग्ण को बुद्धिमान वैद्य ने उसने किसके साथ कब और किस वस्तु का सेवन किया है इस प्रकार उसके भोजन आदि की जानकारी लेकर जब यह निश्चित हो जाय की उसने गर विष का सेवन किया है तब उसे शीघ्र ही वमन कराना चाहिये।

# व्रण चिकित्सा

## १. आगन्तुज व्रण चिकित्सा–

**व्रणानां निजहेतुनामागन्तूनामशाम्यताम्।**
**कुर्याद्दोषबलापेक्षी निजानामौषधं यथा।।** च. चि. २५/९

निज कारण वाले आगन्तुज व्रण यदि शान्त न हो तो दोष और बल का विचार करने वाले वैद्य ने निजव्रणो में प्रयुक्त औषधियों से उनकी चिकित्सा करनी चाहिये।

आगन्तुज व्रण जो बाह्य कारणों से उत्पन्न होते है, कुछ समय बाद दोषानुसार लक्षण दिखाने लगते है। ऐसी अवस्था में उनकी चिकित्सा निजव्रणों के समान करनी चाहिये। चक्रपाणी दत्त ने यदि आगन्तुज व्रण में मंत्र आदि से लाभ न होता हो उनकी चिकित्सा निजव्रण के समान करने को कहा है। सुश्रुताचार्य के अनुसार आगन्तुज या सद्य व्रण एक सप्ताह तक आगन्तुज माने जाने है। तत्पश्चात् उन्हें निज समझना चाहिये। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी मत को दोहराया है।

## २. वातज व्रण चिकित्सा–

**संपूरणैः स्नेहपानैः स्निग्धैः स्वेदोपनाहनैः।**
**प्रदेहैः परिषेकैश्च वातव्रणमुपाचरेत्।।** च. चि. २५/१२

संपूरण, स्नेहपान, स्निग्ध स्वेदन, उपनाह, प्रदेह, परिषेक इनके प्रयोग से वातज व्रण की चिकित्सा करनी चाहिये।

प्रदेहैः परिषेकैश्चेत्यत्र 'अस्निग्धैः' इत्यनुवर्तते । चक्रपाणी ।

## ३. पित्तज व्रण चिकित्सा–

**शीतलैर्मधुरैस्तिक्तैः प्रदेहपरिषेचनैः ।**
**सर्पिष्पानैर्विरेकैश्च पैत्तिकं शमयेत् व्रणम् ।।** च. चि. २५/१४

पित्तज व्रण के शमन के लिये शीतल, मधुर और तिक्त द्रव्यों से बनाये कल्क को प्रदेह, क्वाथ से परिषेचन, घृतपान व विरेचन का प्रयोग करना चाहिये ।

यह सामान्य पित्तशामक चिकित्सा है । पित्त के लक्षणविशेष को देखकर उसके अनुसार चिकित्सा निश्चित करना चाहिये ।

## ४. कफज व्रण चिकित्सा–

**कषायकटु रूक्षोष्णैः प्रदेहपरिषेचनैः ।**
**कफव्रणं प्रशमयेत्तथा लङ्घन पाचनैः ।।** च. चि. २५/१६

कफ व्रण में कषाय, कटु, रूक्ष, एवं उष्ण द्रव्यों के कल्क से प्रदेह इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ से परिषेचन तथा लंघन व पाचन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ।

## ५. व्रण में शोधन–

**व्रणानामादितःकार्यं यथासन्नं विशोधनम् ।**
**ऊर्ध्वभागैरधोभागैः शस्त्रैर्वस्तिभिरेव च ।।** च. चि. २५/३८

सभी प्रकार के व्रणों में सर्वप्रथम कुपित दोष को निकालने के लिये जो मार्ग समीप हो उसके द्वारा शोधन करना चाहिये । इसके लिये आवश्यकतानुसार वमन, विरेचन, बस्ति व शस्त्रकर्म इनका प्रयोग करना चाहिये ।

व्रण में दोषशोधन व व्रणशोधन के प्राधान्यको दर्शाने के लिये व्रण के छत्तीस उपक्रम बताने के पहले इन शोधन उपक्रमों का वर्णन किया है ऐसा चक्रपाणी दत्त ने कहा है ।

## ६. व्रणपूर्व रक्तमोक्षण–

**पूर्वरूपंभिषग्बुद्ध्वा व्रणानां शोफमादितः ।**
**रक्तावसेचनं कुर्यादजातव्रणशान्तये ।।** च. चि. २५/४४

वैद्य ने शोफ को व्रण का पूर्वरूप समझकर आगे होने वाले व्रण की शान्ति के लिये रक्तावसेचन करना चाहिये ।

शोफ में रक्त दुष्ट रहता है । यदि उसकी यथा समय चिकित्सा न हुई तो वह पक्व होकर व्रण उत्पन्न होता है । इसे रोकने के लिये रक्तमोक्षण यह सर्वोत्तम उपाय है ।

### ७. व्रण में शोधन, लङ्घन आदि–

**शोधयेद्बहुदोषांस्तु स्वल्पदोषान् विलङ्घयेत् ।**
**पूर्वं कषायसर्पिर्भिर्जयेद्वामारूतोत्तरान् ।।** च. चि. २५/४५

दोषाधिक्य वाले व्रण में सर्वप्रथम शोधन करना चाहिये । यदि दोषों की मात्रा कम हो तो लङ्घन का प्रयोग करना चाहिये । वातप्रधान व्रण में कषाय द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग कर सर्वप्रथम वायु को जीतना चाहिये ।

### ८. व्रण में पाटन क्रिया–

**स चेदेवमुपक्रान्तः शोफो न प्रशमं व्रजेत् ।**
**तस्योपनाहैः पक्वस्य पाटनं हितमुच्यते ।।** च. चि. २५/४९

पूर्वोक्त प्रलेप, प्रदेह आदि चिकित्सा के बाद भी यदि शोफ शान्त न हो तो उस पके हुए शोथ का उपनाह द्वारा पाटन करना चाहिये ।

### ९. पाटन कर्म–

**नाडीव्रणाः पक्वशोथास्तथा क्षतगुदोदरम् ।**
**अन्तःशल्याश्च ये शोफाः पाट्यास्तेतद्विधाश्च ये ।।** च. चि. २५/५६

नाडीव्रण, पक्वशोथ, क्षतोदर बद्धगुदोदर, जिसंमे शल्य हो ऐस शोफ व इस प्रकार के अन्य रोगों में पाटन क्रिया करनी चाहिये ।

इसी क्रिया को सुश्रुताचार्य ने भेदन कहा है और जिसके अन्दर पूय हो तथा बिना मुखवाला हो या खोखला अथवा गतिशील हो ऐसे व्रण में भेदन करने को कहा है ।

**अन्तः पूयेष्ववक्त्रेषु तथैवोत्सङ्गवत्स्वपि ।।** सु. चि. १/३४
**गतिमत्सु च रोगेषु भेदनं प्राप्तमुच्यते ।**

### १०. वेधन कर्म–

**दकोदराणिसंपक्वा गुल्मा ये ये च रक्तजाः ।**
**व्यध्याः शोणित रोगाश्च विसर्पपिडिकादयः ।।** च. चि. २५/५७

जलोदर, पक्व गुल्म, पक्व रक्तज गुल्म, रक्तज रोग तथा विसर्प व पीडिकामे व्यधन क्रिया करनी चाहिये ।

सुश्रुताचार्य ने 'रोगे व्यधनसाध्ये तु यथोद्देशं प्रमाणता' इतना ही कहा है । इसमें जलोदर, मूत्रवृद्धी आदी का नामोल्लेख टीकाकारों ने किया है ।

## ११. छेदन कर्म–

**उद्वृत्तान् स्थूलपर्यन्तानुत्सन्नान् कठिनान् व्रणान् ।**
**अर्शः प्रभृत्यधीमासं छेदयेनोपपादयेत् ।।** च. चि. २५/५८

जिन व्रणों का मुख उद्वृत्त हो, जिन पर मोटा चमडा आ गया हो, ऊपर उठे हुए हो, कठिन हो तथा अर्श आदि रोगों में अधिमांस में छेदन करना चहिये ।

सुश्रुताचार्य ने जिन व्रणों में पाक न हो अथवा अल्पपाक हो, कडा हो, तथा स्नायु के कोथ में छेदन करने को कहा है ।

**अपाकेषु तु रोगेषु कठिनेषु स्थिरेषु च ।।** सु. चि. १/३३
**स्नायुकोथादिषुतथा च्छेदनं प्राप्तमुच्यते ।**

## १२. लेखन कर्म–

**किलासानि सकुष्ठानि लिखेल्लेख्यानि बुद्धिमान् ।** च. चि. २५/५९a

बुद्धिमान वैद्य ने लेखन योग्य किलास व कुष्ठ में लेखनकर्म करना चाहिये । लेखनकर्म का वर्णन सुश्रुताचार्य ने व्यवस्थित व विस्तार से किया है । कठिन, स्थूल, गोल किनारेवाले, बार-बार फूटनेवाले, कडे एवं उन्नत मांसवाले व्रणों में सुश्रुताचार्य ने लेखन करने को कहा है ।

**कठिनान् स्थूल वृत्तौष्ठान् दीर्यमाणान् पुनः पुनः ।**
**कठिनोत्सन्नमांसांश्च लेखनेनाचरेद्भिषक् ।।** सु. चि. १/३८

किस प्रकार के व्रण में किस प्रकार का लेखनकर्म अपेक्षित है इसका भी वर्णन सुश्रुताचार्य ने किया है, उसे यथास्थल देखें ।

## १३. प्रच्छान कर्म–

**वातासृग्ग्रन्थिपीडकाः सकोठा रक्तमण्डलम् ।।** च. चि. २५/५९b
**कुष्ठान्यभिहतं चाङ्गं शोथाश्च प्रच्छयेद्भिषक् ।**

वातरक्त, ग्रंथी, पीडिका, कोठ, रक्तमंडल, कुष्ठ व जहां आघात लगा हो या शोथ हो ऐसे स्थान में वैद्य ने प्रच्छान कर्म करना चाहिये ।

सुश्रुताचार्य ने प्रच्छान कर्म को विस्रावण नाम दिया है । और कहा है की शोथयुक्त, कठिन, श्याव व अरुणवर्ण के, रक्त व वेदना से युक्त तथा विशाल मूल वाले ऊंचे नीचे व्रण में विस्रावण करना चाहिए ।

**सशोफे कठिनेश्यामे सरक्ते वेदनावति ।।**
**संरब्धे विषमेचापि व्रणे विस्रावणं हितम् ।**

## १४. सीवन कर्म–

**सीव्यं कुक्षुदराद्यं तु गंभीरं यद्विपाटितम् ।।** च. चि. २५/६०

कुक्षि, उदर आदि प्रदेशों में यदि गंभीर व्रण उत्पन्न हो अथवा जिन व्रणों में गहराई तक चीरा गया हो उनमे सीवन कर्म करना चाहिये ।

सुश्रुताचार्य ने जिसमें पाक नहीं है, जो मांस में स्थित है तथा जिनका मुख खुला है ऐसे व्रणों में सीवनकर्म करने को कहा है ।

## १५. पीडन कर्म–

**सूक्ष्माननाः कोषवन्तो ये व्रणास्तान्प्रपीडयेत् ।।**

जिनका मुख छोटा हो तथा जिन व्रणों में पूय संग्रह के लिये पोलास्थान बन गया हो ऐसे व्रणों में पीडन कर्म करना चाहिये ।

सुश्रुताचार्य ने पीडन कर्म के लिये व्रण पर लगे लेप को सूखने देने को कहा है और उसके लिये पीडन द्रव्य भी बताये है । जिससे पूय अपने आप बाहर निकलते रहता है । विशेष रूप से मर्मस्थानगत व्रणों में यह कर्म उपयोगी होता है ।

## १६. व्रण में संधान–

**लम्बानि व्रणमांसानि प्रलिप्य मधुसर्पिषा ।।** च. चि. २५/६५
**संदधीत समं वैद्यो बन्धनैश्चोपपादयेत् ।**

वैद्य ने लटके हुए व्रण मांस पर मधु और घृत का लेप लगाकर उसे यथास्थान समरूप में रखकर बन्धन करना चाहिये ।

## १७. अस्थि संधान–

**अस्थिभग्नं च्युतं सन्धिं संदधीत समं पुनः ।।** ६८b
**समेन सममङ्गे न कृत्वाऽन्येन विचक्षणः ।**
**स्थिरैः कवलिका बन्धैः कुशिकाभिश्च संस्थितम् ।।** च. चि. २५/६९
**पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैर्बध्नीयादचलं सुखम् ।**

विचक्षण चिकित्सकने अस्थिभंग या संधिच्युती में अन्य समान अङ्ग के साथ रखकर इस भग्न अस्थि या स्थानच्युत संधी को समरूप में रखकर सन्धान कर्म करना चाहिये । भग्न या च्युत स्थान पर रूई की गद्दी (कवलिका) देकर बंधन करना चाहिये । तत्पश्चात ऊपर कुशा रखकर उस अंग को स्थिर करना चाहिये । तत्पश्चात् घृत लिप्त पट्ट से अचल व सुखकर बन्धं बांधना चाहिये ।

संधि भग्न व च्युति की चिकित्सा सुश्रुताचार्य ने विस्तार से वर्णन की है। उसे यथास्थल देखें। सु. चि. ३

## १८. भङ्ग के उपद्रवों की चिकित्सा–

**विच्युताभिहताङ्गानां विसर्पादीनुपद्रवान्।** । च. चि. २५/७१
**उपाचरेद्यथाकालं कालज्ञः स्वाच्चिकित्सितात्।**

सन्धिच्युति अथवा अंग भंग की चिकित्सा करते समय यदि विसर्प आदि उपद्रव निर्माण हो तो कालज्ञ वैद्य ने अवस्था के अनुसार उसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

## १९. एषण कर्म–

**सूक्ष्माननना बहुस्रावाः कोषवन्तश्च ये व्रणाः।**
**न च मर्माश्रितास्तेषामेषणं हितमुच्यते।** । च. चि. २५/८०

जिन व्रणों का मुख सूक्ष्म हो जिससे अधिक स्राव निकलता हो और जिस व्रण में पूयकोष हो उनमें एषण कर्म करना चाहिये। सिर्फ वह व्रण मर्मस्थान पर नहीं होना चाहिये।

चरकाचार्य ने मांस प्रदेश में गंभीर व्रण होने पर लोहे की शलाका का व अन्य व्रणों में वृक्ष लता आदि के कोमल नाल का एषणार्थ प्रयोग करने को कहा है। सुश्रुताचार्य ने नाडीव्रण, शल्ययुक्त व्रण, उन्मार्गीव्रण तथा खोखले व्रण में एषण कर्म करने को कहा है।

## २०. व्रण में परिषेचन–

**द्विपञ्चमूलक्वथितेनाम्भसा पयसाऽथवा।**
**सर्पिषा व सतैलेन कोष्णेन परिषेचयेत्।** । च. चि. २५/७७

दशमूल के उष्ण क्वाथ से अथवा गरम दूध गरम तेल व घृत से शूल युक्त व्रण में परिषचेन करना चाहिये।

सुश्रुताचार्य ने भी दोषानुसार परिषेचन द्रव्य अलग-अलग बताये है। उसमें वातज, पित्तज, रक्तज, आगंतुज व कफज शोथ का अंतर्भाव किया है।

## २१. निम्न व्रण उपचार–

**स्तन्यानि जीवनीयानि बृंहणीयानि यानि च।**
**उत्सादनार्थं निम्नानां व्रणानां तानि कल्पयेत्।** । च. चि. २५/९९

स्तन्यगण, जीवनीय व बृंहणीय गण में वर्णित द्रव्यों का निम्न व्रणों को उत्सादन करने अर्थात् ऊपर उठाने के लिये प्रयोग करना चाहिये ।

## २२. व्रण में अग्निकर्म–

**रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु छिन्ने च्छेद्येऽधिमांसके ।**
**कफग्रन्थि गण्डेषु वातस्तम्भानिलार्तिषु ।।** च. चि. २५/१०१
**गूढपूयलसीकेषु गम्भीरेषु स्थिरेषु च ।**
**क्लिन्नेषु चाङ्गदेशेषु कर्माग्नेः संप्रशस्यते ।।** च. चि. २५/१०२

जिस स्थान से अत्यधिक रक्तस्राव हो रहा हो, जो अङ्ग कट गया हो, जो छेदन करने योग्य हो, अधिक मांस रोग में, ग्रंथिरोग में, गलगंड ने, वातवृद्धीजन्य स्तम्भ जहां हो उस जगह या वातजन्य वेदना जिस स्थान पर हो उस स्थान पर अग्निकर्म करना चाहिये । वैसे ही जिन व्रणों में पूय व लसिका अंदर छिपी हो, गंभीर व्रण में व स्थिर व्रण में तथा जो अंग में शून्यता हो वहां पर अग्निकर्म करना चाहिये ।

सुश्रुताचार्य ने मूत्र बहाने वाले, अश्मरीजन्य, तथा रक्त बहाने वाले तथा संपूर्ण रूप से कटी हुई सन्धियों के व्रण मे अग्नि कर्म करने को कहा है ।

**स्रवतोऽश्मभवान्मूत्रं ये चान्ये रक्तवाहिनः ।**
**निःशेषाच्छिन्नसन्धीश्चं साधयेदग्निकर्मणा ।।** च. चि. २५/८९

## २३. व्रण में धूपन–

**रूजः स्रावाश्च गंधाश्च कृमयश्च व्रणाश्रिताः ।**
**शैथिल्यं मार्दवं चापि धूपनेनोपशाम्यति ।।** च. चि. २५/१०९

व्रणों में धूपन करने से वेदना, स्राव व दुर्गन्धी नष्ट होती है । व्रणाश्रित कृमी भी नष्ट हो जाते है, व्रण की शिथिलता व मृदुताभी नष्ट हो जाती है ।

## २४. व्रण में धूपन–

**कठिनत्वं व्रणा यान्ति गन्धैः सारैश्च धूपिताः ।**
**सर्पिर्मज्जवसाधूपैः शैथिल्यं यान्ति हि व्रणाः ।।** च. चि. २५/१०८

यदि गन्ध व सार आदि से व्रण का धूपन किया जाय तो व्रण कठिन हो जाते है । कठिन व्रण को शिथिल करने के लिये घृत, मज्जा अथवा वसा द्वारा व्रण का धूपन करना चाहिये ।

## गुल्म

### १. वातज गुल्म चिकित्सासूत्र–

**स्नेहः स्वेदः सर्पिर्वस्तिश्चूर्णानि बृंहणं गुडिकाः ।**
**वमनविरेकौ मोक्षः क्षतजस्य च वातगुल्मवताम् ।।** च. चि. ५/१८३

स्नेहन, स्वेदन, घृतपान, बस्ति, चूर्ण, बृंहण गुटिका, वमन विरेचन व रक्त मोक्षण का प्रयोग वातज गुल्म में करना चाहिये ।

यह सभी मुख्यत: वातशामक चिकित्सा है । कुछ पाठ में बस्ति का उल्लेख नहीं है । चरकाचार्य ने स्वेहन स्वेदन सभी प्रकार के गुल्मों में बताया है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने वातज गुल्म में कफ और पित्त का प्रकोप न होते हुए अनुवासन व निरूह का प्रयोग करने को कहा है ।

### २. वातज गुल्म में स्नेह चिकित्सा–

**रुक्षव्यायामजं गुल्मं वातिकं तीव्रवेदनम् ।**
**बद्धविण्मारूतं स्नैहैरादितः समुपाचरेत् ।।** च. चि. ५/२१

रुक्ष आहार विहार एवं अधिक व्यायाम से उत्पन्न तीव्र वेदनायुक्त गुल्म मे तथा मल व अपाना वायु जिसमें रूक गयी हो ऐसे गुल्म में सर्वप्रथम स्नेहद्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ।

यहां स्नेह से चतुर्विध स्नेह का ग्रहण करना चाहिये । इसका प्रयोग औषधी अन्न आदि द्वारा आवश्यकतानुसार किया जाना चाहिये । रुक्ष गुण की वृद्धी से आतों में जो रूक्षता उत्पन्न होती है वह इससे कम होती है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी रूक्ष व शीत हेतु सेवन से उत्पन्न वातज गुल्म में, वायु का अवरोध, मलावरोध व तीव्र वेदना यह लक्षण होने पर तैलपान, बस्ति, अभ्यङ्ग, द्वारा तैल का प्रयोग करने को कहा है ।

**गुल्मं बद्धशकृद्वातं वातिकं तीव्रवेदनम् ।**
**रुक्षशीतोभ्दवं तैलैः साधयेद्वातरोगिकैः ।।** अ. हृ. चि. १४/१
**पानान्नान्वासनाभ्यङ्गैः स्निग्धस्य स्वेदमाचरेत् ।**

### ३. गुल्म में स्वेदन–

**भोजनाभ्यञ्जनैः पानैर्निरुहैः सानुवासनैः ।**
**स्निग्धस्य भिषजा स्वेदः कर्तव्यो गुल्मशान्तये ।।** च. चि. ५/२२

स्निग्ध भोजन, स्नेहाभ्यङ्ग, स्नेहपान, निरुह व अनुवासन बस्ति के बाद स्निग्ध हुए गुल्म से पीडित रोगी को वैद्य ने स्वेदन करना चाहिए जिससे गुल्म की शान्ति हो ।

स्नेहन पश्चात् स्वेदन वातशमन के लिये व श्रोतोविशोधन के लिए परमावश्यक है । स्वेदन की फलश्रृती बताते हुए चरकाचार्य ने कहा है की स्वेदन करने से स्रोतस मृदु होते है और वायु का शमन होता है । यह स्वेदन मलविबन्ध या बढे हुए पित्त, कफ द्वारा रुद्ध स्रोतसों को खोलकर गुल्म को नंष्ट करता है ।

**स्रोतसां मार्दवंकृत्वा जित्वा मारुत मुल्बणम् ।**
**भित्वा विबन्धं स्निग्धस्य स्वेदोगुल्ममपोहति ।।** च. चि. ५/२३

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसीका अनुमोदन किया है । चरकाचार्य ने वातज गुल्म में स्वेदाध्याय में बताए नाड़ी प्रस्तर और संकर स्वेद से स्वेदन करने को कहा है । च. चि. ५/९९

## ४. स्थानानुसार गुल्म चिकित्सा–

**स्नेहपानं हितं गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे ।**
**पक्वाशयगते बस्तिरुभयं जठराश्रये ।।** च. चि. ५/२४

नाभि के ऊपर के भाग में उत्पन्न गुल्म में स्नेहपान व पक्वाशयाश्रित गुल्म में बस्ति का प्रयोग करना चाहिये । यदि गुल्म संपूर्ण उदर प्रदेश में आश्रित हो तो स्नेहपान व बस्ति दोनों का प्रयोग करना चाहिये ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी सूत्र को दोहराया है । यह चिकित्सा स्थानानुसारी चिकित्सा है । इसका प्रयोग गुल्म के प्रकारानुसार जो चिकित्सा बतायी है उसके सहयोगी चिकित्सा के रूप में करना चाहिये ।

## ५. वातज गुल्म में बृंहण–

**दीप्तेऽग्नौ वातिके गुल्मे विबन्धेऽनिलवर्चसोः ।**
**बृंहणान्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि प्रयोजयेत् ।।** च. चि. ५/२५

वातज गुल्म में यदि अग्निदीप्त हो लेकिन वात और मल का विबन्ध हो तो स्निग्ध, उष्ण व बृंहण अन्नपान का सेवन करना चाहिये ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने स्निग्ध, व बृंहण अन्नपान के साथ-साथ पुनः पुनः स्नेहपान करने को कहा है ।

## ६. वातज गुल्म में चिकित्सा सातत्य–

**पुनः पुनः स्नेहपानं निरूहाः सानुवासनाः ।**

**प्रयोज्या वातगुल्मेषु कफपित्तानुरक्षिणा ।।** च. चि. ५/२६

वातज गुल्म में कफ व पित्त की रक्षा करते हुए पुनः पुनः स्नेहपान, निरूह व अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये । अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी सूत्र को दोहराया है ।

### ७. वातज गुल्म में वमन–

**वातगुल्मे कफोवृद्धो हत्वाऽग्निमरुचिं यदि ।**
**हृल्लासं गौरवं तन्द्रां जनयेदुल्लिखेत्तुतम् ।।** च. चि. ५/२९

वातज गुल्म में यदि कफ बढ गया हो और परिणामस्वरूप अरुचि, हृल्लास, गौरव, तंद्रा आदि लक्षण उत्पन्न कर रहा हो तो वमन का प्रयोग करना चाहिये ।

यहां वायु के साथ कफ बढा है और कफ वृद्धी के लक्षण भी दिखा रहा है । इस अवस्था में वमन द्वारा कफ का निर्हरण करना चाहिये । लेकिन वमन का थोडा भी अतियोग न होने दे । अथवा वायु की वृद्धी होगी । अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी सूत्र को दोहराया है ।

### ८. वातज गुल्म में वर्ति, गुटिका, चूर्ण का प्रयोग–

**शूलानाह विबन्धेषु गुल्मे वातकफोल्बणे ।**
**वर्तयो गुटिकाश्चूर्णं कफवातहरं हितम् ।।** च. चि. ५/३०

उदरशूल, आनाह, और मल विबन्ध यह लक्षण यदि वातकफजन्य गुल्म में दिख रहे हो तो कफ और वातका हरण करने के लिये वर्ति, गुटिका व चूर्णों का प्रयोग करना चाहिये ।

### ९. वातगुल्म में विरेचन–

**पित्तं वा यदि संवृद्धं संतापंवातगुल्मिनः ।**
**कुर्याद्विरेच्यः स भवेत् सस्नेहैरानुलोमिकः ।।** च. चि. ५/३१

यदि वातगुल्म के रोगी में पित्त वृद्ध होकर शरीर में संताप उत्पन्न कर रहा हो तो अनुलोम करने वाले स्नेहो का प्रयोग विरेचन के लिये करना चाहिये ।

पित्ते विरेचनीयः इस सूत्र के अनुसार इस अवस्था मे विरेचन का प्रयोग करना चाहिये । तीव्रविरेचन वातप्रकोपकारक होने से आनुलोमिक स्नेह द्वारा विरेचन देने को कहा है । आनुलोमिकैरिति वचनेन तीव्र विरेचनं वातकोपनं निषेधयति, इति चक्रपाणी । अष्टाङ्ग हृदयकार ने इस अवस्था में विरेचन निष्फल रहने पर रक्तमोक्षण का प्रयोग करने को कहा है ।

**१०. वातज गुल्म में बस्ति–**

**बस्तिकर्म परं विद्याद् गुल्मघ्नं तद्धिमारुतम् ।**
**स्वे स्थाने प्रथमं जित्वा सद्यो गुल्ममपोहति ।।** च. चि. ५/१००

बस्ति गुल्मरोग को जीतने में सर्वश्रेष्ठ है । बस्ति प्रयोग से स्वस्थान में कुपित वायु का शोधन होता है और गुल्म नष्ट होता है ।

बस्ति वातनाशक चिकित्सा में सर्वोत्तम है । गुल्म में वात की प्रधानता के कारण बस्ति चिकित्सा का महत्व है ।

**११. पित्तज गुल्म की सामान्य चिकित्सा–**

**सर्पिः सतिक्तसिद्ध क्षीरं प्रस्त्रंसनं निरूहाश्च ।**
**रक्तस्य चावसेचनमाश्वासनसंशमन योगाः ।।** च. चि. ५/१८४
**उपनाहनं सशस्त्रं पक्वस्याभ्यन्तरप्रभिन्नस्य ।**
**संशोधन संशमने पित्तप्रभवस्य गुल्मस्य ।।** च. चि. ५/१८५

पित्तज गुल्म में तिक्त घृत, तिक्त क्षीर, विरेचन, निरुह रक्तमोक्षण, आश्वासन, संशमन योग, का प्रयोग करना चाहिये । वैसे ही उपनाह, पक्व गुल्म में चीरा लगाना, अंदर फूटे हुये गुल्म में शोधन व शमन चिकित्सा का प्रयोग भी पित्तज गुल्म में किया जाता है ।

यहां पक्व और अपक्व दोनों प्रकार के पित्तज गुल्म की चिकित्सा संक्षेप में बतायी है । उसे विशिष्ट अवस्थानुसार प्रयोग में लाना चाहिये ।

**१२. पित्तज गुल्म में घृत व दुग्ध प्रयोग–**

**भिषगात्ययिकं बुद्ध्वा पित्तगुल्ममुपाचरेत् ।**
**वैरेचनिक सिद्धेन सर्पिषा तिक्तकेन वा ।।** च. चि. ५/११४

वैद्य ने पित्तज गुल्म को उपद्रवकारी मानकर तिक्तरसात्मक विरेचन द्रव्यों से सिद्ध घृत व दूध पिलाकर उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ।

यह पित्तज गुल्म की दोष प्रत्यनिक चिकित्सा है । इससे यह स्पष्ट है कि पित्तज गुल्म में तिक्त घृत व दुग्ध का प्रयोग सर्वप्रथम करना चाहिये । इसी सूत्र को दूसरे सूत्र में चरकाचार्य ने इस प्रकार कहा है ।

**पयसा वा सुखोष्णेन सतिक्तेन विरेचयेत् ।**
**भिषगग्निबलापेक्षी सर्पिषा तैल्वकेन वा ।।** च. चि. ५/३५

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी को दोहराया है ।

## १३. पित्तज गुल्म में लंघन–

**आमान्वये पित्तगुल्मे सामे वा कफवातिके ।**
**यवागूभिः खडैर्यूषैः संधुक्ष्योऽग्निर्विलङ्घिते ।।** च. चि. ५/१३५

पित्तज गुल्म में यदि आम का अथवा आम, कफ व वात का सम्बन्ध या अनुबंध हो तो सर्वप्रथम लंघन कराकर तत्पश्चात् यवागु व खडयूष द्वारा अग्नि को प्रज्वलित करना चाहिये ।

## १४. पित्तज गुल्म में स्त्रंसन इ.–

**स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्त्रंसनं हितम् ।**
**रूक्षोष्णेन तु संभूते सर्पिः प्रशमनं परम् ।।** च. चि. ५/३३

स्निग्ध एवं उष्ण द्रव्यों के सेवन से उत्पन्न पित्तज गुल्म में स्त्रंसन करना हितकारक होता है । यदि गुल्म की उत्पत्ती रूक्ष और उष्ण द्रव्यों के सेवन से हुई हो तो पित्तनाशक द्रव्यों से सिद्ध घृत का पान कराना चाहिये जिससे गुल्म शान्त हो जाय ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी 'स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्त्रंसनं हितम्' ऐसा कहते हुए चरकमत का अनुमोदन किया है ।

## १५. पित्तज गुल्म में बस्ति प्रयोग–

**पित्तं वा पित्तगुल्मं वा ज्ञात्वापक्वाशयस्थितम् ।**
**कालविन्निर्हरेत् सद्यः सतिक्तैः क्षीरबस्तिभिः ।।** च. चि. ५/३४

यदि पित्त अथवा पित्तज गुल्म पक्वाशयमे स्थित हो तो कालज्ञ वैद्य ने शीघ्र ही तिक्त द्रव्यों से सिद्ध दूध की बस्तियों का प्रयोग कर उस पित्त का निर्हरण करना चाहिये ।

यह तिक्तक्षीर बस्ति का प्रयोग है । आगे चरकाचार्य ने इसी को और विस्तार से कहा है ।

**ये च पित्तज्वरहराः सतिक्ताः क्षीरबस्तयः ।**
**हितास्ते पित्तगुल्मिभ्यो वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु ।।** च. चि. ५/१३२

अर्थात् ज्वर प्रकरण में पित्तज ज्वर में जिन क्षीर बस्तियों का वर्णन किया है और आगे सिद्धिस्थान में जिनका वर्णन है वे सभी बस्तियां पित्तज गुल्म में हितकारी होती है ।

**१६. पित्तज गुल्म में रक्तावसेचन–**

**तृष्णा ज्वर परीदाह शूलस्वेदाग्निमार्दवे ।**
**गुल्मिनामरूचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत् ।।** च. चि. ५/३६

प्यास, ज्वर, दाह, शूल, स्वेद, अग्निमांद्य व अरूची ये उपद्रव पित्तज गुल्म में हो तो रक्तमोक्षण कराना चाहिये ।

रक्तमोक्षण से गुल्म कैसे नष्ट होता है इसका भी वर्णन चरकाचार्य ने किया है । रक्तमोक्षण से गुल्म का मूल नष्ट होता है । गुल्म में विदाह नही हो पाता व गुल्म पक्वावस्था को प्राप्त नहीं होता । फलतः गुल्म नष्ट हो जाता है । चरकाचार्य ने रक्तावसेचन के पश्चात् मांसरस सेवन व घृतसेवन करने को कहा है ।

**१७. पित्तज गुल्म में शस्त्रकर्म–**

**रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलक्ष्य च ।**
**यदि गुल्मो विदह्येत शस्त्रं तत्र भिषग्जितम् ।।** च. चि. ५/३९

यदि रक्त व पित्त अत्यधिक बढ गया हो या समुचित चिकित्सा न होने के कारण गुल्म पाकावस्था को प्राप्त हो रहा हो तो इस अवस्था में शस्त्रकर्म करना चाहिये ।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने इस अवस्था में पित्तज विद्रधीसमान चिकित्सा करने को कहा है जिसमें शस्त्रकर्म का भी अंतर्भाव है ।

**रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलभ्यच ।**
**गुल्मे पाकोन्मुखे सर्वा पित्तविद्रधिवत्क्रिया ।।** अ. हृ. चि. १४/७३

**१८. कफज गुल्म की सामान्य चिकित्सा–**

**स्नेहः स्वेदो भेदो लङ्घनमुल्लेखनं विरेकश्च ।**
**सर्पिर्वस्तिर्गुटिकाश्चूर्णमरिष्टाश्च सक्षाराः ।।** च. चि. ५/१८६
**गुल्मस्यान्तेदाहः कफजस्याग्रेऽपनीतरक्तस्य ।**

स्नेहन, स्वेदन, भेदन, लङ्घन, वमन, विरेचन, घृतपान, बस्ति, गुटिका, चूर्ण, अरिष्ट, क्षार इनके प्रयोग से यदि कफगुल्म में लाभ दिखाई न दे तो अंत में रक्तमोक्षण व तत्पश्चात् दाहकर्म का प्रयोग करना चाहिये ।

**१९. कफज गुल्म में लंघन–**

**शीतलैर्गुरुभिः स्निग्धैगुल्मे जाते कफात्मके ।।** च.चि. ५/४८
**अवम्यस्याल्पकायाग्नेः कुर्याल्लङ्घन मादितः ।**

शीतल, गुरु एवं स्निग्ध आहार-विहार के अतिसेवन से उत्पन्न कफज गुल्म के रोगी में यदि वमन का निषेध हो, वह मन्दाग्नी से पीडित हो तो उसे सर्वप्रथम लंघन कराना चाहिये।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने सर्वप्रथम वमन देने को कहा है और जो वमन देने योग्य नहीं है उसे उपवास अर्थात् लंघन करने को कहा है।

**श्लेष्मजे वामयेत्पूर्वमवम्यमुपवासयेत्।** अ. हृ. चि. १४/७५

## २०. कफज गुल्म में वमन–

**मन्दोऽग्निर्वेदना मन्दा गुरूस्तिमितकोष्ठता।।** च. चि. ५/४९
**सोत्क्लेशा चारूचिर्यस्य स गुल्मी वमनोपगः।**

कफज गुल्म के रोगी में यदि अग्नि मंद हो, वेदना हो, कोष्ठभारी एवं जकडा हुआ हो, उत्क्लेश हो व भोजन में अरूची हो तो उसे वमनयोग्य समझना चाहिये।

इस अवस्था में साधारणतः दोष आमाशयाश्रित होते है। इसलिये उनका शोधन वमनद्वारा करना अपेक्षित है।

## २१. कफज गुल्म में उष्ण द्रव्य प्रयोग–

**उष्णैरेवोपचर्यश्च कृते वमन लङ्घने।।** च. चि. ५/५०
**योज्यश्चाहार संसर्गो भेषजैः कटुतिक्तकैः।**

वमन व लंघनोपरांत उष्ण द्रव्यों का प्रयोग आहार-विहार में करना चाहिये। वैसे ही लघु व तिक्त द्रव्यों के जल से सिद्ध आहार का सेवन करना चाहिये।

## २२. कफज गुल्म में विलयन–

**सानाहं सविबन्धं च गुल्मं कठिनमुन्नतम्।।** च. चि. ५/५१
**दृष्ट्वाऽऽदौ स्वेदयेद्युक्त्या स्विन्नं च विलयेभ्दिषक्।**

यदि रोगी में आनाह व विबन्ध हो तथा गुल्म कठिन व उन्नत अर्थात ऊपर उठा हुआ हो तो सर्वप्रथम युक्ति पूर्वक स्वेदन कर वैद्य ने गुल्म के विलयन का प्रयास करना चाहिये।

बांसकी नली, तल या अंगुठे से दबाना ही विलयन है। इसे ही कुछ लोग विम्लापन कहते है।

## २३. कफज गुल्म में क्षार तथा घृत प्रयोग–

**लङ्घनोल्लेखने स्वेदे कृतेऽग्नौ संप्रधुक्षिते।।** च. चि. ५/५२
**कफगुल्मी पिबेत्काले सक्षारकटुकं घृतम्।**

लंघन, वमन तथा स्वेदन के पश्चात् अग्नी प्रदीप्त होने पर कफज गुल्म के रोगी ने क्षार व कटु द्रव्यों से सिद्ध या मिश्रित घृत का पान करना चाहिये।

अष्टाङ्गहृदयकार ने निगूढ, उन्नत, स्तिमित, कठिन व स्थिर तथा आनाह से युक्त कफज गुल्म में विरेचन के पश्चात् क्षार व कटुद्रव्यों से युक्त घृत का पान करने को कहा है।

**निगूढं यदिवोन्नद्धं स्तिमितं कठिनं स्थिरम्।**
**आनाहादियुतं गुल्मं संशोध्यविनयेदनु॥** अ. हृ. चि. १४/७७
**घृतं सक्षार कुटकं पातव्यं कफगुल्मिनाम्।**

## २४. कफज गुल्म में बस्ति तथा विरेचन–

**स्थानादपसृतं ज्ञात्वा कफगुल्मं विरेचनैः॥** च. चि. ५/५३
**सस्नेहैर्वस्तिभिर्वाऽपि शोधयेद्दाशमूलिकैः।**

ऊपर बतायी चिकित्सा से कफज गुल्म अपने स्थान से विचलित हुआ समझकर विरेचन का प्रयोग करना चाहिये। अथवा दशमूल क्वाथ में स्नेह मिलाकर बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

चक्रपाणीनुसार यहां अपसृत से चलित ऐसा अर्थ लेना चाहिये व दाशमूलिकैः से सिद्धि स्थान अध्याय ३ में वर्णित दशमूल बस्ति समझना चाहिये। अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी चरकमत को दोहराया है।

**एवं च विसृतं स्थानात्कफगुल्मं विरेचनैः।**
**सस्नेहैर्बस्तिभिश्चैनं शोधयेद्दाशमूलिकैः॥** अ. हृ. चि. १४/८७

## २५. कफज गुल्म में आभ्यन्तर चिकित्सा–

**मन्देऽग्नावनिलेमूढे ज्ञात्वा सस्नेहमाशयम्॥** च. चि. ५/५४
**गुटिकाचूर्णनिर्यूहाः प्रयोज्याः कफगुल्मिनाम्।**

ऊपर वर्णित चिकित्सा से अग्नी वृद्ध हो जाने व वायु की अनुलोम गती स्थापित हो जाने पर कोष्ठ को स्निग्ध जानकर कफज गुल्म के रोगी में गुल्मनाशक गुटिका, चूर्ण एवं क्वाथ का प्रयोग करना चाहिये।

## २६. कफज गुल्म में अरिष्ट प्रयोग–

**मन्देऽग्नावरूचौ सात्म्ये मद्ये सस्नेहमश्नताम्॥** च. चि. ५/५९
**प्रयोज्यामार्गशुद्ध्यर्थमरिष्टाः कफगुल्मिनाम्।**

जिनका अग्निमंद हो, भोजन में अरूचि हो जिन्हें मद्य सात्म्य हो व जो स्निग्ध भोजन करते हो ऐसे कफज गुल्म के रोगियों मे उर्ध्व व अधोमार्ग की शुद्धी के लिये अरिष्टों का प्रयोग करना चाहिये ।

अष्टाङ्गहृदयकार इसी सूत्र को दोहराया है लेकिन अरिष्टों के साथ आसवोंका भी उल्लेख किया है ।

## २७. कफज गुल्म में क्षारकर्म इत्यादी–

**कृतमूलं महावास्तुं कठिनं स्तिमितं गुरूम् ।।** च. चि. ५/५५
**जयेत्कफकृतं गुल्मं क्षारारिष्टाग्निकर्मभिः ।**

जिस कफज गुल्म का मूलस्थान दृढ हो, जो अपने स्थान में गंभीर व विस्तृत हो, जो कठिन हो जकडाहट युक्त हो और भारी हो उस कफज गुल्म को क्षारकर्म, अरिष्ट पान व अग्निकर्म द्वारा जीतना चाहिये ।

क्षारकर्म व अग्निकर्म के लिये वैद्य ने दृष्टकर्मा व कृतकर्मा होना परमावश्यक है । जो वैद्य क्षार के गुण दोषों को, रोगी की प्रकृती को , बल को, काल को, गुल्म की स्थिरता को जानता हो उसी वैद्य ने क्षारकर्म करना चाहिये ऐसा चरकाचार्य ने कहा है । कफज गुल्म ने क्षार का प्रयोग गुल्म शान्त होने तक करना अपेक्षित है ।

## २८. कफज गुल्म में अग्निकर्म–

**लंघनोल्लेखनैस्वेदैः सर्पिष्पानैर्विरेचनैः ।।** च. चि. ५/६०
**बस्तिभिर्गुटिका चूर्णक्षारारिष्टगणैरपि ।**
**श्लैष्मिकः कृतमूलत्वाद्यस्य गुल्मो न शाम्यति ।।** च. चि. ५/६१
**तस्य दाहो हृते रक्ते शरलोहादि भिर्हितः ।**

लंघन, वमन, स्वेदन, घृतपान, विरेचन, बस्ति, गुटिका, चूर्ण, क्षार व अरिष्टों के सेवन से अपने विस्तृत आकार के कारण जो गुल्म शान्त न हो ऐसे कफज गुल्म में गुल्मस्थान से रक्तमोक्षण कर बाण या तप्तलोह से उसे दग्ध करना चाहिये । इसी सूत्र को अष्टाङ्ग हृदयकार ने दोहराया है ।

## २९. गुल्म में रक्तमोक्षण–

**गुल्मोयद्यनिलादीनां कृते सम्यग्भिषग्जिते ।**
**न प्रशाम्यति रक्तस्य सोऽवसेकात् प्रशाम्यति ।।** च. चि. ५/३२

गुल्म में वात आदि दोष समुचित चिकित्सा द्वारा नष्ट होने पर भी यदि गुल्मरोग

नष्ट न हुआ तो वह रक्तमोक्षण से अवश्य शान्त हो जाता है।

### ३०. सन्निपातज गुल्म–

**व्यामिश्र दोषे व्यामिश्र एष एव क्रियाक्रमः ।।** च. चि. ५/६४

गुल्म में मिश्रदोष होने पर मिश्र चिकित्सा करनी चाहिये।

### ३१. गुल्म चिकित्सा के सामान्य नियम–

**तेषां सन्निपातजमसाध्यं ज्ञात्वा नोपक्रमेत, एकदोषजे तु यथास्वमारम्भं प्रणयेत्, संसृष्टांस्तु साधारणेन कर्मणोपचरेत्; यच्चान्यदप्यविरूद्धं मन्येत तदवचारयेद्विभज्य गुरु लाघवमुपद्रवाणां समीक्ष्य, गुरुनुपद्रवांस्त्वरमाणश्चिकित्सेज्जघन्यमितरान्, त्वरमाणस्तु विशेषमनुपलभ्य गुल्मेष्वात्ययिके कर्मणि वातचिकित्सितं प्रणयेत् स्नेहस्वेदौवातहरौ, स्नेहोपसंहितं च मृदुविरेचनं, बस्तीश्च, अम्ललवणमधुरांश्च रसान् युक्तितोऽवचारयेत्, मारुते ह्युपशान्ते स्वल्पेनापि प्रयत्नेन शक्योऽन्योपि दोषो नियन्तुं गुल्मेष्विति ।।** च. नि. ३/१७

सन्निपातज गुल्म असाध्य है, उसकी चिकित्सा न करें। एकदोषज गुल्म में दोषानुसार चिकित्सा करें। द्वंद्वज में दोनों दोषों की साधारण चिकित्सा करें। उपद्रवों की गुरूता व लघुता को समझकर अविरूद्ध चिकित्सा करें। प्रधान उपद्रवों की चिकित्सा तत्काल करें लेकिन उससे अप्रधान दोष न बढें इसका ध्यान रखें। यदि उपद्रवों की गुरूता व लघुता का अंदाज न हो तो वायु की चिकित्सा करें। स्नेहन स्वेदन वातशामक है। स्नेहयुक्त मृदु विरेचन, बस्ति, अम्ल, लवण व मधुर रस इनका देशकाल मात्रानुसार प्रयोग करें। वायु के शान्त होने पर अन्य दोष भी अल्प प्रयत्न से शान्त होते है।

## लेखक परिचय

**वैद्य जयंत यशवंत देवपुजारी**

- बी.ए.एम.एस. - नागपूर विश्वविद्यालय
  पीएच्. डी. (कायचिकित्सा) - पुणे विश्वविद्यालय,
  फेलो इंस्टिट्यूट ऑफ इंडियन मेडीसीन - पुणे
- पीएच्. डी. मार्गदर्शक-
  १. तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ - पुणे
  २. कवि कुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय
  रामटेक, जिला नागपुर, महाराष्ट्र
- पुरस्कार व सन्मान-
  दो स्वर्ण पदक प्राप्त
  आयुर्वेद पत्रिका, नासिक की ओर से विचार प्रवर्तक लेख
  पुरस्कार २००३
  यंग आयुर्वेद साईंटिक्ट अवॉर्ड-इंटरनेशनल आयुर्वेद
  एसोसियेशन, पुणे २००२, धन्वन्तरी सन्मान - नागपूर - २००२
- लेखन -
  दो पुस्तकें, २० शोध निबंध व आयुर्वेद विषयक अनेक
  लेख प्रसिद्ध नियमित लेखक
- संशोधन-
  अनेक शोध प्रकल्पों में सहभाग
  सचिव- चरक आयुर्वेद रीसर्च फाउंडेशन, नागपूर
  रीसर्च कमिटी मेंबर-सेंट्रल इंडिया इंस्टिट्यूट ऑफ मेडिकल
  सायंसेस, नागपूर
  कार्यकारिणी सदस्य - स्पंदन हार्ट फाउण्डेशन - नागपूर

ISBN 81-86937-72-2

चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी